Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

। भगवानश्रीकुन्दकुन्द-कहानजैनशास्त्रमाला, पुष्प-१२४ ❀

ॐ

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित

अष्टप्राभृत

❀

भाषावचनिकार
पंडितवर श्री जयचन्द्रजी छाबड़ा
जयपुर (राजस्थान)

❀

भाषा परिवर्तनकर्ता
पं॰ श्री महेन्द्रकुमारजी जैन, काव्यतीर्थ
मदनगंज-किशनगढ़ (राजस्थान)

❀

: प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) पिन : ३६४२५०

प्राप्तिस्थान :
श्री दि॰ जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,

❀ ❀ ❀

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

छठवीं आवृत्ति
२००० प्रति

भादों वदि २, वि॰ सं॰ २०५२
८२ वीं बहिनश्री–शम्पाबेन–जन्मजयन्ति

कॉम्प्यूटर टाइप सेटिंग :
अरिहंत कॉम्प्यूटर ग्राफिक्स
सोनगढ़–३६४२५०

मुद्रक :
स्मृति ऑफसेट
सोनगढ़–३६४२५० : फोन ३८१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

परम पूज्य अध्यात्ममूर्ति सद्गुरूदेव श्री कानजीस्वामी

Thanks & Our Request

Shree AshtPahud (Hindi) has been typed into electronic form by Atmaarthis in India and USA whose motivation was to study this great shastra and in the process also make it available to the whole world.

These Atmaarthis have no desire for recognition and have requested that their names are not mentioned.

However, AtmaDharma.com wishes to thank these Atmaarthis for their efforts in making this shastra available to the whole world.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of the **Shree AshtPahud (Hindi)** is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if correctionshave been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version number	Date	Changes
003	5 February 2009	Corrected typing errors
002	19 June 2007	Corrected: a) Formatting errors in various gathas. b) Spelling errors
001	31 March 2007	First electronic version

ॐ

नमः श्रीपरमागमजिनश्रुतेभ्यः ।

प्रकाशकीय निवेदन

अध्यात्मश्रुतधर ऋषीश्वर श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा प्रणीत अध्यात्म रचनाओंमें श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकायसंग्रह, श्री नियमसार और श्री अष्टप्राभृत– यह पाँच परमागम प्रधान हैं। दर्शनप्राभृत, सूत्रप्राभृत, बोधप्राभृत, भाव –प्राभृत, मोक्षप्राभृत, लिंगप्राभृत, और शीलप्राभृत– यह आठ प्राभृतोंका समुच्चय नाम अष्टप्राभृत है। श्री समयसारादि पाँचों परमागम हमारे ट्रस्ट द्वारा (आद्य चार परमागम गुजराती एवं हिन्दी भाषामें तथा पाँचवाँ अष्टप्राभृत हिन्दी भाषामें) अनेक बार प्रकाशित हो चुके हैं। श्री समयसारादि चारों परमागमोंके सफल गुजराती गद्यपद्यानुवादक, गहरे आदर्श आत्मार्थी, पंडितरत्न श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत अष्टप्राभृतके– उक्त चारों परमागमोंके हरिगीत–पद्यानुवादोंके समान–मूलानुगामी, भाववाही एवं सुमधुर गुजराती पद्यानुवाद सह यह छठवां संकरण अध्यात्मिकविद्याप्रेमी जिज्ञासुओंके करकमलमें प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव अनुभूत होता है।

श्री कुन्दकुन्द–अध्यात्म–भारतीके परम भक्त, अध्यात्मयुगस्रष्टा, परमोपकारी पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामीने इस अष्टप्राभृत परमागम पर अनेक बार प्रवचनों द्वारा उसके गहन रहस्यों का उद्घाटन किया है। वास्तवमें इस शताब्दीमें अध्यात्मरुचि के नवयुगका प्रर्वतनकर मुमुक्षु समाज पर उन्होंनें असाधारण असीम उपकार किया है। इस भौतिक विषयविलासप्रचुर युगमें, भारतवर्ष एवं विदेषोंमें भी ज्ञान–वैराग्यभीने अध्यात्मतत्त्वके प्रचारका प्रबल आन्दोलन प्रवर्तमान है वह पूज्य गुरुदेवश्रीके चमत्कारी प्रभावनायोगका ही सुफल है।

अध्यात्मतीर्थ श्री सुवर्णपुरी (सोनगढ़) के श्री महावीर–कुन्दकुन्द दिगम्बरजैन परमागममन्दिरमें संगमरमर के धवल शिलापटों पर उत्कीर्ण अष्टप्राभृतकी मूल गाथाओं के आधार पर इस संस्करणको तैयार किया गया है। इसमें मदन गंज निवासी पं श्री महेन्द्रकुमारजी काव्यतीर्थ द्वारा, सहारनपुरके सेठ श्री जम्बुकुमारजी के शास्त्रभँडारसे प्राप्त पण्डित श्री जयचन्द्रजी छाबड़ाकृत भाषावचनिकाकी हस्तलिखित प्रतिके आधार से, जो भाषपरिर्वतन किया गया था वह दिया गया है। एवं पदटिप्पणमें आदरणीय विद्वद्रत्न श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह द्वारा रचित गुजराती पद्यानुवाद–जो कि सोनगढ़के श्री कहानगुरु–धर्मप्रभावनादर्शन (कुन्दकुन्द–प्रवचनमण्डप) में धवल संगमरमर–शिलापटों पर उत्कीर्ण उक्त पाँचों परमागमोंमें अनतर्भूत है–नागरी लिपिमें दिया गया है।

इस संस्करणका 'प्रूफ' संशोधन श्री मगनलालजी जैन ने तथा कॉम्प्यूटर टाइप–सेटिंग 'अरिहंत कॉम्प्यूटर ग्राफिक्स', तथा मुद्रणकार्य 'स्मृति ऑफसेट', सोनगढ़ने कर दिया है, तदर्थ उन दोनों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

आत्मार्थी जीव अति बहुमान पूर्वक सद्गुरुगमसे इस परमागमका अभ्यास करके उसके गहन भावोंका आत्मसात् करें और शास्त्रके तात्पर्यभूत वीतरागभावको प्राप्त करें– यही प्रशस्त कामना।

भाद्रपद कृष्णा २, वि॰ सं॰ २०५२
८२ वीं बहिनश्री–चम्पाबेन–जन्मजयन्ती

साहित्यप्रकाशनसमिति
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ़–३६४२५० (सोराष्ट्र)

卐

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव वनमें ताड़ पत्रके ऊपर शास्त्र रचते हुए ।

नमः सद्गुरवे ।

उपोद्घात

'अष्टप्राभृत'–सनातन दिगम्बर जैन आम्नायके निर्ग्रन्थ श्रमणोत्तम भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा प्रणीत दर्शनप्राभृत, सूत्रप्राभृत, बोधप्राभृत, भाव –प्राभृत, मोक्षप्राभृत, लिंगप्राभृत, और शीलप्राभृत–यह आठ प्राभृतोंका समूह–संसकरण है।

श्रमणभगवन्त ऋषीश्वर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवत्के प्रारम्भमें हो गये हैं। दिगम्बर जैन परंपरामें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं।।

यह श्लोक प्रत्येक दिगम्बर जैन, शास्त्राध्ययन प्रारम्भ करते समय, मंगलाचरण के रूप में बोलता है। यह सुप्रसिद्ध 'मंगल' का श्लोक भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी असाधारण महत्ता प्रसिद्ध करता है, क्योंकि उसमें सर्वज्ञ भगवान् श्री महावीर स्वामी एवं गणधर भगवान् श्री गौतमस्वामी के पश्चात् अनन्तर ही, उनका मंगल रूप में स्मरण किया गया है। दिगम्बर जैन साधु स्वयं को भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी परम्परा के कहलाने में अपना गौरव मानते हैं। भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवके शास्त्र साक्षात् गणधरदेवके वचन तुल्य ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकार आचार्य, मुनि एवं विद्वान् अपने किसी कथन को सिद्ध करने के लिये कुन्दकुन्दाचार्यदेवके शास्त्रोंका प्रमाण देते हैं और इसलिये वह कथन निर्विवाद ठहरता है। उनके पश्चात् लिखे गये ग्रन्थोंमें उनके शास्त्रों में से बहुत अवतरण लिये गये हैं। वि॰ सं॰ ६६० में होने वाले श्री देवसेनाचार्यवर अपने दर्शनसार ग्रन्थ में कहते हैं कि –

जइ पउमणंदिणाह सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति।।

–(महा विदेहक्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकरदेव) श्री सीमंधरस्वामीके पाससे (समवसरणमें जाकर) प्राप्त हुए दिव्य ज्ञानसे श्री पद्मनन्दिनाथने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने) यदि बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते? दूसरा एक उल्लेख कि जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यदेवको 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा गया है, सो इस प्रकार है।–'पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृध्रपिच्छाचार्य ये पाँच नाम से विभूषित, चार अंगुल ऊँचाई पर आकाश में गमन की जिनके ऋद्धि थी, पूर्वविदेहक्षेत्र में जाकर जिन्होंने सीमन्धरभगवानकी वन्दना की थी और उनके पाससे प्राप्त हुए श्रुतज्ञानसे जिन्होंने भारतवर्षके भव्य जीवोंको प्रतिबोध किया है ऐसे जो श्री जिनचन्द्रसूरी भट्टारकके पट्ट के आभरणरूप कलिकालसर्वज्ञ (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव) उनके द्वारा रचित इस षट्प्राभृतग्रन्थमें....मोक्षप्राभृतकी टीका समाप्त हुई।' भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी महत्ता सूचित करनेवाले ऐसे

अनेकानेक उल्लेख जैनसाहित्यमें उपलब्ध हैं। इससे सुप्रसिद्ध होता है कि सनातन दिगम्बर जैन आम्नायमें कलिकालसर्वज्ञ भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवका स्थान अद्वितीय है।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित अनेक शास्त्र हैं, उनमेंसे कतिपय अधुना उपलब्ध हैं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेवके श्रीमुखसे प्रवाहित श्रुतामृत की सरितामेंसे भरे गये वे अमृतभाजन अभी भी अनेक आत्मार्थीयोंको आत्मजीवन समर्पित करते हैं। उनके समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय संग्रह नामक तीन उत्तमोत्तम शास्त्र 'प्राभृतत्रय' कहे जाते हैं। यह प्राभृतत्रय एवं नियमसार तथा अष्टप्राभृत–यह पांच परमागमों में हजारों शास्त्रोंका सार आ जाता है। भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के पश्चात् लिखे गये अनेक ग्रन्थों के बीज इन परमागमोंमें निहित हैं ऐसा सूक्ष्म दृष्टि से अभ्यास करने पर ज्ञात होता है।

यह प्रकृत परमागम आठ प्राभृतोंका समुच्चय होने से वह 'अष्टप्राभृत' अभिधान से सुप्रसिद्ध है। उसमें प्रत्येक प्राभृतकी गाथासंख्या एवं उसका विषयनिर्देश निम्न प्रकार है।–

❋ 'दर्शनप्राभृत' में गाथा संख्या ३६ हैं। 'धर्म का मूल दर्शन (सम्यग्दर्शन) है–' 'दंसणमूलो धम्मो'–इस रहस्यगम्भीर महासूत्र से प्रारम्भ करके सम्यग्दर्शन की परम महिमा का इस प्राभृतशास्त्र में वर्णन किया गया है।

❋ 'सूत्रप्राभृत' में २७ गाथा हैं। इस प्राभृत में, जिनसूत्रानुसार आचारण जीवको हित रूप है और जिनसूत्रविरुद्ध आचारण अहितरूप है–यह संक्षेपमें बताया गया है, तथा जिनसूत्रकथित मुनिलिंगादि तीन लिंगोंका संक्षिप्त निरूपण है।

❋ 'चारित्रपाभृत' में ४५ गाथा हैं। उसमें, सम्यक्त्वचरणचारित्र और संयमचरणचारित्र के रूपमें चारित्रका वर्णन है। संयमचरणका देशसंयमचरण और सकलसंयमचरण–इस प्रकार दो भेदसे वर्णन करते हुए, श्रावकके बारह व्रत और मुनिराजके पंचेन्द्रियसंवर, पांच महाव्रत, प्रत्येक महाव्रतकी पाँच–पाँच भावना, पाँच समिति इत्यादिका निर्देश किया गया है।

❋ 'बोधप्राभृत' में ६२ गाथा हैं। आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त और प्रव्रज्या–इन ग्यारह विषयोंका इस प्राभृतमें संक्षिप्त कथन है। 'भावश्रमण हैं सो आयतन हैं, चैत्यगृह हैं, जिनप्रतिमा हैं'–ऐसे वर्णन विशेषात्मक एक विशिष्ट प्रकार से आयतनादि कतिपय विषयोंका इसमें (जिनोक्त) विशिष्ट निरूपण है। जिनोपदिष्ट प्रव्रज्याका सम्यक् वर्णन १७ गाथाओंके द्वारा अति सुन्दर किया गया है।

जासके मुखारविन्दतें प्रकाश भासवृन्द, स्यादवाद जैन वैन इन्दु कुन्दकुन्दसे।
तासके अभ्यासतें विकाश भेदज्ञान होत, मूढ़ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्दसे।।
देत है अशीस शीस नाय इन्दु चन्द जाहि, मोह–मार–खण्ड मारतंड कुन्दकुन्दसे।
विशुद्धिबुद्धिवृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा हुए न, है, न होहिंगे, मुनिंद कुन्दकुन्दसे।।

–कविवर वृन्दावनदासजी

❋ 'भावप्राभृत' में १६५ गाथा हैं। अनादिकालसे चतुर्गतिमें परिभ्रमण करते हुए, जीव जो अनन्त दुःख सहन कर रहा है उसका हृदयस्पर्शी वर्णन इस प्राभृत में किया गया है; और उन दुःखोंसे छूटनेके लिये शुद्ध भावरूप परिणमन कर भावलिङ्गी मुनि दशा प्रगट किये बिना अन्य कोई उपाय नहीं है ऐसा विशदतासे वर्णन किया है। उसके लिये (दुःखों से छूटने के लिये) शुद्धभावशून्य द्रव्यमुनिलिङ्ग अकार्यकारी है यह स्पष्टतया बताया गया है। यह प्राभृत अति वैराग्य प्रेरक और भाववाही है एवं शुद्धभाव प्रगट करने वाले सम्यक् पुरुषार्थके प्रति जीव को सचेत करने वाला है ।

❋ 'मोक्षप्राभृत' में १०६ गाथा हैं। इस प्राभृत में मोक्षका–परमात्मपदका–अति संक्षेपमें निर्देश करके, पश्चात् वह (–मोक्ष) प्राप्त करनेका उपाय क्या है उसका वर्णन मुख्यतया किया गया है। स्वद्रव्यरत जीव मुक्ता होता है–यह, इस प्राभृतका केन्द्रवर्ती सिद्धान्त है।

❋ 'लिंगप्राभृत' में २२ गाथा हैं। जो जीव मुनिका बाह्यलिंग धारण करके अति भ्रष्टाचारीरूपसे आचरण करता है, उसका अति निकृष्टपना एवं निन्द्यपना इस प्राभृत में बताया है।

❋ 'शीलप्राभृत' में ४० गाथा हैं। ज्ञान विना (सम्यग्ज्ञान विना) जो कभी नहीं होता ऐसे शीलके (–स्त्शीलके) तत्वज्ञानगम्भीर सुमधुर गुणगान इस प्राभृत में जिनकथन अनुसार गाये गये हैं।

–इस प्रकार भगवन् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत 'अष्टप्राभृत' परमागमका संक्षिप्त विषय परिचय है।

अहो! जयवंत वर्तो वे सातिशयप्रतिभासम्पन्न भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कि जिन्होंने महातत्त्वोंसे भरे हुए इन परमागमोंकी असाधारण रचना करके भव्य जीवों पर महान उपकार किया है। वस्तुतः इस काल में यह परमागम शास्त्र मुमुक्षु भव्य जीवों को परम आधार हैं। ऐसे दुःषम काल में भी ऐसे अद्भुत अनन्य–शरणभूत शास्त्र–तीर्थंकर देवके मुखारविन्दसे विनिर्गत अमृत–विद्यमान हैं वह हमारा महान भाग्य है। पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के शब्दों में कहें तो–

'भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के यह पाँचों ही परमागम आगमों के भी आगम हैं; लाखों शास्त्रोंका निचोड़ इनमें भरा हुआ है, जैन शासनका यह स्तम्भ है; साधककी यह कामधेनु हैं, कल्पवृक्ष हैं। चौदहपूर्वोंका रहस्य इनमें समाविष्ट है। इनकी प्रत्येक गाथा छठवें–सातवें गुणस्थानमें झूलते हुए महामुनि के आत्म अनुभव में से निकली हुई है। इन परमागमोंके प्रणेता भगवन् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्रमें सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमन्धर–भगवानके समवशरणमें गये थे और वे वहाँ आठ दिन रहें थे सो बात यथातथ है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाणसिद्ध है, उसमें लेशमात्र भी शंकाको स्थान नहीं है। उन परमोपकारी आचार्यभगवानके रचे हुए इन परमागमोंमें श्री तीर्थंकरदेवके निरक्षर ऊँकार दिव्यध्वनिसे निकला हुआ ही उपदेश है।'

अन्तमें, –यह अष्टप्राभृत परमागम भव्य जीवोंको जिनदेव द्वारा प्ररूपित आत्म शान्तिका मार्ग बताता है। जब तक इस परमागमके परम गम्भीर और सूक्ष्म भाव यथार्थतया हृदयगत न हो तब तक दिनरात वही मन्थन, वही पुरुषार्थ कर्तव्य है। इस परमागम का जो कोई भव्य जीव आदर सह अभ्यास करेगा, श्रवण करेगा, पठन करेगा, प्रसिद्ध करेगा, वह अविनाशी स्वरूपमय, अनेक प्रकारकी विचित्रतावाले, केवल एक ज्ञानात्मक भावको उपलब्ध कर अग्र पदमें मुक्तिश्री का वरण करेगा।

('पंच परमागम' के उपोद्घात से संकलित।)

वैशाख शुक्ला २, वि॰ सं॰ २०५२
१०६ वीं कहानगुरु जन्मजयन्ती

साहित्यप्रकाशनसमिति,
श्री दि॰ जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़–३६४२५० (सौराष्ट्र)

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. दर्शनपाहुड	
भाषाकार कृत मंगलाचरण, देष भाषा लिखने की प्रतिज्ञा	१
भाषा वचनिका बनानेका प्रयोजन तथा लघुताके साथ प्रतिज्ञा व मंगल	२
कुन्दकुन्दस्वामि कृत भगवान को नमस्कार, तथा दर्शनमार्ग लिखने की सूचना	३
धर्म की जड़ सम्यग्दर्शन है, उसके बिना वन्दन की पात्रता भी नहीं	३
भाषावचनिका कृत दर्शन तथा धर्मका स्वरूप	४
दर्शन के भेद तथा भेदोंका विवेचन	५–६
दर्शन के उद्‌बोधक चिन्ह	७
सम्यक्त्वके आठ गुण, और आठ गुणोंका प्रशमादि चिन्होंमें अन्तर्भाव	९
सुदेव–गुरु तथा सम्यक्त्वके आठ अंग	१०–१३
सम्यग्दर्शनके बिना बाह्य चारित्र मोक्ष का कारण नहीं	१४
सम्यक्त्वके बिना ज्ञान तथा तप भी कार्यकारी नहीं	१६
सम्यक्त्वके बिना सर्व ही निष्फल है तथा उसके सद्‌भावमें सर्व ही सफल है	१६
कर्मरज नाशक सम्यग्दर्शनकी शक्ति जल–प्रवाहके समान है	१७
जो दर्शनादित्रयमें भ्रष्ट हैं वे कैसे हैं	१७
भ्रष्ट पुरुष ही आप भ्रष्ट होकर धर्मधारकोंके निंदक होते हैं	१८
जो जिनदर्शनके भ्रष्ट हैं वे मुलेस ही भ्रष्ट हैं और वे सिद्धोंको भी प्राप्त नहीं कर सकते	१९
जिनदर्शन ही मोक्षमार्गका प्रधान साधक रूप मूल है	१९
दर्शन भ्रष्ट होकर भी दर्शन धारकोंसे अपनी विनय चाहते हैं वे दुर्गतिके पात्र हैं	२०
लज्जादिके भयसे दर्शन भ्रष्टका विनय करे वह भी उसीके समान (भ्रष्ट) हैं	२१
दर्शनकी (मतकी) मूर्ति कहाँ पर कैसे है	२२
कल्याण अकल्याणका निश्चयायक सम्यग्दर्शन ही है	२३
कल्याण अकल्याण के जानने का फल	२३
जिन वचन ही सम्यक्त्वके कारण होने से दुःख के नाशक हैं	२४
जिनागमोक्त दर्शन (मत) के भेषोंका वर्णन	२५
सम्यग्दृष्टिका लक्षण	२५
निश्चय व्यवहार भेदात्मक सम्यक्त्व का स्वरूप	२६
रत्नत्रयमें भी मोक्षसोपानकी प्रथम श्रेणी (पेड़ि) सम्यग्दर्शन ही है अतएव श्रेष्ठ रत्न है तथा धारण करने योग्य है	२७
विशेष न हो सके तो जिनोक्त पदार्थ श्रद्धान ही करना चाहिये क्योंकि वह जिनोक्त सम्यक्त्व है	२७
जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, इन पंचात्मकतारूप हैं वे वंदना योग्य हैं तथा गुणधारकोंके गुणानुवाद रूप हैं	२८
यथाजात दिगम्बर स्वरूपको देखकर मत्सर भावसे जो विनयादि नहीं करता है वह मिथ्यादृष्टि है	२९
वंदन नहीं करने योग्य कौन है?	३०
वंदना करने योग्य कौन ?	३१

विषय	पृष्ठ
मोक्षमें कारण क्या है ?	३३
गुणोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठपना	३३
ज्ञानादि गुणचतुष्ककी प्राप्ति में ही निस्संदेह जीव सिद्ध है	३४
सुरासुरवंद्य अमूल्य रत्न सम्यग्दर्शन ही हे	३४
सम्यक्दर्शन का महात्म्य	३५
स्थावर प्रतिमा अथवा केवल ज्ञानस्थ अवस्था	३६
जंगम प्रतिमा अथवा कर्म देहादि नाशके अनन्तर निवारण प्राप्ति	३७

२. सूत्र पाहुड

सूत्रस्थ प्रमाणीकता तथा उपादेयता	३९
भव्य (त्व) फल प्राप्तिमें ही सूत्र मार्ग की उपादेयता	४०
देशभाषाकानिर्दिष्ट अन्य ग्रन्थानुसार आचार्य परम्परा	४०
द्वादशांग तथा अंग बाह्य श्रुत का वर्णन	४१–४५
दृष्टांत द्वारा भवनाशकसूत्रज्ञानप्राप्तिका वर्णन	४६
सूत्रस्थ पदार्थोंका वर्णन और उसका जाननेवाला सम्यग्दृष्टि	४७
व्यवहार परमार्थ भेदद्वयरूप सूत्रका ज्ञाता मलका नाश कर सुख को पाता है	४८
टीका द्वारा निश्चय व्यवहार नयवर्णित व्यवहार परमार्थसूत्र का कथन	४९–५२
सूत्रके अर्थ व पदसे भ्रष्ट है वह मिथ्यादृष्टि है	५२
हरिहरतुल्य भी जो जिन सूत्रसे विमुख हैं उसकी सिद्धि नहीं	५३
उत्कृष्ट शक्तिधारक संघनायक मुनि भी यदि जिनसूत्रसे विमुख हैं तो वह मिथ्यादृष्टि ही है	५४
जिनसूत्रमें प्रतिपादित ऐसा मोक्षमार्ग अन्य अमार्ग	५४
सर्वारंभ परिग्रहसे विरक्त हुआ जिनसूत्रकथित संयमधारक सुरासुरादिकर वंदनीक है	५५
अनेक शक्तिसहित परीषहों से जीतनेवाले ही कर्मका क्षय तथा निर्जरा करते हैं वे वंदन करने योग्य हैं	५६
इच्छाकार करने योग्य कौन ?	५६
इच्छाकार योग्य श्रावकका स्वरूप	५७
अन्य अनेक धर्माचरण होनेपर भी इच्छाकारके अर्थसे अज्ञ है उसको भी सिद्धि नहीं	५७
इच्छाकार विषयक दृढ़ उपदेश	५८
जिनसूत्रके जाननेवाले मुनियोंका वर्णन	५८
यथाजातरूपतामें अल्पपरिग्रह ग्रहणसे भी क्या दोष होता है उसका कथन	५९
जिनसूत्रोक्त मुनि अवस्था परिग्रह रहित ही है परिग्रहसत्ता में निंद्य है	६१
प्रथम वेष मुनि का है तथा जिन प्रवचन में ऐसे मुनि वंदना योग्य हैं	६२
दूसरा उत्कृष्ट वेष श्रावकका है	६२
तीसरा वेष स्त्रीका है	६३
वस्त्र धारकों के मोक्ष नहीं, चाहे वह तीर्थंकर भी क्यों न हो, मोक्ष नग्न (दिगम्बर) अवस्था में ही है	६४
स्त्रियोंके नग्न दिगम्बर दीक्षा के अवरोधक कारण	६४

विषय	पृष्ठ
स्त्रियोंके ध्यान की सिद्धि भी नहीं	६५
जिन सूत्रोक्त मार्गानुगामी ग्राह्यपदार्थों में से भी अल्प प्रमाण ग्रहण करते हैं तथा जो सर्व इच्छाओंसे रहित हैं वे सर्व दुःख रहित हैं	६६

३. चारित्रपाहुड

नमस्कृति तथा चारित्र पाहुड लिखने की प्रतिज्ञा	६८
सम्यग्दर्शनादित्रयका अर्थ	७०
ज्ञानादिभावत्रयकी शुद्धिके अर्थ दो प्रकार का चारित्र	७०
चारित्रके सम्यक्त्व–चरण संयम–चरण भेद	७१
सम्यक्त्व–चरण के शंकादिमलों के त्याग निमित्त उपदेश	७१
अष्ट अंगोंके नाम	७४
निःशंकित आदि अष्टगुणविशुद्ध जिनसम्यक्त्वका आचरण सम्यक्त्व चरण चारित्र है और वह मोक्ष के स्थान के लिये है	७५
सम्यक्त्वचरण चारित्रसे भ्रष्ट संयम चरणधारी भी मोक्षको नहीं प्राप्त करता	७६
सम्यक्त्वचरण के चिह्न	७६
सम्यक्त्व त्याग के चिह्न तथा कुदर्शनोंके नाम	७८
उत्साह भावनादि होने पर सम्यक्त्वका त्याग नहीं हो सकता है	७९
मिथ्यात्वादित्रय त्यागने का उपदेश	७९
मिथ्यामार्ग में प्रवर्तानेवाले दोष	८०
चारित्र दोष को मार्जन करने वाले गुण	८१
मोह रहित दर्शनादित्रय मोक्षके कारण हैं	८२
संक्षेपतासे सम्यक्त्वका महात्म्य, गुणश्रेणी निर्जरा सम्यक्त्वचरण चारित्र	८३
संयम चरण के भेद और भेदों का संक्षेपता से वर्णन	८४
सागारसंयम चरणके ११ स्थान अर्थात् ग्यारह प्रतिमा	८४
सागार संयम चरण का कथन	८४
पंच अणुव्रतका स्वरूप	८६
तीन गुणव्रतका स्वरूप	८७
शिक्षाव्रत के चार भेद	८८
यतिधर्मप्रतिपादनकी प्रतिज्ञा	८८
यतिधर्म की सामग्री	८९
पंचेन्द्रियसंवरणका स्वरूप	८९
पांच व्रतों का स्वरूप	९०
पंचव्रतोंको महाव्रत संज्ञा किस कारण से है	९०
अहिंसाव्रत की पांच भावना	९१
सत्यव्रत की पांच भावना	९२
अचौर्यव्रत की भावना	९२
ब्रह्मचर्य की भावना	९३
अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावना	९४

विषय	पृष्ठ
संयमशुद्धिकी कारण पंच समिति	९४
ज्ञानका लक्षण तथा आत्मा ही ज्ञान स्वरूप है	९५
मोक्षमार्गस्वरूप ज्ञानी का लक्षण	९६
परमश्रद्धापूर्वक रत्नत्रयका ज्ञाता ही मोक्षका भागी है	९६
निश्चय चारित्ररूप ज्ञानके धारक सिद्ध होते हैं	९७
इष्ट–अनिष्टके साधक गुणदोषका ज्ञान ज्ञानसे ही होता है सम्यग्ज्ञान सहित चारित्रका धारक शीघ्र ही अनुपम सुखको प्राप्त होता है	९८
संक्षेपता से चारित्रका कथन	९९
चारित्र पाहुडकी भावना का फल तथा भावना का उपदेश	९९

४. बोधपाहुड

आचार्यकी स्तुति और ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा	१०१
आयतन आदि ११ स्थलोंके नाम	१०२
आयतनत्रयका लक्षण	१०३
टीकाकारकृत आयतनका अर्थ तथा इनसे विपरीत अन्यमत–स्वीकृतका निषेध	१०४
चैत्यगृहका कथन	१०५
जंगमथावर रूप जिनप्रतिमाका निरूपण	१०७
दर्शनका स्वरूप	१०९
जिनबिम्बका निरूपण	१११
जिनमुद्राका स्वरूप	११२
ज्ञानका निरूपण	११३
दृष्टान्त द्वारा ज्ञानका दृढ़ीकरण	११४
विनयसंयुक्तज्ञानीके मोक्ष की प्राप्ति होती है	११४
मतिज्ञानादि द्वारा मोक्षलक्ष्य सिद्धिमें बाण आदि दृष्टान्तका कथन	११५
देवका स्वरूप	११६
धर्म, दीक्षा और देवका स्वरूप	११६
तीर्थका स्वरूप	११७
अरहंतका स्वरूप	११८
नामकी प्रधानतासे गुणों द्वारा अरहंतका कथन	१२०
दोषोंके अभाव द्वारा ज्ञानमूर्ति अरहंतका कथन	१२१
गुणस्थानादि पंच प्रकारसे अरहंतकी स्थापना पंच प्रकार है	१२२
गुणस्थानस्थापनासे अरहंतका निरूपण	१२२
मार्गणा द्वारा अरहंतका निरूपण	१२३
पर्याप्तिद्वारा अरहंतका कथन	१२४
प्राणों द्वारा अरहंतका कथन	१२५
जीव स्थान द्वारा अरहंतका निरूपण	१२५
द्रव्यकी प्रधानतासे अरहंतका निरूपण	१२६
भावकी प्रधानता से अरहंतका निरूपण	१२७

अरहंत के भावका विशेष विवेचन १२८
प्रवज्या (दीक्षा) कैसे स्थान पर निर्वाहित होती है तथा उसका धारक पात्र कैसा होता है ? १३१
सम्यक्त्व सहित चारित्र धारक स्त्री शुद्ध है पाप रहित है ६५
दीक्षाका अंतरंग स्वरूप तथा दीक्षा विषय विशेष कथन १३२–१३६
दिक्षा का बाह्यस्वरूप, तथा विशेष कथन १३६
प्रवज्याका संक्षिप्त कथन १३७–१४२
बोधपाहुड (षट्जीवहितकर) का संक्षिप्त कथन १४२
सर्वज्ञ प्रणीत तथा पूर्वाचार्यपरंपरागत–अर्थका प्रतिपादन १४२–१४६
भद्रबाहुश्रुतकेवलीके शिष्यने किया है ऐसा कथन १४६
श्रुतकेवली भद्रबाहुकी स्तुति १४७

५० भावपाहुड

जिनसिद्धसाधुवंदन तथा भावपाहुड कहने की सूचना १४९
द्रव्यभावरूपलिंगमें गुण दोषोंका उत्पादक भावलिंग ही परमार्थ है १५०
बाह्यपरिग्रहका त्याग भी अंतरंग परिग्रहके त्यागमें ही सफल है १५२
करोडों भव तप करने पर भी भावके बिना सिद्धि नहीं १५२
भावके बिना (अशुद्ध परिणतिमें) बाह्य त्याग कार्यकारी नहीं १५३
मोक्षमार्ग में प्रधानभाव ही है, अन्य अनेक लिंग धारने से सिद्धि नही १५४
अनादि काल से अनंतानंत संसार में भावरहित बाह्यलिंग अनंतबार छोड़े तथा ग्रहण किये हैं १५४
भावके बिना सांसारिक अनेक दुखोंको प्राप्त हुआ है, इसलिये जिनोक्त भावना की भावना करो १५५
नरकगति के दुःखोंका वर्णन १५५
तिर्यंच गति के दुःखोंका वर्णन १५६
मनुष्य गति के दुःखोंका वर्णन १५७
देवगति के दुःखोंका वर्णन १५७
द्रव्यलिंगी कंदर्पी आदि पांच अशुभ भावनाके निमित्तसे नीच देव होता है १५८
कुभावनारूप भाव कारणोंसे अनेकबार अनंतकाल पार्श्वस्थ भावना भाकर दुःखी हुआ १५९
हीन देव होकर महर्द्धिक देवोंकी विभूति देखकर मानसिक दुःख हुआ १५९
मदमत्त अशुभभावनायुक्त अनेक बार कुदेव हुआ १६०
गर्भजन्य दुःखोंका वर्णन १६१
जन्म धारणकर अनंतानंत बार इतनी माताओंका दूध पीया कि जिसकी तुलना समुद्र जल से भी अधिक है १६१
अनंतबार मरण से माताओंके अश्रुओंकी तुलना समुद्र जल से अधिक है १६२
अनंत जन्म के नख तथा केशोंकी राशि भी मेरू से अधिक है १६२
जल थल आदि अनेक तीन भुवनके स्थानोंमें बहुत बार निवास किया १६३
जगतके समस्त पुद्गलोंको अनन्तबार भोगा तो भी तृप्ति नहीं हुई १६३

विषय	पृष्ठ
तीन भुवन संबन्धी समस्त जल पिया तो भी प्यास शांत न हुई	१६४
अनंत भव सागरमें अनेक शरीर धारण किये जिनका कि प्रमाण भी नहीं	१६४
विषादि द्वारा मरण कर अनेकबार अपमृत्युजन्य तीव्र दुःख पाये	१६५
निगोद के दुःखोंका वर्णन	१६६
क्षुद्र भवोंका कथन	१६७
रत्नत्रय धारण करनेका उपदेश	१६८
रत्नत्रयका सामान्य लक्षण	१६८
जन्ममरण नाशक सुमरण का उपदेश	१६९
टीकाकर वर्णित १७ सुमरणोंसे भेद तथा सर्व लक्षण	१६९–१७२
द्रव्य श्रमण का त्रिलोकी में ऐसा कोई भी परमाणुमात्र क्षेत्र नहीं जहाँ की जन्म मरण को प्राप्त नहीं हुआ। भावलिंग के बिना बाह्य जिनलिंग प्राप्तिमें भी अनंतकाल दुःख सहे	१७२
पुद्गलकी प्रधानतासे भ्रमण	१७४
क्षेत्रकी प्रधानतासे भ्रमण और शरीरके राग प्रमाणकी अपेक्षासे दुःखका वर्णन	१७४
अपवित्र गर्भ–निवासकी अपेक्षा दुःख का वर्णन	१७६
बाल्य अवस्था संबंधी वर्णन	१७७
शरीरसम्बन्धी अशुत्विका विचार	१७७
कुटुम्बसे छूटना वास्तविक छूटना नहीं, किन्तु भावसे छूटना ही वास्तविक छूटना है	१७८
मुनि बाहुबलीजी के समान भावशुद्धिके बिना बहुत काल पर्यंत सिद्धि नहीं हुई	१७९
मुनि पिंगलका उदाहरण तथा टीकाकार वर्णित कथा	१७९
वशिष्ट मुनिका उदाहरण और कथा	१८१
भावके बिना चौरासी योनियोंमें भ्रमण	१८२
बाहु मुनिका दृष्टांत और कथा	१८४
द्वीपायन मुनिका उदाहरण और कथा	१८५
भावशुद्धिकी सिद्धिमें शिवकुमार मुनिका दृष्टांत तथा कथा	१८६
भावशुद्धि बिना विद्वत्ता भी कार्यकारी नहीं उसमें उदाहरण अभव्यसेन मुनि	१८७
विद्वत्ता बिना भी भावशुद्धि कार्यकारिणी है उसका दृष्टांत शिवभूती तथा शिवभूतीकी कथा	१८७
नग्नत्वकी सार्थकता भावसे ही है	१८८
भावके बिना कोरा नग्नत्व कार्यकारी नहीं	१८९
भावलिंग का लक्षण	१८९
भावलिंगी के परिणामोंका वर्णन	१९०
मोक्षकी इच्छामें भावशुद्ध आत्मा का चिंतवन	१९२
आत्म–चिंतवन भी निजभाव सहित कार्यकारी है	१९२
सर्वज्ञ प्रतिपादित जीवका स्वरूप	१९३
जिसने जीवका अस्तित्व अंगीकार किया है उसीके सिद्धि है	१९४
जीवका स्वरूप वचनगम्य न होनेपर भी अनुभवगम्य है	१९४
पंचप्रकार ज्ञानभी भावनाका फल है	१९५

विषय	पृष्ठ
भाव बिना पठन श्रवण कार्यकारी नहीं	१९६
बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो, तो तिर्यंच आदि सभी नग्न हैं	१९६
भाव बिना केवल नग्नपना निष्फल ही है	१९७
पाप मलिन कोरा नग्न मुनि अपयश का ही पात्र है	१९८
भावलिंगी होनेका उपदेश	१९८
भावरहित कोरा नग्न मुनि निर्गुण निष्फल	१९९
जिनोक्त समाधि बोधी द्रव्यलिंगी के नहीं	१९९
भावलिंग धारण कर द्रव्यलिंग धारण करना ही मार्ग है	२००
शुद्धभाव मोक्षका कारण अशुद्धभाव संसार का कारण	२०१
भावके फलका महात्म्य	२०१
भावोंके भेद और उनके लक्षण	२०२
जिनशासन का महात्म्य	२०३
दर्शनविशुद्धि आदि भावशुद्धि तीर्थंकर प्रकृति के भी कारण हैं	२०३
विशुद्धि निमित्त आचरणका उपदेश	२०४
जिनलिंग का स्वरूप	२०५
जिनधर्म की महिमा	२०६
प्रवृत्ति निवृत्तिरूप धर्मका कथन, पुण्य धर्म नहीं है, धर्म क्या है?	२०७
पुण्य प्रधानताकर भोगका निमित्त है। कर्मक्षय का नहीं	२०८
मोक्षका कारण आत्मीक स्वभावरूप धर्म ही है	२०८
आत्मीक शुद्ध परिणति के बिना अन्य समस्त पुण्य परिणति सिद्धि से रहित है	२०९
आत्मस्वरूपका श्रद्धान तथा ज्ञान मोक्षका साधक है ऐसा उपदेश	२०९
बाह्य हिंसादि क्रिया बिना सिर्फ अशुद्ध भाव भी सप्तम नरक का कारण है उसमें उदाहरण–तंदुल मत्स्यकी कथा	२१०
भाव बिना बाह्य परिग्रहका त्याग निष्फल है	२११
भाव शुद्धि निमित्तक उपदेश	२१२
भाव शुद्धिका फल	२१३
भाव शुद्धिके निमित्त परिषहों के जीतने का उपदेश	२१४
परीषह विजेता उपसर्गों से विचलित नहीं होता उसमें दृष्टांत	२१४
भावशुद्धि निमित्त भावनाओं का उपदेश	२१५
भावशुद्धि में ज्ञानाभ्यास का उपदेश	२१६
भावशुद्धिके निमित्त ब्रह्मचर्य के आरम्भका कथन	२१६
भावसहित चार आराधनाको प्राप्त करता है, भावसहित संसार में भ्रमण करता है	२१७
भाव तथा द्रव्यके फल का विशेष	२१८
अशुद्ध भाव से ही दोष दुषित आहार किया, फिर उसी से दुर्गतिके दुःख सहे	२१८
सचित्त त्याग का उपदेश	२१९
पंचप्रकार विनय पालन का उपदेश	२२०
वैयावृत्य का उपदेश	२२१

विषय	पृष्ठ
लगे हुए दोषोंको गुरुके सन्मुख प्रकाशित करने का उपदेश	२२२
क्षमा का उपदेश	२२२
क्षमाका फल	२२३
क्षमा के द्वारा पूर्व संचित क्रोधके नाशका उपदेश	२२४
दीक्षाकाल आदि की भावना का उपदेश	२२४
भावशुद्धिपूर्वक ही चार प्रकार का बाह्य लिंग कार्यकारी है	२२५
भाव बिना आहारादि चार संज्ञाके परवश होकर अनादिकाल संसार भ्रमण होता है	२२६
भावशुद्धिपूर्वक बाह्य उत्तर गुणोंकी प्रवृत्तिका उपदेश	२२६
तत्त्व की भावना का उपदेश	२२७
तत्त्व भावना बिना मोक्ष नहीं	२२९
पापपुण्यरूप बंध तथा मोक्षका कारण भाव ही है	२३०
पाप बंध के कारणों का कथन	२३०
पुण्य बंध के कारणों का कथन	२३१
भावना सामान्यका कथन	२३२
उत्तर भेद सहित शीलव्रत भानेका उपदेश	२३३
टीकाकर द्वारा वर्णित शीलके अठारह हजार भेद तथा चौरासीलाख उत्तर गुणों का वर्णन, गुणस्थानों की परिपाटी	२३३–२३६
धर्मध्यान शुक्लध्यानके धारण तथा आर्त्तरौद्रके त्याग का उपदेश	२३६
भवनाशक ध्यान भावश्रमण के ही है	२३७
ध्यान स्थिति में दृष्टांत	२३८
पंचगुरुके ध्यावने का उपदेश	२३८
ज्ञानपूर्वक भावना मोक्षका कारण	२३९
भावलिंगी के संसार परिभ्रमण का अभाव होता है	२४०
भाव धारण करनेका उपदेश तथा भावलिंगी उत्तमोत्तम पद तथा उत्तमोत्तम सुख को प्राप्त करता है	२४१
भावश्रमण को नमस्कार	२४२
देवादि ऋद्धि भी भावश्रमण को मोहित नहीं करतीं तो फिर अन्य संसार के सुख क्या मोहित कर सकते हैं	२४२
जब तक जरारोगादि का आक्रमण न हो तब तक आत्मकल्याण करो	२४४
अहिंसा धर्मका उपदेश	२४४
चार प्रकार के मिथ्यात्वियोंके भेदोंका वर्णन	२४६
अभव्य विषयक कथन	२४८
मिथ्यात्व दुर्गति का निमित्त है	२५०
तीन सौ त्रैसठ प्रकारके पाखंडियोंके मत को छुड़ानेका और जिनमत में प्रवृत्त करने का उपदेश है	२५१
सम्यग्दर्शनके बिना जीव चलते हुए मुर्दे के समान है, अपूज्य है	२५२
सम्यक्त्व की उत्कृष्टता	२५२

विषय	पृष्ठ
सम्यग्दर्शन सहित लिंग की प्रशंसा	२५३
दर्शन रत्नके धारण करने का आदेश	२५४
असाधारण धर्मों द्वारा जीवका विशेष वर्णन	२५४–२५६
जिनभावना–परिणत जीव घातिकर्मका नाश करता है	२५६
घातिकर्म का नाश अनंत चतुष्टय का कारण है	२५७
कर्म रहित आत्मा ही परमात्मा है, उसके कुछ एक नाम	२५८
देवसे उत्तम बोधि की प्रार्थना	२५९
जो भक्ति भावसे अरहंतको नमस्कार करते हैं वे शीघ्र ही संसार बेलिका नाश करते हैं	२६०
जलस्थित कमलपत्रके समान सम्यग्दृष्टि विषयकषायों से अलिप्त हैं	२६०
भावलिंगी विशिष्ट द्रव्यलिंगी मुनि कोरा द्रव्य लिंगी है और श्रावक से भी नीचा है	२६१
धीर वीर कौन?	२६२
धन्य कौन?	२६२
मुनि महिमा का वर्णन	२६३
मुनि सामर्थ्य का वर्णन	२६३
मूलोत्तर–गुण–सहित मुनि जिनमत आकाशमें तारागण सहित पूर्ण चंद्र समान है	२६४
विशुद्ध भाव के धारक ही तीर्थंकर चक्री आदि के पद तथा सुख प्राप्त करते हैं	२६५
विशुद्ध भाव धारक ही मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं	२६५
शुद्धभाव निमित्त आचार्य कृत सिद्ध परमेष्ठी की प्रार्थना	२६६
चार पुरुषार्थ तथा अन्य व्यापार सर्व भाव में ही परिस्थिति हैं, ऐसा संक्षिप्त वर्णन	२६७
भाव प्राभृत के पढ़ने सुनने मनन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा उपदेश तथा पं॰ जयचंदजी कृत ग्रन्थ का देश भाषा में सार	२६७–२७०

६॰ मोक्षपाहुड

मंगल निमित्त देव को नमस्कार	२७१
देव नमस्कृति पूर्वक मोक्ष पाहुड लिखने की प्रतिज्ञा	२७२
परमात्मा के ज्ञाता योगी को मोक्ष प्राप्ति	२७२
आत्मा के तीन भेद	२७३
आत्मत्रयका स्वरूप	२७४
परमात्माका विशेष स्वरूप	२७४
बहिरात्मा को छोड़कर परमात्मा को ध्याने का उपदेश	२७५
बहिरात्मा का विशेष कथन	२७६
मोक्ष की प्राप्ति किसके है	२७८
बंधमोक्षके कारण का कथन	२७९
कैसा हुआ मुनि कर्म का नाश करता है	२७९
कैसा हुआ कर्म का बंध करता है	२८०
सुगति और दुर्गति के कारण	२८१
परद्रव्य का कथन	२८१
स्वद्रव्यका कथन	२८२

विषय	पृष्ठ
निर्वाण की प्राप्ति किस द्रव्य के ध्यान से होती है	२८२
जो मोक्ष प्राप्त कर सकता है उसे स्वर्ग प्राप्ति सुलभ है	२८३
इसमें दृष्टांत	२८४
स्वर्ग मोक्ष के कारण	२८५
परमात्मस्वरूप प्राप्ति के कारण और उस विषय का दृष्टांत	२८५
दृष्टांत द्वारा श्रेष्ठ–अश्रेष्ठ का वर्णन	२८६
आत्मध्यान की विधि	२८७
ध्यानावस्थामें मौनका हेतुपूर्वक कथन	२८८
योगी का कार्य	२८९
कौन कहाँ सोता तथा जागता है	२९०
ज्ञानी योगीका कर्तव्य	२९०
ध्यान अध्ययनका उपदेश	२९१
आराधक तथा आराधनाकी विधिके फल का कथन	२९२
आत्मा कैसा है	२९२
योगी को रत्नत्रयकी आराधनासे क्या होता है	२९३
आत्मामें रत्नत्रय का सद्भाव कैसा	२९३
प्रकारान्तर से रत्नत्रयका कथन	२९४
सम्यग्दर्शनका प्राधान्य	२९४
सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	२९४
सम्यक्चारित्र का लक्षण	२९७
परम पद को प्राप्त करने वाला कैसा हुआ होता है	२९८
कैसा हुआ आत्मा का ध्यान करता है	२९९
कैसा हुआ उत्तम सुख को प्राप्त करता है	३००
कैसा हुआ मोक्ष सुखको प्राप्त नहीं करता	३००
जिनमुद्रा क्या है	३०१
परमात्माके ध्यानसे योगीके क्या विशेषता होती है	३०२
जीव के विशुद्ध अशुद्ध कथन में दृष्टांत	३०४
सम्यक्त्व सहित सरागी योगी कैसा	३०४
कर्मक्षय की अपेक्षा अज्ञानी तपस्वी में विशेषता	३०५
अज्ञानी ज्ञानी का लक्षण	३०६
ऐसे लिंग ग्रहण से क्या सुख	३०८
सांख्यादि अज्ञानी क्यों और जैन में ज्ञानित्व किस कारण से	३०९
ज्ञानतप की संयुक्तता मोक्ष की साधक है पृथक् पृथक् नहीं	३०९
स्वरूपाचरण चारित्र से भ्रष्ट कौन	३११
ज्ञानभावना कैसी कार्यकारी है	३११
किनको जीतकर निज आत्माका ध्यान करना	३१२
ध्येय आत्मा कैसा	३१२

विषय	पृष्ठ
उत्तरोत्तर दुर्लभता से किनकी प्राप्ति होती है	३१३
जब तक विषयों में प्रवृत्ति है तब तक आत्मज्ञान नहीं	३१४
कैसा हुआ संसार में भ्रमण करता है	३१४
चतुर्गति का नाश कौन करते हैं?	३१५
अज्ञानी विषयक विशेष कथन	३१५
वास्तविक मोक्ष प्राप्ति कौन करते हैं?	३१६
कैसा राग संसार का कारण है	३१७
समभाव से चारित्र	३१७
ध्यान योगके समयके निषेधक कैसे हैं	३१८
पंचमकाल मेह धर्म ध्यान नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं	३१९
इस समय भी रत्नत्रय शुद्धिपूर्वक आत्मध्यान इंद्रादि फलका दाता है	३२०
मोक्षमार्ग में च्युत कौन?	३२१
मोक्षमार्गी मुनि कैसे होते हैं?	३२२
मोक्ष प्रापक भावना	३२३
फिर मोक्षमार्गी कैसे?	३२३
निश्चयात्मक ध्यान का लक्षण तथा फल	३२४
पापरहित कैसा योगी होता है	३२५
श्रावकोंका प्रधान कर्तव्य निश्चलसम्यक्त्व प्राप्ति तथा उसका ध्यान और ध्यानका फल	३२६
जो सम्यक्त्वको मलिन नहीं करते वे कैसे कहे जाते हैं	३२७
सम्यक्त्व का लक्षण	३२८
सम्यक्त्व किसके है	३२९
मिथ्यादृष्टि का लक्षण	३३०
मिथ्या की मान्यता सम्यग्दृष्टि के नहीं तथा दोनोंका परस्पर विपरीत धर्म	३३१
कैसा हुआ मिथ्यादृष्टि संसारमें भ्रमता है	३३२
मिथ्यात्वी लिंगी की निर्थकता	३३३
जिनलिंग का विरोधक कौन?	३३४
आत्मस्वभावसे विपरीत कार्य सभी व्यर्थ है	३३५
ऐसा साधु मोक्ष की प्राप्ति करता है	३३६
देहस्थ आत्मा कैसा जानने योग्य है	३३७
पंच परमेष्ठी आत्मा में ही हैं अतः वही शरण है	३३८
चारों आराधना आत्मा में ही हैं अतः वही शरण है	३३९
मोक्ष पाहुड पढ़ने सुनने का फल	३४०
टीकाकार कृत मोक्षपाहुड का साररूप कथन	३४०–३४२
ग्रंथके अलावा टीकाकार कृत पंच नमस्कार मंत्र विषयक विशेष वर्णन	३४३–३४६

विषय	पृष्ठ
७. लिंगपाहुड	
अरहंतोंको नमस्कारपूर्वक लिंगपाहुड बनाने की प्रतीज्ञा	३४७
भावधर्म ही वास्तविक लिंग प्रधान है	३४८
पापमोहित दुबुद्धि नारदके समान लिंग की हंसी कराते हैं	३४९
लिंग धारण कर कुक्रिया करते हैं वे तिर्यंच हैं	३४९
ऐसा तिर्यंच योनि है मुनि नहीं	३५०
लिंगरूपमें खोटी क्रिया करनेवाला नरकगामी है	३५०
लिंगरूपमें अब्रह्म का सेवने वाला संसार में भ्रमण करता है	३५१
कौनसा लिंगी अनन्त संसारी है	३५२
किस कर्म का करने वाला लिंगी नरक गामी है	३५२
फिर कैसा हुआ तिर्यंच योनी है	३५४
केसा जिनमार्गी श्रमण नहीं हो सकता	३५५
चौर के समान कौन सा मुनि कहा जाता है	३५६
लिंगरूपमें कैसी क्रियायें तिर्यंचताकी द्योतक हैं	३५६
भावरहित भ्रमण नहीं है	३४७
स्त्रियोंका संसर्ग विशेष रखने वाला श्रमण नहीं पर्श्वस्थ से भी गिरा है	३४७
पुंश्चलकि घर भोजन तथा उसकी प्रशंसा करनेवाला ज्ञानभाव रहित है श्रमण नहीं	३६०
लिंगपाहुड धारण करके न पालनेका तथा पालने का फल	३६०–३६१
८. शीलपाहुड	
महावीर स्वामी को नमस्कार और शीलपाहुड लिखने की प्रतीज्ञा	३६३
शील और ज्ञान परस्पर विरोध रहित हैं, शीलके बिना ज्ञान भी नहीं	३६४
ज्ञान होने पर भी भवना विषय विरक्त उत्तरोत्तर कठिन है	३६६
जब तक विषयोंमें प्रवृत्ति है तब तक ज्ञान नहीं जानता तथा कर्मोंका नाश भी नहीं	३६६
कैसा आचरण निरर्थक है	३६७
महाफल देनेवाला कैसा आचरण होता है	३६८
कैसे हुए संसार में भ्रमण करते हैं	३६८
ज्ञानप्राप्ति पूर्वक कैसे आचरण संसार का करते हैं	३६९
ज्ञान द्वारा शुद्धि में सुर्वण का दृष्टांत	३६९
विषयों में आसक्ति किस दोष से है	३७०
निर्वाण कैसे होता है	३७०
नियमसे मोक्ष प्राप्ति किसके है	३७१
किनका ज्ञान निरर्थक है	३७१
कैसे पुरुष आराधना रहित होते हैं	३७२
किनका मनुष्य जन्म निरर्थक है	३७३
शास्त्रोंका ज्ञान होने पर भी शील ही उत्तम है	३७४
शील मंडित देवों के भी प्रिय होते हैं	३७४

विषय	पृष्ठ
मनुष्यत्व किनका सुजीवित है	३७५
शीलका परिवार	३७६
तपादिक सब शील ही है	३७६
विषयरूपी विष ही प्रबल विष है	३७७
विषयासक्त हुआ कि फलको प्राप्त होता है	३७७
शीलवान तुष के समान विषयोंका त्याग करता है	३७८
अंगके सुन्दर अवयवोंसे भी शील ही सुन्दर है	३७९
मूढ़ तथा विषयी संसार में ही भ्रमण करते हैं	३८०
कर्मबंध कर्मनाशक गुण सब गुणों की शोभा शील से है	३८१
मोक्षका शोध करने वाले ही शोध्य हैं	३८२
शीलके बिना ज्ञान कार्यकारी नहीं उसका सोदाहरण वर्णन	३८३
नारकी जीवोंको भी शील अर्हद्–विभूतिसे भूषित करता है उसमें वर्धमान जिन का दृष्टांत	३८४
अग्निके समान पंचाचार कर्मका नाश करते हैं	३८५
कैसे हुए सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं	३८६
शीलवान महात्माका जन्मवृक्ष गुणोंसे विस्तारित होता है	३८६
किसके द्वारा कौन बोधी की प्राप्ति करता है	३८७
कैसे हुए मोक्ष सुख को पाते हैं	३८८
आराधना कैसे गुण प्रगट करती है	३८८
ज्ञान वही है जो सम्यक्त्व और शील सहित है	३८९
टीकाकर कृत शीलपाहुड का सार	३९०
टीकाकार की प्रशस्ति	३९२

❋❋❋

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ॐ

॥ नमः सिद्धेभ्यः ॥

स्वामि कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

अष्टपाहुड

भाषा – वचनिका

(श्री पं॰ जयचन्द्रजी छाबड़ा)

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

अथ दर्शनपाहुड

—१—

॥ दोहा ॥

श्रीमत वीर जिनेश रवि मिथ्यातम हरतार ।
विघनहरन मंगलकरन बंदूं वृष करतार ।।१।।

वानी बंदूं हितकारी जिनमुख–नभतैं गाजि ।
गुणधरगणश्रुतभू – झरी – बंदू –वर्णपद साजी ।।२।।

गुरु गौतम बंदूं सुविधि संयमतपधर और ।
जिनितैं पंचमकालमैं बरत्यो जिनमत दौर ।।३।।

कुन्दकुन्दमुनिकूं नमूं कुमतध्वांतहर भान ।
पाहुड ग्रन्थ रचे जिनहिं प्राकृत वचन महान ।।४।।

तिनिमैं कई प्रसिद्ध लखि करूं सुगम सुविचार ।
देशवचनिकामय लिखूं भव्य–जीवहितधार ।।५।।

–इस प्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके श्री कुन्दकुन्द आचार्य कृत प्राकृत गाथा बद्ध पाहुड ग्रन्थोंमें से कुछ की देश भाषा वचनिका लिखते हैं :–

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वहाँ प्रयोजन ऐसा है कि–इस हुण्डावसर्पिणी काल में मोक्षमार्गकी अन्यथा प्ररूपणा करनेवाले अनेक मत प्रवर्तमान हैं। उसमें भी इस पंचमकाल में केवली– श्रुतकेवलीका व्युच्छेद होने से जिनमतकी भी जड़ वक्र जीवोंके निमित्तसे परम्परा मार्ग का उल्लंघन करके श्वेताम्बरादि बुद्धि कल्पितमत हुए हैं। उनका निराकरण करके यथार्थ स्वरूपकी स्थापनाके हेतु दिगमबर आम्नाय मूलसंघमें आचार्य हुए और उन्होंने सर्वज्ञकी परम्पराके अव्युच्छेदरूप प्ररूपणाके अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है; उनमें दिगम्बर संप्रदाय मूलसंघ नन्दिआम्नाय सरस्वतीगच्छमें श्री कुन्दकुन्दमुनि हुए और उन्होंने पाहुड ग्रन्थोंकी रचना की। उन्हें संस्कृत भाषामें प्राभृत कहते हैं और वे प्राकृत गाथाबद्ध हैं। कालदोषसे जीवों की बुद्धि मंद होती है जिससे वे अर्थ नहीं समझ सकते; इसलिये देशभाषामय वचनिका होगी तो सब पढ़ेंगे और अर्थ समझेंगे तथा श्रद्धान दृढ़ होगा– ऐसा प्रयोजन विचारकर वचनिका लिख रहें हैं, अन्य कोई ख्याति, बढ़ाई या लाभका प्रयोजन नहीं है। इसलिये हे भव्य जीवों! उसे पढ़कर, अर्थसमजकर, चित्तमें धारण करके यथार्थ मतके बाह्यलिंग एवं तत्त्वार्थका श्रद्धान दृढ़ करना। इसमें कुछ बुद्धि की मंदतासे तथा प्रमादके वश अन्यथा अर्थ लिख दूँ तो अधिक बुद्धिमान मूलग्रन्थको देखकर, शुद्ध करके पढ़े और मुझे अल्पबुद्धि जानकर क्षमा करें।

अब यहाँ प्रथम दर्शनपाहुड की वचनिका लिखते हैं :–

(दोहा)

बंदू श्री अरहंतकूं मन वच तन इकतान।
मिथ्याभाव निवारिकैं करैं सु दर्शन ज्ञान।।

अब ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकी उत्पत्ति और उसके ज्ञानका कारण जो परम्परा गुरु प्रवाह उसे मंगलके हेतु नमस्कार करते हैं :–

काऊण णमुक्कारं जिणवरसहस्स वइढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण।।१।।

कृत्वा नमस्कारं जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य।
दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेन।।१।।

प्रारंभमा करीने नमन जिनवरवृषभ महावीरने,
संक्षेपथी हुं यथाक्रमे भाखीश दर्शनमार्ग ने। १।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

इसका देशभाषामय अर्थ :–आचार्य कहते हैं कि मैं जिनवर वृषभ ऐसे जो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर वद्धमान, उन्हें नमस्कार करके दर्शन अर्थात् मत का जो मार्ग है उसे यथानुक्रम संक्षेप में कहूँगा।

भावार्थ :––यहाँ 'जिनवर वृषभ' विशेषण है; उसमें जो जिन शब्द है उसका अर्थ ऐसा है कि–जो कर्मशत्रुको जीते सो जिन। वहाँ सम्यग्दृष्टि अव्रतीसे लेकर कर्मकी गुणश्रेणीरूप निर्जरा करने वाले सभी जिन हैं उनमें वर अर्थात् श्रेष्ठ। इस प्रकार गणधरादि मुनियोंको जिनवर कहा जाता है; उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान ऐसे भगवान तीर्थंकर परम देव हैं। उनमें प्रथम तो श्री ऋषभदेव हुए और इस पंचमकालके प्रारंभ तथा चतुर्थकालके अन्तमें अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमानस्वामी हुए हैं। वे समस्त तीर्थंकर वृषभ हुए हैं उन्हें नमस्कार हुआ। वहाँ 'वर्धमान' ऐसा विशेषण सभीके लिये जानना; क्योंकि अन्तरंग बाह्य लक्ष्मीसे वर्धमान हैं। अथवा जिनवर वृषभ शब्दसे तो आदि तीर्शंकर श्री ऋषभदेव को और वर्धमान शब्द से अन्तिम तीर्थंकर को जानना। इसप्रकार आदि और अन्तके तीर्थंकरोंको नमस्कार करने से मध्यके तीर्थंकरोंको सामर्थ्यसे नमस्कार जानना। तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतरागको जो परमगुरु कहते हैं और उनकी परिपाटी में चले आ रहे गौतमादि मुनियोंको जिनवर विशेषण दिया, उन्हें अपर गुरु कहते हैं; ––इसप्रकार परापर गुरुओंका प्रवाह जानना। वे शास्त्रकी उत्पत्ति तथा ज्ञानके कारण हैं। उन्हें ग्रन्थके आदि में नमस्कार किया ।।१।।

अब, धर्मका मूल दर्शन है, इसलिये जो दर्शन से रहित हो उसकी वंदना नहीं करनी चाहिये ––ऐसा कहते हैं :–

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोउण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो।। २।।

दर्शनमूलो धर्मः उपदिष्टः जिनवरैः शिष्याणाम्।
तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः।। २।।

रे! धर्म दर्शनमूल उपदेश्यो जिनोए शिष्यने,
ते धर्म निज कर्णे सुणी दर्शनरहित नहि वंद्य छे। २।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ :––जिनवर जो सर्वज्ञ देव हैं उन्होंने शिष्य जो गणधर आदिकको धर्मका उपदेश दिया है; कैसा उपदेश दिया है?–––**कि दर्शन जिसका मूल है।** मूल कहाँ होता है कि–जैसे मंदिर के नींव और वृक्ष के जड़ होती है उसी प्रकार **धर्मका मूल दर्शन है।** इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि–– हे सकर्ण अर्थात् सत्पुरुषों! सर्वज्ञ के कहे हुए उस **दर्शनमूलरूप धर्म को** अपने कानोंसे सुनकर जो दर्शनसे रहित हैं वे वंदन योग्य नहीं हैं;इसलिये दर्शन हीन की वंदनामत करो। जिसके दर्शन नहीं है उसके धर्म भी नहीं है; क्योंकि मूल रहित वृक्षके स्कंध, शाखा, पुष्प, फलादिक कहाँ से होंगे? इसलिये यह उपदेश है कि– जिसके धर्म नहीं है उससे धर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर धर्मके निमित्त उसकी वंदना किसलिये करें?–ऐसा जानना।

अब यहाँ धर्मका तथा दर्शन का स्वरूप जानना चाहिये। वह स्वरूप तो संक्षेपमें ग्रन्थकार ही आगे कहेंगे, तथापि कुछ अन्य ग्रन्थोंके अनुसार यहाँ भी दे रहें हैं :–'धर्म' शब्द का अर्थ यह है कि––जो आत्माको संसार से उबार कर सुख स्थान में स्थापित करे सो धर्म है। और दर्शन अर्थात् देखना। इसप्रकार **धर्म की मूर्ति दिखायी दे वह दर्शन है** तथा प्रसिद्धि में जिसमें धर्मका ग्रहण हो ऐसे मत को 'दर्शन' कहा है। लोक में धर्मकी तथा दर्शनकी मान्यता सामान्यरूप से तो सबके है, परन्तु सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूपका जानना नहीं हो सकता; परन्तु छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों की कल्पना करके अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनकी प्रवृत्ति करते हैं। और जिनमत सवर्ज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है इसलिये इसमें यथार्थ स्वरूपका प्ररूपण है।

वहाँ धर्मको निश्चय और व्यवहार––ऐसे दो प्रकार से साधा है। उसकी प्ररूपणा चार प्रकार से है––प्रथम वस्तुस्वभाव, दूसरे उत्तम क्षमादि दस प्रकार, तीसरे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप और चौथे जीवों की रक्षारूप ऐसे चार प्रकार हैं। वहाँ निश्चय से सिद्ध किया जाये तब तो सबमें एक ही प्रकार है, इसलिये वस्तुस्वभाव का तात्पर्य तो जीव नामक वस्तुकी परमार्थरूप दर्शन–ज्ञान–परिणाममयी चेतना है, और वह चेतना सर्व विकारोंसे रहित शुद्ध–स्वभावरूप परिणमित हो वही जीव का धर्म है। तथा उत्तमक्षमादि दस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा क्रोधादि कषायरूप न होकर अपने स्वभाव में स्थिर हो वही धर्म है, यह भी शुद्ध चेतना रूप हुआ।

दर्शन–ज्ञान–चारित्र कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों एक ज्ञान चेतना के ही परिणाम हैं, वही ज्ञान स्वभाव रूप धर्म है। और जीवों की रक्षाका तात्पर्य यह है कि– जीव क्रोधादि कषायोंके वश होकर अपनी या पर की पर्याय के विनाशरूप मरण तथा दुःख, संक्लेश परिणाम न करे–ऐसा अपना स्वभाव ही धर्म है। इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप निश्चय से साधा हुआ धर्म एक ही प्रकार है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

व्यवहारनय पर्यायाश्रित है इसलिये भेदरूप है, व्यवहारनयसे विचार करें तो जीवके पर्यायरूप परिणाम अनेक प्रकार हैं, इसलिये धर्मका भी अनेक प्रकार से वर्णन किया है। वहाँ (१)–प्रयोजनवश एकदेश का सर्वदेशसे कथन किया जाये सो व्यवहार है, (२)–अन्य वस्तुमें अन्यका आरोपण अन्यके निमित्त से और प्रयोजनवश किया जाये वह भी व्यवहार है, वहाँ वस्तुस्वाभाव कहने पर तात्पर्य तो निर्विकार चेतनाके शुद्धपरिणामके साधक रूप (३)–मंद कषायरूप शुभ परिणाम हैं तथा जो बाह्यक्रियाएँ हैं उन सभी को व्यवहार धर्म कहा जाता है। उसीप्रकार रत्नत्रयका तात्पर्य स्वरूपके भेद दर्शन–ज्ञान–चारित्र तथा –सके कारण बाह्य क्रियादिक हैं, उन सभी को व्यवहार धर्म कहा जाता है। उसीप्रकार –(४) जीवोंकी दया कहनेका तात्पर्य यह है कि क्रोधादि मंदकषाय होनेसे अपने या पर के मरण, दुःख, क्लेश आदि का न करना; [१]उसके साधक समस्त बाह्यक्रियादि को धर्म कहा जाता है। इस प्रकार जिनमत में निश्चय–व्यवहारनयसे साधा हुआ धर्म कहा है।

वहाँ एक स्वरूप अनेक स्वरूप कहने में स्याद्वाद से विरोध नहीं आता, कथन्चित् विवक्षा से सर्व प्रमाण सिद्ध है। ऐसे धर्म का मूल दर्शन कहा है, इसलिये ऐसे धर्मकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि सहित आचरण करना ही दर्शन है, यह धर्म की मूर्ति है, इसी को मत (दर्शन) कहते हैं और यही धर्म का मूल है। तथा ऐसे धर्म की प्रथम श्रद्धा, प्रतीति, रुचि न हो तो धर्म का आचरण भी नहीं होता,––जैसे वृक्ष के मूल बिना स्कंधादिक नहीं होते। इसप्रकार दर्शनको धर्म का मूल कहना युक्त है। ऐसे दर्शनका सिद्धान्तोंमें जैसा वर्णन है तदनुसार कुछ लिखते हैं।

वहाँ अंतरंग सम्यग्दर्शन तो जीवका भाव है वह निश्चय द्वारा उपाधि रहित शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना ऐसा एक प्रकार है। वह ऐसा अनुभव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन नामक कर्मके उदय से अन्यथा हो रहा है। सादि मिथ्यादृष्टिके उस मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं–– मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। तथा उनकी सहकारिणी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से चार कषाय नामक प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार यह सात प्रकृतियाँ ही सम्यग्दर्शन का घात करने वाली हैं; इसलिये इन सातोंका उपशम होने से पहले तो इस जीवके उपशमसम्यक्त्व होता है। इन प्रकृतियों का उपशम होने का बाह्य कारण सामान्यतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं। उनमें, **द्रव्यमें** तो साक्षात् तीर्थंकर के देखनादि प्रधान हैं, **क्षेत्रमें** समवसरणादिक प्रधान हैं, **कालमें** अर्धपुद्गलपरावर्तन संसार भ्रमण शेष रहे वह, तथा **भावमें** अधःप्रवृत्तकरण आदिक हैं।

---

१. साथकरूप–– सहचर हेतुरूप निमित्तमात्र; अंतरंग कार्य हो तो बाह्य में इस प्रकार को निमित्तकारण कहा जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(सम्यक्त्व के बाह्य कारण) विशेष रूप से तो अनेक हैं। उनमें से कुछके तो अरिहंत बिम्बका देखना, कुछके जिनेन्द्रके कल्याणक आदिकी महिमा देखना, कुछके जातिस्मरण, कुछके वेदना का अनुभव, कुछके धर्म–श्रवण तथा कुछके देवोंकी ऋद्धिका देखना––इत्यादि बाह्य कारणों द्वारा मिथ्यात्वकर्म का उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है। तथा इन सात प्रकृतियों में से छह का तो उपशम या क्षय हो और एक सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो तब क्षयोपक्षम सम्यक्त्व होता है। इस प्रकृति के उदय से किंचित् अतिचार– मल लगता है। तथा इन सात प्रकृतियोंका सत्ता में से नाश हो तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

इसप्रकार उपशमादि होनेपर जीवके परिणाम–भेदसे तीन प्रकार होते हैं; वे परिणाम अति सूक्ष्म हैं, केवलज्ञानगम्य हैं, इसलिये इन प्रकृतियोंके द्रव्य पुद्गल परमाणुओंके स्कंध हैं, वे अतिसूक्ष्म हैं और उनमें फल देने की शक्तिरूप अनुभाग है वह अतिसूक्ष्म हैं वह छद्मस्थके ज्ञानगम्य नहीं है। तथा उनका उपशमादि होनेसे जीवके परिणाम भी सम्यक्त्वरूप होते हैं, वे भी अतिसूक्ष्म होते हैं, वे भी केवलज्ञानगम्य हैं। तथापि जीवके कुछ परिणाम छद्मस्थके ज्ञान में आने योग्य होते हैं, वे उसे पहिचाननेके बाह्य चिन्ह हैं, उनकी परिक्षा करके निश्चय करने का व्यवहार है; ऐसा न होते छद्मस्थ वयवहारी जीवके सम्यक्त्वका निश्चय नहीं होगा और तब अस्तिक्यका अभाव सिद्ध होगा, व्यवहारका लोप होगा–यह महान दोष आयेगा। इसलिये बाह्य चिन्होंको आगम, अनुमान तथा स्वानुभवसे परीक्षा करके निश्चय करना चाहिये।

वे चिन्ह कौन से हैं सो लिखते हैं :–मुख्य चिन्ह तो उपाधिरहित शुद्ध ज्ञान–चेतना स्वरूप आत्मा की अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञानका विशेष है, तथापि वह सम्यक्त्व होनेपर होती है, इसलिये उसे बाह्य चिन्ह कहते हैं। ज्ञान तो अपना अपने को स्वसंवेदनरूप है; उसका, रागादि विकार रहित शुद्धज्ञानमात्र का अपने को आस्वाद होता है कि–'**जो यह शुद्ध ज्ञान है सो मै हूँ और ज्ञान में जो रागादि विकार है वे कर्मके निमित्त से उत्पन्न होते है, वह मेरा स्वरूप नहीं है'-इसप्रकार भेद ज्ञानसे ज्ञानमात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनुभूति कहते हैं, वही आत्माकी अनुभूति है,** तथा वही शुद्धनय का विषय है। ऐसी अनुभूति से शुद्धनय से द्वारा ऐसा भी श्रद्धान होता है कि सर्व जीव कर्मजनित **रागादि भाव से रहित अनंत चतुष्टय मेरा स्वरूप है, अन्य सब भाव संजोगजनित हैं; ऐसी आत्मा की अनुभूति सो सम्यक्त्वका मुख्य चिन्ह है**। यह मिथ्यात्व अनंतानुबन्धी के अभावमें सम्यक्त्व होता है उसका चिन्ह है; उस चिन्ह को ही सम्यक्त्व कहना सो व्यवहार है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम, अनुमान तथा स्वानुभव प्रत्यक्षप्रमाण इन प्रमाणोंसे की जाती है। इसीको निश्चय तत्वार्थश्रद्धान भी कहते हैं। वहाँ अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन की प्रधानता से होती है और पर की परीक्षा तो पर के अंतरंग में होने की परीक्षा, पर के वचन, काय की क्रिया की परीक्षा से होती है यह व्यवहार है, परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं। व्यवहारी जीवको सर्वज्ञने भी व्यवहार के ही शरण का उपदेश दिया है।

[नोंध-अनुभूति ज्ञानगुणकी पर्याय है वह श्रद्धागुण से भिन्न है, इसलिये ज्ञानके द्वारा श्रद्धानका निर्णय करना व्यवहार है, उसका नाम व्यवहारी जीवको व्यवहार ही शरण अर्थात् आलम्बन समझना।]

अनेक लोग कहते हैं कि– सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिये अपने को सम्यक्त्व होने का निश्चय नहीं होता, इसलिये अपने को सम्यग्दृष्टि नहीं मान सकते? परन्तु इसप्रकार सर्वथा एकान्त से कहना तो मिथ्यादृष्टि है; सर्वथा ऐसा कहने से व्यवहार का लोप होगा, सर्व मुनि–श्रावकोंकी प्रवृत्ति मिथ्यात्वरूप सिद्ध होगी, और सब अपने को मिथ्यादृष्टि मानेंगे तो व्यवहार कहाँ रहेगा? इसलिये परीक्षा होने पश्चात् ऐसा श्रद्धान नहीं रखना नहीं चाहिये कि मैं मिथ्यादृष्टि ही हूँ। मिथ्यादृष्टि तो अन्यमती को कहते हैं और उसी के समान स्वयं भी होगा, इसलिये सर्वथा एकान्त पक्ष नहीं ग्रहण करना चाहिये। तथा तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिन्ह है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ऐसे सात तत्त्वार्थ हैं; उनमें पुण्य और पाप को जोड़ देनेसे नव पदार्थ होते हैं। उनकी श्रद्धा अर्थात् सन्मुखता, रुचि अर्थात् तद्रुप भाव करना तथा प्रतीति अर्थात् जैसे सर्वज्ञ ने कहे हैं तदनुसार ही अंगीकार करना और उनके आचरण रूप क्रिया,–इसप्रकार श्रद्धानादिक होना सो सम्यक्त्वका बाह्य चिन्ह है।

तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भी सम्यक्त्व के बाह्य चिन्ह हैं। वहाँ (१) **प्रशमः**–––––अनंतानुबंधी क्रोधादिक कषाय के उदय का अभाव सो प्रशम चिन्ह है। उसके बाह्य चिन्ह जैसे कि––सर्वथा एकान्त तत्त्वार्थ का कथन करने वाले अन्य मतों का श्रद्धान, बाह्य वेश में सत्यार्थपने का अभिमान करना, पर्यायों में एकान्त के कारण आत्मबुद्धि से अभिमान तथा प्रीति करना वह अनंतानुबंधीका कार्य है– वह जिसके न हो , तथा किसी ने अपना बुरा किया तो उसका घात करना आदि मिथ्यादृष्टि की भाँति विकार बुद्धि अपने को उत्पन्न न हो, तथा वह ऐसा विचार करे कि मैंने अपने परिणामों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

से कर्म बाँधे थे वे ही बुरा करने वाले हैं, अन्य तो निमित्तमात्र हैं,–ऐसी बुद्धि अपने को उत्पन्न हो–ऐसे मंदकषाय हैं। तथा अनंतानुबंधी के बिना अन्य चारित्रमोह की प्रकृतियों के उदय से आरम्भादिक क्रियामें हिंसादिक होते हैं उनको भी भला नहीं जानता इसलिये उससे प्रशम का अभाव नहीं कहते।

(२) **संवेग**:–––––धर्ममें और धर्मके फलमें परम उत्साह हो वह संवेग है। तथा साधर्मियोंसे अनुराग और परमेष्ठियोंमें प्रीति वह भी **संवेग** ही है। इस धर्ममें तथा धर्मके फल में अनुरागको अभिलाष नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभिलाष तो उसे कहते हैं जिसे इन्द्रियविषयोंकी चाह हो? अपने स्वरूपकी प्राप्तिमें अनुराग को अभिलाष नहीं कहते। तथा

(३) **निर्वेद**:–––––इस संवेग ही में निर्वेद भी हुआ समझना, क्योंकि अपने स्वरूप रूप धर्म की प्राप्ति में अनुराग हुआ तब अन्यत्र सभी अभिलाष का त्याग हुआ, सर्व परद्रव्योंसे वैराग्य हुआ, वही निर्वेद है। तथा

(४) **अनुकम्पा**:–––––सर्व प्राणियोंमें उपकार की बुद्धि और मैत्री भाव सो अनुकम्पा है। तथा मध्यस्थ भाव होने से सम्यग्दृष्टि के शल्य नहीं हैं, किसी से वैरभाव नहीं होता, सुख–दुःख, जीवन–मरण अपना परके द्वारा और परका अपने द्वारा नहीं मानता है। तथा पर में जो अनुकम्पा है सो अपने में ही है, इसलिये परका बुरा करने का विचार करेगा तो अपने कषायभाव से स्वयं अपना ही बुरा हुआ; पर का बुरा नहीं सोचेगा तब अपने कषाय भाव नहीं होंगे इसलिये अपनी अनुकम्पा ही हुई।

(५) **आस्तिक्य**:–––––जीवादि पदार्थों में अस्तित्वभाव सो आस्तिक्यभाव है। जीवादि पदार्थोंका स्वरूप सर्वज्ञ के आगम से जानकर उसमें ऐसी बुद्धि हो कि–जैसे सर्वज्ञ ने कहे वैसे ही यह हैं–अन्यथा नहीं हैं वह आस्तिक्य भाव है।

इसप्रकार यह सम्यक्त्व के बाह्य चिन्ह हैं।

सम्यक्त्वके आठ गुण हैं:–––––संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वासतलय और अनुकम्पा। यह सब प्रशमादि चार में ही आ जाते हैं संवेगमें निर्वेद, वातसल्य और भक्ति–ये आ गये तथा प्रशममें निन्दा, गर्हा आ गई।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग कहे हैं। उन्हें लक्षण भी कहते हैं और गुण भी। उनके नाम हैं-----निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वासतलय और प्रभावना।

वहाँ शंका नाम संशय का भी है। और भय का भी। वहाँ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालाणुद्रव्य, परमाणु इत्यादि तो सूक्ष्म वस्तु हैं, तथा द्वीप, समुद्र, मेरूपर्वत आदि दूरवर्ती पदार्थ हैं, तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि अंतरित पदार्थ हैं; वे सर्वज्ञ के आगम में जैसे कहे हैं वैसे है या नहीं हैं? अथवा सर्वज्ञदेव ने वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक कहा है सो सत्य है या असत्य?–ऐसे सन्देह को शंका कहते हैं। तथा यह जो शंका होती है सो मिध्यात्वकर्मके उदय से (उदयमें युक्त होने से) होती है; परमें आत्मबुद्धि होना उसका कार्य है। जो परमें आत्मबुद्धि है सो पर्याय बुद्धि है, पर्याय बुद्धि भय भी उत्पन्न करती है, शंका भय को भी कहते हैं, उसके सात भेद हैं :– इस लोक का भय, परलोकका भय, मृत्युका भय, अरक्षाका भय, अगुप्तिका भय, वेदना का भय। अकस्मात् का भय। जिनके यह भय हों उसे मिथ्यात्वकर्म का उदय समझना चाहिये; सम्यग्दृष्टि होने पर यह नहीं होते।

प्रश्न :––भय प्रकृतिका उदय तो आठवें गुणस्थान तक है; उसके निमित्त से सम्यग्दृष्टि को भय होता ही है, फिर भय का अभाव कैसा?-----**समाधान** :––कि यद्यपि सम्यग्दृष्टिके चारित्रमोह के भेदरूप भय प्रकृति के उदय से भय होता है तथापि उसे निर्भय ही कहते हैं, क्योंकि उसके कर्मके उदयका स्वामित्व नहीं है और परद्रव्यके कारण अपने द्रव्य स्वभावका नाश नहीं मानता। पर्याय का स्वभाव विनाशीक मानता है इसलिये भय होने पर भी उसे निर्भय ही कहते हैं। भय होने पर उसका उपचार भागना इत्यादि करता है; वहाँ वर्तमान की पीड़ा सहन न होने से वह इलाज (–उपचार) करता है वह निर्बलता का दोष है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि संदेह तथा भय रहित होने से उसके **निःशंकित अङ्ग** होता है ।।६।।

कांक्षा अर्थात् भोगों की इच्छा– अभिलाषा। वहाँ पूर्वकाल में किये भोगोंकी वांछा तथा उन भोगों की मुख्य क्रिया में वांछा कर्म और कर्मके फल की वांछा तथा मिथ्यादृष्टियों के भोगों की प्राप्ति देखकर उन्हें अपने मन में भला जानना अथवा जो इन्द्रियोंको न रुचें ऐसे विषयों में उद्वेग होना– यह भोगाभिलाष के चिन्ह हैं। यह भोगाभिलाष मिथ्यात्वकर्म के उदय से होता है, और जिसके यह न हो वह निःकाक्षित अङ्गयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। वह सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभक्रिया – व्रतादिक आचरण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करता है और उसका फल शुभ कर्मबन्ध है, किन्तु उसकी वह वांछा नहीं करता। व्रतादिक को स्वरूपका साधक जानकर उसका आचरण करता है, कर्मके फल की वांछा नहीं करता। –ऐसा **निःकांक्षित अङ्ग** है ।।२।।

अपने में अपने गुण की महत्ता की बुद्धि से अपने को श्रेष्ठ मानकर पर में हीनता की बुद्धि हो उसे विचिकित्सा कहते हैं; वह जिसके न हो सो निर्विचिकित्सा अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। उसके चिन्ह ऐसे हैं कि –यदि कोई पुरुष पाप के उदय से दुःखी हो, असाता के उदय से ग्लानियुक्त शरीर हो तो उसमें ग्लानिबुद्धि नहीं करता। ऐसी बुद्धि नहीं करता कि– मैं सम्पदावान हूँ, सुन्दर शरीरवान हूँ, यह दीन रङ्क मेरी बराबरी नहीं कर सकता। उलटा ऐसा विचार करता है कि– प्राणियों के कर्मोदय से अनेक विचित्र अवस्थाएँ होती हैं। जब मेरे ऐसे कर्मका उदय आवे तब मैं भी ऐसा ही हो जाऊँ। ––ऐसे विचार से **निर्विचिकित्सा अङ्ग** होता है ।।३।।

अतत्त्वमें तत्त्वपनेका श्रद्धान **मूढ़दृष्टि** है। ऐसी मूढ़दृष्टि जिसके न हो सो अमूढ़दृष्टि है। मिथ्यादृष्टियों द्वारा मिथ्या हेतु एवं मिथ्या दृष्टांत से साधित पदार्थ हैं वह सम्यग्दृष्टि को प्रीति उत्पन्न नहीं कराते हैं तथा लौकिक रूढ़ि अनेक प्रकार की है, वह निःसार है, निःसार पुरुषों द्वारा ही उसका आचरण होता है, जो अनिष्ट फल देनेवाली है तथा जो निष्फल है; जिसका बुरा फल है तथा उसका कुछ हेतु नहीं है, कुछ अर्थ नहीं है; जो कुछ लोक रूढ़ि चल पड़ती है उसे लोग अपना लेते हैं और फिर उसे छोड़ना कठिन हो जाता है –इत्यादि लोकरूढि है।

अदेव में देव बुद्धि, अधर्ममें धर्मबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि इत्यादिक देवादि मूढ़ता है वह कल्याणकारी नहीं है। सदोष देव को देव मानना, तथा उनके निमित्त हिंसादि द्वारा अधर्म को धर्म मानना, तथा मिथ्या आचारवान, शल्यवान, परिग्रहवान, सम्यक्त्व व्रत रहित को गुरु मानना इत्यादि मूढ़दृष्टि के चिन्ह हैं। अब, देव–धर्म–गुरु कैसे होते हैं, उनका स्वरूप जानना चाहिये, सो कहते हैं :––

रागादि दोष और ज्ञानावरणादिक कर्म ही आवरण हैं; यह दोनों जिसके नहीं हैं वह देव है। उसके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य –ऐसे अनन्तचतुष्टय होते हैं। सामान्यरूप से तो देव एक ही है और विशेषरूप से अरहंत, सिद्ध ऐसे दो भेद हैं; तथा इनके नामभेदके भेदसे भेद करें तो हजारों नाम हैं। तथा गुण भेद किये जायें तो अनन्त गुण हैं। परम औदारिक देह में विद्यमान घातिया कर्म रहित अनन्त चतुष्टय सहित धर्म का उपदेश करने वाले ऐसे तो अरिहंत देव हैं तथा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुद्गलमयी देह से लोक के शिखर पर विराजमान सम्यक्त्वादि अष्टगुण मंडित अष्ट कर्म रहित ऐसे सिद्ध देव हैं। इनके अनेकों नाम हैं:–अरहंत, जिन, सिद्ध, परमात्मा, महादेव, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग परमात्मा इत्यादि अर्थ सहित अनेक नाम हैं;–ऐसा देव का स्वरूप है।

गुरुका भी अर्थ से विचार करें तो अरिहंत देव ही हैं, क्योंकि मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले अरिहंत ही हैं, वे ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रवर्तन कराते हैं, तथा अरिहंत के पश्चात् छद्मस्थ ज्ञान के धारक उन्ही का निर्ग्रन्थ रूप धारण करने वाले मुनि है सो गुरु हैं, क्योंकि अरिहंत की सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकदेश शुद्धता उनके पायी जाती है और वे ही संवर, निर्जरा, मोक्षका कारण हैं, इसलिये अरिहंत की भाँति एकदेश रूप से निर्दोष हैं वे मुनि भी गुरु हैं, मोक्ष मागर का उपदेश करने वाले हैं।

ऐसा मुनिपना सामान्यरूप से एक प्रकार का है और विशेष रूप से वही तीन प्रकार का है –आचार्य, उपाध्याय, साधु। इसप्रकार यह पदवी की विशेषता होने पर भी उनके मुनिपने की क्रिया समान ही है; बाह्य लिंग भी समान है, पंव महाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्ति –ऐसे तेरह प्रकार का चारित्र भी समान ही हैं, चर्या, स्थान, आसनादि भी समान हैं, मोक्षमागर की साधना, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र भी समान हैं। ध्याता, ध्यान, ध्येयपना भी समान है, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयपना समान हैं, चार आराधना की आराधना, क्रोधादिक कषायोंका जीतना इत्यादि मुनियों की प्रवृत्ति है वह सब समान है।

विशेष यह है कि –जो आचार्य हैं वे पंचाचार अन्य को ग्रहण कराते हैं तथा अन्य को दोष लगे तो उसके प्रायश्चित्तकी विधि बतलाते हैं, धर्मोपदेश, दीक्षा, शिक्षा देते हैं; –ऐसे आचार्य गुरु वंदना करने योग्य हैं।

जो उपाध्याय हैं वे वादित्व, वाग्मित्व, कवित्व, गमकत्व –इन चार विद्याओंमें प्रवीण होते हैं; उसमें शास्त्र का अभ्यास प्रधान कारण है। जो स्वयं शास्त्र पढ़ते हैं और अन्य को पढ़ाते हैं ऐसे उपाध्याय गुरु वंदन करने योग्य हैं; उनके अन्य मुनिव्रत, मूलगुण, उत्तरगुण की क्रिया आचार्य समान ही होती है। तथा साधु रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग की साधना करते हैं सो साधु हैं; उनके दीक्षा, शिक्षा, उपदेशादि देने की प्रधानता नहीं है, वे तो अपने स्वरूप की साधना में ही तत्पर होते हैं; जिनागम में जैसी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि की प्रवृत्ति कही है वैसी प्रवृत्ति उनके होती है –ऐसे साधु वंदना के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

योग्य हैं। अन्यलिंगी–वेषी व्रतादिक से रहित परिग्रहवान, विषयों में आसक्त गुरु नाम धारण करते हैं वे वंदन योग्य नहीं हैं।

इस पंचमकाल में जिनमत में भी भेषी हुए हैं। वे श्वेताम्बर, यापनीयसंघ, गोपुच्छपिच्छसंघ, निःपिच्छसंघ, द्राविड़संघ आदि अनेक हुये हैं; यह सब वन्दन योग्य नहीं हैं। मूलसंघ नग्नदिगम्बर, अट्ठाईस मूलगुणोंके धारक, दयाके और शौचके उपकरण–मयूरपिच्छक, कमण्डल धारण करने वाले, यथोक्त विधि आहार करने वाले गुरु वंदन योग्य हैं, क्योंकि जब तीर्थंकर देव दीक्षा लेते हैं तब ऐसा ही रूप धारण करते हैं अन्य भेष धारण नहीं करते; इसी को जिनदर्शन कहते हैं।

धर्म उसे कहते हैं जो जीव को संसार के दुःखरूप नीच पदसे मोक्षके सुखरूप उच्च पद में धारण करे; –ऐसा धर्म मुनि–श्रावकके भेद से, दर्शन–ज्ञान–चारित्रात्मक एकदेश–सर्वदेशरूप निश्चय–व्यवहार द्वारा दो प्रकार कहा है; उसका मूल सम्यग्दर्शन है; उसके बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार देव–गुरु–धर्म तथा लोक में यथार्थ दृष्टि हो और मूढ़ता न हो सो **अमूढ़दृष्टि अङ्ग** है ।।४।।

अपने आत्मा की शक्तिको बढ़ाना सो उपबृंहण अङ्ग है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को अपने पुरुषार्थ द्वारा बढ़ाना ही **उपबृंहण** है। इसे उपगुहन भी कहते हैं। उसका ऐसा अर्थ जानना चाहिये कि जिनमार्ग स्वयं सिद्ध है; उसमें बालकके तथा असमर्थ जन के आश्रय से जो न्यूनता हो उसे अपनी बुद्धि से गुप्त कर दूर ही करे वह **उपगूहन अङ्ग** है ।।५।।

जो धर्म से च्युत होता हो उसे दृढ़ करना सो स्थितिकरण अङ्ग है। स्वयं कर्म उदय के वश होकर कदाचित् श्रद्धान से तथा क्रिया–आचार से च्युत होता हो तो अपने को पुरुषार्थ पूर्वक पुनः श्रद्धान में दृढ़ करे, उसीप्रकार अन्य कोई धर्मात्मा धर्म से च्युत हो तो उसे उपदेशादिक द्वारा स्थापित करे–––––वह **स्थितिकरण अङ्ग** है ।।६।।

अरिहंत, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय, चतुर्विध संघ और शास्त्र में दासत्व हो –जैसे स्वामी का भृत्य दास होता है तदनुसार –वह **वात्सल्य अङ्ग** है। धर्म के स्थानोंको पर उपसर्गादि आयें उन्हें अपनी शक्ति अनुसार दूर करें, अपने शक्ति को न छिपायें; –यह सब धर्म में अति प्रीति हो तब होता है ।।७।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मका उद्योत करना सो प्रभावना अङ्ग है। रत्नत्रय द्वारा अपने अपने आत्मा का उद्योत करना तथा दान, तप, पूजा–विधान द्वारा एवं विद्या, अतिशय–चमत्कारादि द्वारा जिनधर्मका उद्योत करना वह **प्रभावना अङ्ग** है ।।८।।

––इसप्रकार यह सम्यक्त्व के आठ अंग हैं; जिसके यह प्रगट हों उसके सम्यक्त्व है ऐसा जानना चाहिये। **प्रश्न**––यदि यह सम्यक्त्व के चिन्ह मिथ्यादृष्टि के भी दिखाई दें तो सम्यक्–मिथ्याका विभाग कैसे होगा? **समाधान**–– जैसे सम्यक्त्वी के होते हैं वैसे मिथ्यात्वी के तो कदापि नहीं होते, तथापि अपरीक्षक को समान दिखाई दें तो परीक्षा करके भेद जाना जा सकता है। परीक्षा में अपना स्वानुभव प्रधान है। सर्वज्ञ के आगम में जैसा आत्मा का अनुभव होना कहा है वैसा स्वयं को हो तो उसके होने से अपनी वचन–कायकी प्रवृत्ति भी तदनुसार होती है। उस प्रवृत्ति के अनुसार अन्य की वचन–काय की प्रवृत्ति पहचानी जाती है;– इसप्रकार परीक्षा करने से विभाग होते हैं। तथा यह व्यवहार मार्ग है, इसलिये व्यवहारी छद्मस्थ जीवों के अपने ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति है; यर्थाथ सर्वज्ञ देव जानते हैं। व्यवहारी को सर्वज्ञ देव ने व्यवहारी का आश्रय बतलाया है [१]। यह अन्तरंग सम्यक्त्वभाव रूप सम्यक्त्व है वही सम्यग्दर्शन है, बाह्यदर्शन, व्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र और तपसहित अट्ठईस मूलगुण सहित नग्न दिगम्बर मुद्रा उसकी मूर्ति है, उसे जिनदर्शन कहते हैं, इसप्रकार धर्मका मूल सम्यग्दर्शन जानकर जो सम्यग्दर्शन रहित है उनके वंदन–पूजन निषेध किया है। ––––ऐसा यह उपदेश भव्य जीवोंको अंगीकार करने योग्य है ।।२।।

---

१ स्वानुभूति ज्ञानगुणकी पर्याय है, ज्ञान के द्वारा सम्यक्त्व का निर्णय करना उसका नाम व्यवहारका आश्रय समझना, किन्तु भेदरूप व्यवहार के आश्रय से वीतराग अंशरूप धर्म होगा ऐसा अर्थ कहीं पर नहीं समझना।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अब कहते हैं कि ––अंतरंगसम्यग्दर्शन बिना बाह्यचारित्रसे निर्वाण नहीं होता :–––

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।। ३।।

दर्शनभ्रष्टा: भ्रष्टा: दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाण्म।
सिध्यन्ति चारित्र भ्रष्टा: दर्शनभ्रष्टा: न सिध्यन्ति।। ३।।

अर्थ:–––जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं; जो दर्शन से भ्रष्ट हैं उनको निर्वाण नहीं होता; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं परन्तु जो दर्शन भ्रष्ट हैं वे सिद्धिको प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ:–––जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं उन्हें भ्रष्ट कहते हैं; और जो श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हैं, किन्तु कदाचित् उदयसे चारित्रभ्रष्ट हुये हैं उन्हें भ्रष्ट नहीं कहते; क्योंकि जो दर्शन से भ्रष्ट हैं उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती; जो चारित्र से भ्रष्ट होते हैं और श्रद्धान दृढ़ रहते हैं उनके तो शीघ्र ही पुन: चारित्र का ग्रहण होता है, और मोक्ष होता है। तथा दर्शन–श्रद्धा से भ्रष्ट होय उसके फिर चारित्र का ग्रहण फिर कठिन होता है इसलिये निर्वाण की प्राप्ति दुर्लभ होती है। जैसे –वृक्ष की शाखा आदि कट जाये और जड़ बनी रहे तो शाखा आदि शीघ्र ही पुन: उग आयेंगे और फल लगेंगे, किन्तु जड़ उखड़ जाने पर शाखा आदि कैसे होंगे ? उसी प्रकार धर्मका मूल दर्शन जानना ।।३।।

अब, जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं और शास्त्रोंको अनेक प्रकार से जानते हैं तथापि संसारमें भटकते हैं; ––ऐसे ज्ञानसे भी दर्शन को अधिक कहते हैं :––––

દૃગ્ભ્રષ્ટ જીવો ભ્રષ્ટ છે, દૃગ્ભ્રષ્ટનો નહિ મોક્ષ છે;
ચારિત્રભ્રષ્ટ મુકાય છે, દૃગ્ભ્રષ્ટ નહિ મુક્તિ લહે। ૩।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्मत्तरयण जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव।।४।।

सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा: जानंतो बहुविधानि शास्त्राणि।
आराधना विरहिता: भ्रमंति तत्रैव तत्रैव।।४।।

अर्थ:––जो पुरुष सम्यक्त्वरूप रत्न से भ्रष्ट हैं तथा अनेक प्रकारोंके शास्त्रोंको जानते हैं, तथापि वह आराधना से रहित होते हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं। दो बार कह कर बहुत परिभ्रमण बतलाया है।

भावार्थ:––जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं और शब्द, न्याय, छंद, अलंकार आदि अनेक प्रकार के शास्त्रोंको जानते हैं तथापि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपरूप आराधना उनके नहीं होती; इसलिये कुमरणसे चतुगरतिरूप संसार में ही भ्रमण करते हैं –मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिये सम्यक्त्वरहित ज्ञान को आराधना नाम नहीं देते।।४।।

अब कहते हैं कि––जो तप भी करते हैं ओर सम्यक्त्वरहित होते हैं उन्हें स्वरूप का लाभ नहीं होता :––

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।५।।

सम्यकत्वविरहिता णं सुष्ठु अपि उग्रं तप: चरंतो णं।
न लभन्ते बोधिलाभं अपि वर्षसहस्रकोटिभि:।।५।।

अर्थ:––जो पुरुष सम्यक्त्वसे रहित हैं वे सुष्ठु अर्थात् भलीभाँति उग्र तपका आचरण करते हैं तथापि वे बोधी अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमय जो अपना स्वरूप है उसका लाभ प्राप्त नहीं करते; यदि हजार कोटी वर्ष तप करते रहें तब भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ गाथामें दो स्थानोंपर 'णं' शब्द है वह प्राकृत में अव्यय है, उसका अर्थ वाक्यका अलंकार है।

सम्यक्त्वरत्नविहीन जाणे शास्त्र बहुविधने भले,
पण शून्य छे आराधनाथी तेथी त्यां ने त्यां भमे। ४।

सम्यक्त्व विण जीवो भले तप उग्र सुष्ठु आचरे,
पण लक्ष कोटि वर्षमांये बोधिलाभ नहीं लहे। ५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ:––सम्यक्त्व के बिना हजार कोटी वर्ष तप करने पर भी मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती। यहाँ हजार कोटी कहने का तात्पर्य उतने ही वर्ष नहीं समझना, किन्तु काल का बहुतपना बतलाया है। तप मनुष्य पर्याय में ही होता है, इसलिये मनुष्य काल भी थोड़ा है, इसलिये तप का तात्पर्य यह वर्ष भी बहुत कहे हैं ।।५।।

–––ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वके बिना चारित्र, तप को निष्फल कहा है। अब सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है––––ऐसा कहते हैं:––––

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण।। ६।।

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्य वर्द्धमानाः ये सर्वे।
कलिकलुषपापरहिताः वरज्ञानिनः भवंति अचिरेण।। ६।।

अर्थ:––जो पुरुष सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, बल, वीर्यसे, वर्द्धमान हैं तथा कलिकलुषपाप अर्थात् इस पंचमकाल में मलिन पापसे रहित हैं वे सभी अल्पकाल में वरज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं।

भावार्थ:––इस पंचमकाल में जड़–वक्र जीवोंके निमित्तसे यथार्थ मार्ग अपभ्रंश हुआ है। उसकी वासना से जो जवि रहित है हुए वे यथार्थ जिनमार्ग के श्रद्धानरूप सम्यक्त्व सहित ज्ञान–दर्शनके अपने पराक्रम– बलको न छिपाकर तथा अपने वीर्य अर्थात् शक्तिसे वर्द्धमान होते हुए प्रवर्तते हैं, वे अल्पकालमें ही केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ।। ६।।

अब कहते हैं कि ––सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह आत्माको कर्मरज नहीं लगने देता :––

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हिया ए पयट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स।। ७।।

सम्यक्त्वसलिलप्रवाहः नित्यं हृदये प्रवर्त्तते यस्य।
कर्म वालुकावरणं बद्धमपि नश्यति तस्य।। ७।।

सम्यक्त्व–दर्शन–ज्ञान–बल–वीर्ये अहो! वधता रहे,
कलिमसरहित जे जीव, वरज्ञानने अचिरे लहे। ६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––जिस पुरुषके हृदयमें सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह निरन्तर प्रवर्तमान है उसके कर्मरूपी रज–धूलका आवरण नहीं लगता, तथा पूर्वकालमें जो कर्मबंध हुआ हो वह भी नाशको प्राप्त होता है।

भावार्थः––सम्यक्त्वसहित पुरुषको (निरंतर ज्ञानचेतनाके स्वामित्वरूप परिणमन है इसलिये) कर्मके उदयसे हुए रागादिक भावोंका स्वामित्व नहीं होता, इसलिये कषायों की तीव्र कलुषता से रहित परिणाम उज्ज्वल होते हैं; उसे जल की उपमा है। जैसे –जहाँ निरंतर जलका प्रवाह बहता है वहाँ बालू–रेत–रज नहीं लगती; वैसे ही सम्यक्त्वी जीव कर्मके उदय को भोगता हुआ भी कर्मसे लिप्त नहीं होता। तथा बाह्य व्यवहार की अपेक्षासे ऐसा भी तात्पर्य जानना चाहिये कि –जिसके हृदय में निरंतर सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह बहता है वह सम्यक्त्वी पुरुष इस कलिकाल सम्बन्धी वासना अर्थात् कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्रको नमस्कारादिरूप अतिचाररूपरज भी नहीं लगता, तथा उसके मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियोंका आगामी बंध भी नहीं होता।। ७।।

अब, कहते हैं कि –जो दर्शनभ्रष्ट हैं तथा ज्ञान–चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही परन्तु दूसरोंको भी भ्रष्ट करते हैं, ––यह अनर्थ है:–––

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठ वि भट्ठा सेसं पि जणं विणासंति।। ८।।

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः ज्ञाने भ्रष्टाः चारित्र भ्रष्टाः च।
एते भ्रष्टात् अपि भ्रष्टाः शेषं अपि जनं विनाशयंति।। ८।।

अर्थः––जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट है तथा ज्ञान–चारित्र मेह भी भ्रष्ट है वे पुरुष भ्रष्टोंमें भी विशेष भ्रष्ट हैं कई तो दर्शन सहित हैं किन्तु ज्ञान–चारित्र उनके नहीं है, तथा कई अंतरंग दर्शन से भ्रष्ट हैं तथापि ज्ञान–चारित्रका भली भाँति पालन करते हैं; और जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र इन तीनोंसे भ्रष्ट हैं वे तो अत्यन्त भ्रष्ट हैं; वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही परन्तु शेष अर्थात् अपने अतिरिक्त अन्य जनोंको भी नष्ट करते हैं।

सम्यक्त्वनीर प्रवाह जेना हृदयमां नित्ये वहे,
तस बद्धकर्मो वालुका–आवरण सम क्षयने लहे। ७।

दृग्भ्रष्ट, ज्ञाने भ्रष्टने चारित्रमां छे भ्रष्ट जे,
ते भ्रष्टथी पण भ्रष्ट छे ने नाश अन्य तणो करे। ८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ:––यहाँ सामान्य वचन है इसलिये ऐसा भी आशय सूचित करता है कि सत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र तो दूर ही रहा, जो अपने मत की श्रद्धा, ज्ञान, आचरण से भी भ्रष्ट हैं वे तो निरर्गल स्वेच्छाचारी हैं। वे स्वयं भ्रष्ट हैं उसी प्रकार अन्य लोगोंको उपदेशादिक द्वारा भ्रष्ट करते हों, तथा उनकी प्रवृत्ति देख कर लोग स्वयमेव भ्रष्ट होते हैं, इसलिये ऐसे तीव्रकषायी निषिद्ध हैं; उनकी संगति करना भी उचित नहीं है।।८।।

अब, कहते हैं कि–––ऐसे भ्रष्ट पुरुष स्वयं भ्रष्ट हैं, वे धर्मात्मा पुरुषोंको दोष लगाकर भ्रष्ट बतलाते हैं:–––

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोगगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गात्तणं दितिं।।९।।

यः कोऽपि धर्मशीलः संयम तपोनियमयोगगुणधारी।
तस्य च दोषान् कथयंतः भग्ना भग्नत्वं ददति।।९।।

अर्थ:––जो पुरुष धर्मशील अर्थात् अपने स्वरूपरूप धर्मको साधनेका जिसका स्वभाव है, तथा संयम अर्थात् इन्द्रिय–मनका निग्रह और षट्कायके जीवोंकी रक्षा, तप अर्थात् बाह्याभ्यंतर भेदकी अपेक्षा से बारह प्रकारके तप, **नियम** अर्थात् आवश्यकादि नित्यकर्म, योग अर्थात् समाधि, ध्यान तथा वर्षाकाल आदि कालयोग, **गुण** अर्थात् मूल गुण, उत्तरगुण –इनका धारण करनेवाला है उसे कई मतभ्रष्ट जीव दोषोंका आरोपण करके कहते हैं कि –यह भ्रष्ट है, दोष युक्त है, वे पापात्मा जीव स्वयं भ्रष्ट हैं इसलिये अपने अभिमान की पुष्टिके लिये अन्य धर्मात्मा पुरुषोंको भ्रष्टपना देते हैं।

भवार्थ:––पापियोंका ऐसा ही स्वभाव होता है कि स्वयं पापी हैं उसी प्रकार धर्मात्मा में दोष बतलाकर अपने समान बनाना चाहते हैं। ऐसे पापियों की संगति नहीं करनी चाहिये ।।९।।

अब, कहते हैं कि –जो दर्शन भ्रष्ट हैं वह मूलभ्रष्ट हैं, उसको फल की प्राप्ति नहीं होती:–––

જે ધર્મશીલ, સંયમ–નિયમ–તપ–યોગ–ગુણ ધરનાર છે,
તેનાય ભાખી દોષ, ભ્રષ્ટ મનુષ્ય દે ભ્રષ્टત્વને। ૯।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।१०।।

यथा मूले विनष्टे द्रुमस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः।
तथा जिनदर्शनभ्रष्टाः मूलविनष्टाः न सिद्धयन्ति।।१०।।

अर्थः––जिस प्रकार वृक्षका मूल विनष्ट होनेपर उसके परिवाय अर्थात् स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फलकी वृद्धि नहीं होती, उसीप्रकार जो जिनदर्शनसे भ्रष्ट हैं–बाह्यमें तो नग्न–दिगम्बर यथाजातरूप निग्रन्थ लिंग, मूलगुणका धारण, मयूर पिच्छिका की पींछी तथा कमण्डल धारण करना, यथाविधि दोष टालकर खड़े खड़े शुद्ध आहार लेना –इत्यादि बाह्य शुद्ध वेष धारण करते हैं, तथा अंतरंग में जीवादि छह द्रव्य, नव पदार्थ, सात तत्त्वोंका यर्थाथ श्रद्धान एवं भेदविज्ञानसे आत्मस्वरूपका अनुभवन –ऐसे दर्शन मत से बाह्य हैं वे मूल विनष्ट हैं, उनके सिद्धि नहीं होती, वे मोक्षफलको प्राप्त नहीं करते।

अब कहते हैं कि –जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है:––––

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहु गुणो होइ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स।।११।।

यथा मूलात् स्कंधः शाखापरिवारः बहुगुणः भवति।
तथा जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं मोक्षमार्गस्य।।११।।

अर्थः–जिसप्रकार वृक्षके मूल से स्कंध होते हैं; कैसे स्कंध होते हैं कि –जिनके शाखा आदि परिवार बहुत गुण हैं। यहाँ गुण शब्द बहुतका वाचक है; उसीप्रकार गणधर देवाधिकने जिनदर्शनको मोक्षमार्ग का मूल कहा है।

भावार्थः–जहाँ जिनदर्शन अर्थात् तीर्थंकर परमदेवने जो दर्शन ग्रहण किया उसीका उपदेश दिया है; वह अट्ठाईस मूलगुण सहित कहा है। पांच महाव्रत,

---

જયમ મૂલનાશે વૃક્ષના પરિવારની વૃદ્ધિ નહીં,
જિનદર્શનાત્મક મૂલ હોય વિનિષ્ટ તો સિદ્ધિ નહીં। ૧૦।

જ્યમ મૂલ દ્વારા સ્કંધ ને શાખાદિ બહુ ગુણ થાય છે,
ત્યમ મોક્ષપથનું મૂલ જિનદર્શન કહ્યું જિનશાસને। ૧૧।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पाँच समिति, छह आवश्यक, पाँच इन्द्रियोंको वश में करना, स्नान नहीं करना, भूमिशयन, वस्त्रादिकका त्याग अर्थात् दिगम्बर मुद्रा, केशलोंच करना, एकबार भोजन करना, खड़े खड़े आहार लेना, दंतधोवन न करना–यह अट्ठाईस मूलगुण हैं। तथा छियालीस दोष टालकर आहार करना वह एषणा समितिमें आ गया। ईयापथ–देखकर चलना यह ईया समिति में आ गया। तथा दयाका उपकरण मोरपुच्छ की पींछी और शौच का उपकरण कमंडल धारण करना–ऐसा बाह्य वेष है। तथा अंतरंग में जीवादिक षट्द्रव्य, पंवास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थोंको यथोक्त जानकर श्रद्धान करना और भेदविज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूपका चिंतवन करना, अनुभव करना ऐसा दर्शन अर्थात् मत वह मूल संघका है ऐसा जिनदर्शन है वह मोक्षमार्गका मूल है; इस मुलसे मोक्ष मार्ग की सर्व प्रवृत्ति सफल होती है। तथा जो इससे भ्रष्ट हुए हैं वे इस पंचमकाल के दोष से जैसाभास हुए हैं वे श्वेताम्बर, द्राविड, यापनीय, गोपुच्छपिच्छ, निपिच्छ–पांच संघ हुए हैं; उन्होंने सूत्र सिद्धान्त अपभ्रंश किये हैं। जिन्होंने बाह्य वेष को बदलकर आचारणको बिगाड़ा है वे जिनमतके मूलसंघसे भ्रष्ट हैं, उनको मोक्षमार्गकी प्रीप्ति नहीं है। मोक्षमार्ग की प्राप्ति मूलसंघके श्राद्धान–ज्ञान–आचरण ही से है ऐसा नियम जानना।।११।।

आगे कहते हैं कि जो यथार्थ दर्शनसे भ्रष्ट हैं और दर्शनके धारकोंसे अपनी विनय कराना चाहते हैं वे दुर्गिति प्राप्त करते हैं:––

जे[१] दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं।।१२।।

वे दर्शनेषु भ्रष्टा: पादयो: पातयंति दर्शनधरान्।
ते भयंति लल्लमूका: बोधि: पुन: दुर्लभा तेषाम्।।१२।।

अर्थ:––जो पुरुष दर्शनमें भ्रष्ट हैं तथा अन्य जो दर्शन के धारक हैं उन्हें अपने

मुद्रित संस्कृत सटीक प्रतिमें इस गाथाका पूर्वार्द्ध इसप्रकार है जिसका यह अर्थ है कि– 'जो दर्शनभ्रष्ट पुरुष दर्शधारियोंके चरणोंमें नहीं गिरते हैं' –

'जे दंसणेसु भट्ठा पाए न पंडंति दंसणधराणं' –
उत्तरार्थ समान है।

दृग्भ्रष्ट जे निज पाय पाडे दृष्टिना धरनारने,
ते थाय मूंगा, खंडभाषी, बोध दुर्लभ तेमने। १२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पैरों पड़ाते हैं, नमस्कारादि कराते हैं वे परभवमें लूले, मूक होते हैं, और उनके बोधी अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी प्राप्ति दुर्लभ होती है।

भावार्थः––जो दर्शनभ्रष्ट हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और दर्शन के धारक हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं; जो मिथ्यादृष्टि होकर सम्यग्दृष्टियों से नमस्कार चाहते हैं वे तीव्र मिथ्यात्व के उदय सहित हैं, वे पर भव में लूले, मूक होते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय होते हैं, उनके पैर नहीं होते, वे परमार्थतः लूले, मूक हैं; इसप्रकार एकेन्द्रिय–स्थावर होकर निगोद में वास करते हैं वहाँ अनंत काल रहते हैं; उनके दर्शन–ज्ञान–चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है; मिथ्यात्वका फल निगोद ही कहा है। इस पंचमकाल में मिथ्यामत के आचार्य बनकर लोगोंसे विनयादिक पूजा चाहते हैं उनके लिये मालूम होता है कि त्रसराशिक काल पूरा हुआ, अब एकेन्द्रिय होकर निगोद में वास करेंगे–इसप्रकार जाना जाता है ।।१२।।

आगे कहते हैं कि जो दर्शनभ्रष्ट हैं उनके लज्जादिक से भी पैरों पड़ते हैं वे भी उन्हीं जैसे ही हैं:––

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं।। १३।।

येऽपि पतन्ति च तेषां जानंतः लज्जागारवभयेन।
तेषामपि नास्ति बोधिः पापं अनुमन्यमानानाम्।। १३।।

अर्थः––जो पुरुष दर्शन सहित हैं वे भी, जो दर्शन भ्रष्ट हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी उनके पैरों पड़ते हैं, उनकी लज्जा, भय, गारवसे विनयादि करते हैं उनके भी बोधी अर्थात् दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी प्राप्ति नहीं है, क्योंकि वे भी मिथ्यात्व जो कि पाप है उसका अनुमोदन करते हैं। करना, कराना, अनुमोदन करना समान कहे गये हैं। यहाँ लज्जा तो इसप्रकार है कि –हम किसी की विनय नहीं करेंगे तो लोग कहेंगे यह उद्धत है, मानी है, इसलिये हमें तो सर्व का साधन करना है। इसप्रकार लज्जा से दर्शनभ्रष्टके भी विनयादिक करते हैं। तथा भय इस प्रकार है कि––यह राज्यमान्य है और मंत्रविद्यादिक की सामर्थ्य युक्त है, इसकी विनय नहीं करेंगे तो कुछ

वली जाणीने पण तेमने गारव–शरम–भयथी नमे,
तेनेय बोध–अभाव छे पापानुमोदन होईने । १३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हमारे ऊपर उपद्रव करेगा; इसप्रकार भय से विनय करते हैं। तथा गारव तनि प्रकार कहा है;–रसगारव, ऋद्धिगारव, सातागारव। वहाँ रसगारव तो ऐसा है कि –मिष्ट, इष्ट, पुष्ट भोजनादि मिलता रहे तब उससे प्रमादी रहता है; तथा ऋद्धिगारव ऐसा है कुछ तप के प्रभाव आदि से ऋद्धिकी प्राप्ति हो उसका गौरव आ जाता है, उससे उद्धत, प्रमादी रहता है। तथा सातागारव ऐसा कि शरीर निरोग हो, कुछ क्लेश का कारण न आये तब सुखीपना आ जाता है, उसमें मग्न रहते हैं –इत्यादिक गारवभाव की मस्ती से भले–बुरे का विचार नहीं करता तब दर्शनभ्रष्ट की भी विनय करने लग जाता है। इत्यादि निमित्तसे दर्शनभ्रष्ट की विनय करे तो उसमें मिथ्यात्वका अनुमोदन आता है; उसे भला जाने तो आप भी उसी समान हुआ, तब उसके बोधी कैसे कही जाये? ऐसा जानना ।।१३।।

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणे होदि।। १४।।

द्विविधः अपि ग्रन्थत्यागः त्रिषु अपि योगेषु संयमः तिष्ठति।
ज्ञान करणशुद्धे उद्भभोजने दर्शनं भवति।। १४।।

अर्थः––जहाँ बाह्याभ्यांभेदसे दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग हो और मन–वचन–काय ऐसे तीनों योगोंमें संयम हो तथा कृत–कारित–अनुमोदना ऐसे तीन करण जिसमें शुद्ध हों वह ज्ञान हो, तथा निर्दोष जिसमें कृत, कारित, अनुमोदना अपनेको न लगे ऐसा, खड़े रहकर पाणिपात्र में आहार करें, इसप्रकार मूर्तिमंत दर्शन होता है।

भावार्थः––यहाँ दर्शन अर्थात् मत है; वहाँ बाह्य वेश शुद्ध दिखाई दे वह दर्शन; वही उसके अंतरंग भाव को बतलाता है। वहाँ बाह्य परिग्रह अर्थात् धन–धान्यादिक और अंतरंग परिग्रह मिथ्यात्व–कषायादि, वे जहाँ नहीं हों, यथाजात दिगम्बर मूर्ति हो, तथा इन्द्रिय–मन को वष में करना, त्रस–स्थावर जीवोंकी दया करना, ऐसे संयमका मन–वचन–काय द्वारा पालन हो और ज्ञान में विकार करना, कराना, अनुमोदन करना–ऐसे तीन कारणोंसे विकार न हो और निर्दोष पाणिपात्रमें खड़े रहकर आहार लेना इस प्रकार दर्शन की मूर्ति है वह जिनदेव का मत है, वही वंदन–पूजन योग्य है। अन्य पाखंड वेश वंदना–पूजा योग्य नहीं है ।। १४।।

ज्यां ज्ञान ने संयम त्रियोगे, उभय परिग्रहत्याग छे,
जे शुद्ध स्थितिभोजन करे, दर्शन तदाश्रित होय छे। १४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि –इस सम्यग्दर्शनसे ही कल्याण–अकल्याणका निश्चय होता है:–

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि।। १५।।

सम्यक्त्वात् ज्ञानं ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः।
उपलब्धपदार्थे पुनः श्रेयोऽश्रेयो विजानाति।। १५।।

अर्थः––सम्यक्त्वसे तो ज्ञान सम्यक् होता है; तथा सम्यक्ज्ञानसे सर्व पदार्थों की उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति अर्थात् जानना होता है; तथा पदार्थों की उपलब्धि होने से श्रेय अर्थात् कलयाण, अश्रेय अर्थात् अकल्याण इस दोनोंको जाना जाता है।

भावार्थः––सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा है, इसलिये सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है, और सम्यग्ज्ञानसे जीवादि पदार्थोंका स्वरूप यथार्थ जाना जाता है। तथा सब पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जाना जाये तब भला–बुरा मार्ग जाना जाता है। इसप्रकार मार्ग के जानने में भी सम्यग्दर्शन ही प्रधान है ।।१५।।

आगे, कल्याण–अकल्याण को जानने से क्या होता है सो कहते हैं:–

सेयोसेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं।। १६।।

श्रेयोऽश्रेयवेत्ता उद्धृतदुःशीलः शीलवानपि।
शीलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निर्वाणम्।। १६।।

अर्थः––कल्याण और अकल्याण मार्गको जाननेवाला पुरुष 'उद्धृतदुःखशीलः' अर्थात् जिसने मिथ्यात्व स्वभाव को उड़ा दिया है –ऐसा होता है; तथा 'शीलवानपि' अर्थात् सम्यक्स्वभाव युक्त भी होता है, तथा उस सम्यक्स्वभावके फलसे अभ्युदय को प्राप्त होता है, तीर्थंकरादि पद प्राप्त करता है, तथा अभ्युदय होनेके पश्चात् निर्वाण को प्राप्त होता है।

सम्यक्त्वथी सुज्ञान, जेथी सर्व भाव जणाय छे,
ने सौ पदार्थो जाणतां अश्रेय–श्रेय जणाय छे। १५।

अश्रेय–श्रेयसुण छोडी कुशील धारे शीलने,
ने शीलफलथी होय अभ्युदय, पछी मुक्ति लहे। १६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ:––भले–बुरे मार्गको जानता है तब अनादि संसार से लगाकर जो मिथ्याभावरूप प्रकृति है वह पलटकर सम्यक्स्वभावरूप प्रकृति होती है; उस प्रकृति से विशिष्ट पुण्यबंधकरे तब अभ्युदयरूप तीर्थंकरादि की पदवी प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त होता है ।।१६।।

आगे, कहते हैं कि ऐसा सम्यक्त्व जिनवचन से प्राप्त होता है इसलिये वे ही सर्व दुःखोंको हरने वाले हैं :––

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।। १७।।

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम्।
जरामरणव्याधिहरणंक्षयकरणं सर्वदुःखानाम्।। १७।।

अर्थ:––यह जिनवचन हैं सो औषधि हैं। कैसी औषधि है? –कि इन्द्रिय विषयोंमें जो सुख माना है उसका विरेचन अर्थात् दूर करने वाले हैं। तथा कैसे हैं? अमृतभूत अर्थात् अमृत समान हैं और इसलिये जरामरण रूप रोगको हरनेवाले हैं, तथा सर्व दुःखोंका क्षय करने वाले हैं।

भावार्थ:––इस संसार में प्राणी विषय सुखोंका सेवन करतें हैं जिनसे कर्म बँधते हैं और उससे जन्म–जर–मरणरूप रोगोंसे पीड़ित होते हैं; वहाँ जिन वचनरूप औषधि ऐसी है जो विषयसुखोंसे अरुचि उत्पन्न करके उसका विरेचन करती है। जैसे –गरिष्ट आहार से जब मल बढ़ता है तब ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं और तब उसके विरेचन को हरड़ आदि औषधि उपकारी होती है, उसीप्रकार उपकारी हैं। उन विषयोंसे वैराग्य होने पर कर्म बन्ध नहीं होता और तब जन्म–जरा–मरण रोग नहीं होते तथा संसारके दुःख का अभाव होता है। इसप्रकार जिनवचनोंको अमृत समान मानकर अंगीकार करना ।।१७।।

जिनवचनरूप दवा विषयसुखरेचिका, अमृतमयी,
छे व्याधि–मरण–जरादिहरणी, सर्व दुःख विनाशिनी। १७ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे, जिनवचनमें दर्शनका लिंग अर्थात् भेष कितने प्रकारका कहा है सो कहते हैं:–

एगं जिणस्स रुवं विदियं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।। १८।।

एकं जिनस्य रुपं द्वितीयं उत्कृष्ट श्रावकाणां तु।
अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिंगदर्शनं नास्ति।। १८।।

अर्थः––दर्शनमें एक तो जिन का स्वरूप है; वहाँ जैसा लिंग जिनदेव ने धारण किया वही लिंग है; तथा दूसरा उत्कृष्ट श्रावकोंका लिंग है और तीसरा 'अवरस्थित' अर्थात् जघन्यपद में स्थित ऐसी आर्यिकाओं का लिंग है; तथा चौथा लिंग दर्शन में है नहीं।

भावार्थः––जिनमत में तीन लिंग अर्थात् भेष कहते हैं। एक तो वह है जो यथाजातरूप जिनदेव ने धारण किया; तथा दूसरा ग्यारहवीं प्रतिमा के धारी उत्कृष्ट श्रावकका है, और तीसरा स्त्री आर्यिका हो उसका है। इसके सिवा चौथा अन्य प्रकार का भेष जिनमत में नहीं है। जो मानते हैं वे मूल संघ से बाहर हैं ।।१८।।

आगे कहते हैं कि –ऐसा बाह्यलिंग हो उसके अन्तरंग श्रद्धान भी ऐसा ही होता है और वह सम्यग्दृष्टि है:–

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रुवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो।। १९।।

षट् द्रव्याणि नव पदार्थाः पंचास्तिकायाः सप्ततत्त्वानि निर्दष्टानि।
श्रद्दधाति तेषां रुपं सः सदृष्टिः ज्ञातव्यः।। १९।।

अर्थः––छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व–यह जिनवचन में कहें हैं, उनके स्वरूपका जो श्रद्धान के उसे सम्यग्दृष्टि जानना।

छे अेक जिननुं रूप, बीजुं श्रावकोत्तम–लिंग छे,
त्रीजुं कह्युं आर्यादिनुं, चोथुं न कोई कहेल छे। १८।

पंचास्तिकाय, छ द्रव्य ने नव अर्थ, तत्त्वो सात छे;
श्रद्धे स्वरूपो तेमनां जाणो सुदृष्टि तेहने। १९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––(जाति अपेक्षा छह द्रव्योंके नाम–) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल –यह तो छह द्रव्य हैं; तथा जीव, अजवि, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य, पाप –यह नव तत्त्व अर्थात् नव पदार्थ हैं; छह द्रव्य काल बिना पंचास्तिकाय हैं। पुण्य–पाप बिना नव पदार्थ सप्त तत्त्व हैं। इनका संक्षेप स्वरूप इस प्रकार है– जीव तो चेतनस्वरूप है और चेतना दर्शन–ज्ञानमयी है; पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गुणसहित मूर्तिक है, उसके परमाणु और स्कंध ऐसे दो भेद हैं; स्कंध के भेद शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत, इत्यादि अनेक प्रकार हैं; धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य ये एक एक हैं–अमूर्तिक हैं, निष्क्रिय हैं, कालाणु असंख्यात द्रव्य है। काल को छोड़ कर पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं इसलिये अस्तिकाय पाँच हैं। कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है इसलिये वह अस्तिकाय नहीं है; इत्यादि उनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना। जीव पदार्थ एक है और अजीव पदार्थ पाँच हैं, जीव के कर्म बंध योग्य पुद्गलोंका आना आस्रव है, कर्मोंका बंधना बंध है, आस्रव का रुकना संवर है, कर्मबंधका झड़ना निर्जरा है, सम्पूर्ण कर्मोंका नाश होना मोक्ष है, जीवोंको सुख का निमित्त पुण्य है और दुःख का निमित्त पाप है;ऐसे सप्त तत्त्व और नव पदार्थ हैं। इनका अगमके अनुसार स्वरूप जानकर श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दृष्टि हैं ।।१९।।

अब व्यवहार–निश्चयके भेद से सम्यक्त्वको दो प्रकार का कहते हैं:–

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं।। २०।।

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्तत्वं जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
व्यवहारात् निश्चयतः आत्मैव भवति सम्यक्त्वम्।। २०।।

अर्थः––जिन भगवानने जीव आदि पदार्थोंके श्रद्धानको व्यवहार–सम्यक्त्व कहा है और अपने आत्माके ही श्रद्धान को निश्चय–सम्यक्त्व कहा है।

भावार्थः––तत्त्वार्थका श्रद्धान व्यवहारसे सम्यक्त्व है और अपने आत्मस्वरूपके अनुभव द्वारा उसकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, आचरण सो निश्चयसे सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व आत्मासे भिन्न वस्तु नहीं है आत्माही का परिणाम है सो आत्मा ही है। ऐसे सम्यक्त्व और आत्मा एक ही वस्तु है यह निश्चयका आशय जानना ।।२०।।

जीवादिना श्रद्धानने सम्यक्त्व भाख्युं छे जिने;
व्यवहारथी, पण निश्चये आत्मा ज निज सम्यक्त्व छे। २०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अब कहते हैं कि यह सम्यग्दर्शन ही सब गुणोंमें सार है उसे धारण करो:–

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स।। २१।।

एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरत भावेन।
सारं गुणरत्नत्रये सोपानं प्रथमं मोक्षस्य।। २१।।

अर्थ:––ऐसे पूर्वोक्त प्रकार जिनेश्वर देवका कहा हुआ दर्शन है सो गुणोंमें और दर्शन–ज्ञान–चारित्र इन तीन रत्नोंमें सार है –उत्तम है और मोक्ष मन्दिर में चढ़नेके लिये पहली सीढ़ी है, इसलिये आचार्य कहते हैं कि –हे भव्य जीवों! तुम इसको अंतरंग भाव से धारण करो, बाह्य क्रियादिक से धारण करना तो परमार्थ नहीं है, अंतरंग की रुचि से धारण करना मोक्षका कारण है ।। २१।।

अब कहते हैं कि –जो श्रद्धान करता है उसीके सम्यक्त्व होता है:–

***जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।**
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।। २२।।

यत् शक्नोति तत् क्रियते यत् च न शक्नुयात् तस्य च श्रद्धानम्।
केवलिजिनैः भणितं श्रद्धानस्य सम्यक्त्वम्।। २२।।

अर्थ:––जो करने को समर्थ हो वह तो करे और जो करने को समर्थ न हो वह श्रद्धान करे क्योंकि केवली भगवानने श्रद्धान करनेवाले को सम्यक्त्व कहा है।

भावार्थ:–यहाँ आशय ऐसा है कि यदि कोई कहे कि –सम्यक्त्व होने के बादमें सब परद्रव्य–संसारको हेय जानते हैं। जिसको हेय जाने उसको छोड़ मुनि बनकर चारित्रका पालन करे तब सम्यक्त्वी माना जावे, इसके समाधानरूप यह गाथा है। जिसने सब परद्रव्यको हेय जानकर

---

* नियमसार गाथा १५४

अे जिनकथित दर्शनरतनने भावथी धारो तमे,
गुण रत्नत्रयमां सार ने जे प्रथम शिवसोपान छे। २१।

थई जे शके करवुं अने नव थई शके ते श्रद्धवुं;
सम्यक्त्व श्रद्धावंतने सर्वज्ञ जिनदेवे कह्युं। २२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निजरूपको उपादेय जाना, श्रद्धान किया तब मिथ्याभाव तो दूर हुआ, परन्तु जब तक [चारित्रमें प्रबल दोष है तब तक] चारित्र मोह कर्मका उदय प्रबल होता है [और] तबतक चारित्र अंगीकार करने की सामर्थ्य नहीं होती। जितनी सामर्थ्य है उतना तो करे और शेषका श्रद्धान करे, इसप्रकार श्रद्धान करनेवाले को ही भगवान ने सम्यक्त्व कहा है ।।२२।।

अब आगे कहते हैं कि जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित हैं वे वंदन करने योग्य हैं:–

दंसणणाणचरित्ते तवविणये [१]णिच्चकालसुपसत्था।
ए दे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं।। २३।।

दर्शनज्ञानचारित्रे तपोविनये नित्यकाल सुप्रस्वस्थाः।
ऐ ते तु वन्दनीया ये गुणवादिनः गुणधराणाम्।। २३।।

अर्थः––दर्शन–ज्ञान–चारित्र, तप तथा विनय इनमें जो भले प्रकार स्थित है वे प्रशस्त हैं, सरागने योगय हैं अथवा भले प्रकार स्वस्थ हैं लीन हैं और गणधर आचार्य भी उनके गुणानुवाद करते हैं अतः वे वंदने योग्य हैं। दूसरे जो दर्शनादिक से भ्रष्ट हैं और गुणवानोंसे मत्सरभाव रखकर विनयरूप नहीं प्रवर्तते वे वंदने योग्य हैं ।।२३।।

अब कहते हैं कि–जो यथाजातरूप को देखकर मत्सरभावसे वन्दना नहीं करते हैं वे मिथ्यादृष्टि ही हैं:–

---

१ पाठान्तर–णिच्चकालसुपत्ता

दृग, ज्ञान ने चारित्र, तप, विनये सदाय सुनिष्ठ जे,
ते जीव वंदन योग्य छे – गुणधर तणा गुणवादी जे। २३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सहजुप्पण्णं रुवं दट्ठं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छादट्ठी हवइ एसो।। २४।।

सहजोत्पन्नं रुपं दृष्ट्वा यः मन्यते न मत्सरी।
सःसंयमप्रतिपन्नः मिथ्यादृष्टिः भवति एषः।। २४।।

अर्थः––जो सहजोत्पन्न यथाजातरूप को देखकर नहीं मानते हैं, उसका विनय सत्कार प्रीति नहीं करते हैं और मत्सर भाव करते हैं वे संयमप्रतिपन्न हैं, दीक्षा ग्रहण की है फिर भी प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि हैं।

भावार्थः––जो यथाजातरूप को देख कर मत्सर भावसे उसका विनय नहीं करते हैं तो ज्ञात होता है कि –इनके इस रूप की श्रद्धा–रुचि नहीं है। ऐसी श्रद्धा–रुचि बिना तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। यहाँ आशय ऐसा है कि–जो श्वेताम्बरादिक हुए वे दिगम्बर रूपके प्रति मत्सरभाव रखते हैं और उसका विनय नहीं करते हैं उनका निषेध है।।२४।।

आगे इसी को दृढ़ करते हैं:––

अमराण वंदियाणं रुवं दट्ठूण सीलसहियांण।
जे गारव करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति।। २५।।

अमरैः वंदितानां रुपं दृष्ट्वा शीलसहितानाम्।
ये गौरवं कुर्वन्ति च सम्यक्त्त्वविवर्जिताः भवंति।। २५।।

अर्थः––देवोंसे वंदने योग्य शील सहित जिनेश्वर देवके यथाजातरूप को देखकर जो गौरव करते हैं, विनयादिक नहीं करते हैं वे सम्यक्त्व से रहित हैं।

भावार्थः––जिस यथाजातरूपको देखकर अणिमादिक ऋद्धियोंके धारक देव भी चरणोंमें गिरते हैं उसको देखकर मत्सरभावसे नमस्कार नहीं करते हैं उनके सम्यक्त्व कैसे? वे सम्यक्त्व से रहित ही हैं ।।२५।।

ज्यां रूप देखी साहजिक, आदर नहीं मत्सर वडे,
संयम तणो धारक भले ते होय पण कुदृष्टि छे। २४।

जे अमरवंदित शीलयुत मुनिओतणु रूप जोईने,
मिथ्याभिमान करे अरे! ते जीव दृष्टिविहीन छे। २५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अब आगे कहते हैं कि असंयमी वंदने योग्य नहीं है:–

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।। २६।।

असंयतं न वन्देत वस्त्रविहीनोऽपि स न वन्द्यते।
द्वौ अपि भवतः समानौ एकः अपि न संयतः भवति।। २६।।

अर्थः––असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिये। भावसंयम नहीं हो और बाह्यमें वस्त्र रहित हो वह भी वंदने योग्य नहीं है क्योंकि यह दोनों ही संयम रहित समान हैं, इनमें एक भी संयमी नहीं है।

भावार्थः––जिसने गृहस्थका भेष धारण किया है वह तो असंयमी है ही, परन्तु जिसने बाह्यमें नग्नरूप धारण किया है और अंतरंग में भावसंयम नहीं है तो वह भी असंयमी ही है, इसलिये यह दोनों ही असंयमी ही हैं। अतः दोनों ही वंदने योग्य नहीं हैं। यहाँ आशय ऐसा है, अर्थात्, ऐसा नहीं जानना चाहिये कि –जो आचार्य यथाजातरूपको दर्शन कहते आये हैं वह केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा, क्योंकि आचार्य तो बाह्य–अभ्यंतर सब परिग्रहसे रहित हो उसको यथाजातरूप कहते हैं। अभ्यंतर भावसंयम बिना बाह्य नग्न होनेसे तो कुछ संयम होता नहीं है ऐसा जानना। यहाँ कोई पूछे –बाह्य भेष शुद्ध हो, आचार निर्दोष पालन करनेवाले को अभ्यंतर भावमें कपट हो उसका निश्चय कैसे हो, तथा सूक्ष्मभाव केवलीगम्य हैं, मिथ्यात्व हो उसका निश्चय कैसे हो, निश्चय बिना वंदनेकी क्या रीति? उसका समाधान–– ऐसे कपटका जब तक निश्चय नहीं हो तब तक आचार शुद्ध देखकर वंदना करे उसमें दोष नहीं है, और कपट का किसी कारण से निश्चय हो जाये तब वंदना नहीं करें, केवलीगम्य मिथ्यात्वकी व्यवहारमें चर्चा नहीं है, छद्मस्थके ज्ञानगम्यकी चर्चा है। जो अपने ज्ञानका विषय ही नहीं उसका बाध–निर्बाध करने का व्यवहार नहीं है। सर्वज्ञभगवानकी भी यही आज्ञा है। व्यवहारी जीवको व्यवहारका ही शरण है ।।२६।।

[नोट – एक गुणका दूसरे आनुषंगिक गुण द्वारा निश्चय करना व्यवहार है, उसी का नाम व्यवहारी जीवको व्यवहार का शरण है।]

आगे इस ही अर्थको दृढ़ करते हुए कहते हैं:––

वंदो न अणसंयत, भले हो नग्न पण नहि वंद्य ते;
बन्ने समानपणुं धरे, अेकके न संयमवंत छे। २६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण विय जाइसंजुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ।। २७।।

नापि देहो वंद्यते नापि च कुलं नापि च जातिसंयुक्तः।
[1]कः वंद्यते गुणहीनः न खलु श्रमणः नैव श्रावकः भवति।। २७।।

अर्थः––देह को भी नहीं वंदते हैं और कुलको भी नहीं वंदते है तथा जातियुक्तको भी नहीं वंदते हैं क्योंकि गुण रहित हो उसको कौन वंदे? गुण बिना प्रकट मुनि नहीं, श्रावक भी नहीं है।

भावार्थः––लोकमें भी ऐसा न्याय है जो गुणहीन हो उसको कोई श्रेष्ठ नहीं मानता है, देह रूपवान हो तो क्या, कुल बड़ा होतो क्या, जाति बड़ी होतो क्या। क्योंकि, मोक्षमार्ग में तो दर्शन–ज्ञान–चारित्र गुण हैं। इनके बिना जाति, कुल, रूप आदि वंदनीय नहीं हैं, इनसे मुनि श्रावकपना नहीं आता है। मुनि–श्रावकपना तो समयदर्शन–ज्ञान–चारित्र से होता है, इसलिये जिनको धारण है वही वंदने योग्य हैं। जाति, कुल आदि वंदने योग्य नहीं हैं ।।२७।।

अब कहते हैं कि जो तप आदिसे संयुक्त हैं उनको नमस्कार करता हूँ :–

वंदमि [2]तवसावण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च।
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण[3] सुद्धभावेण।। २८।।

वन्दे तपः श्रमणान् शीलं च गुणं च ब्रह्मचर्यं च।
सिद्धिगमनं च तेषां सम्यक्त्वेन शुद्धभावेन।। २८।।

---

१. 'कं वन्देगुणहीनं' षपाहुड मे पाठ है ।
२. 'तव समण्णा' छाया –[तपः समापन्नात्] 'तवसउण्णा' 'तवसमाणं' ये तीन पाठ मुद्रित षट्प्राभृतकी पुस्तक तथा उसकी टिप्पणी में है। ३. 'सम्मत्तेणेव' ऐसा पाठ होने से पाद भंग नहीं होता।

नहि देह वंद्य न वंद्य कुल, नहि वंद्य जन जाति थकी;
गुणहीन क्यम वंदाय? ते साधु नथी, श्रावक नथी। २७।

सम्यक्त्वसंयुक्त शुद्ध भावे वंदुं छुं मुनिराजने,
तस ब्रह्मचर्य, सुशीलने, गुणने तथा शिवगमनने। २८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––आचार्य कहते हैं कि जो तप सहित श्रमणपना धारण करते हैं उनको तथा उनके शीलको, उनके गुणको व ब्रह्मचर्यको मैं सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से नमस्कार करता हूँ क्योंकि उनके उन गुणोंसे – सम्यक्त्व सहित शुद्धभावसे सिद्धि अर्थात् मोक्ष उसके प्रति गमन होता है।

भावार्थः––पहले कहा कि –देहादिक वंदने योग्य नहीं है, गुण वंदने योग्य हैं। अब यहाँ गुण सहित की वंदना की है। वहाँ जो तप धारण करके गृहस्थपना छोड़कर मुनि हो गये हैं उनको तथा उनके शील–गुण–ब्रह्मचर्य सम्यक्त्व सहित शुद्धभावसे संयुक्तहों उनकी वंदना की है। यहाँ शील शब्दसे उत्तरगुण और गुण शब्दसे मूलगुण तथा ब्रह्मचर्य शब्दसे आत्मस्वरूप में मग्नता समझना चाहिये ।।२८।।

आगे कोई आशंका करता है कि– संयमी को वंदने योग्य कहा तो समवसरणादि विभूति सहित तीर्थंकर हैं वे वंदने योग्य हैं या नहीं? उसका समाधान करने के लिये गाथा कहते हैं कि– जो तीर्थंकर परमदेव हैं वे सम्यक्त्वसहित तप के माहात्म्यसे तीर्थंकर पदवी पाते हैं वे वंदने योग्य हैं:–

चउसट्ठि चमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो।
अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणीणमित्तो।। २९।।

चतु:षष्टिचमरसहित: चतुस्त्रिंशद्भिरतिशयै: संयुक्त:।
[1]अनवरतबहुसत्त्वहित: कर्मक्षयकारणनिमित्त:[2]।। २९।।

अर्थः––जो चौसठ चंवरोंसे सहित हैं, चौंतीस अतिशय सहित हैं, निरन्तर बहुत प्राणियोंका हित जिनसे होता है ऐसे उपदेश के दाता हैं, और कर्मके क्षय का कारण हैं ऐसे तीर्थंकर परमदेव हैं वे वंदने योग्य हैं।

भावार्थः––यहाँ चौसठ चँवर चौंतीस अतिशय सहित विशेषणोंसे तो तीर्थंकरका प्रभुत्व बताया है और प्राणियोंका हित करना तथा कर्मक्षयका कारण विशेषणसे दूसरे

---

१. अणुचरबहुसत्तहिओ (अनुचरबहुसत्त्वहित:) मुद्रित षट्प्राभृतमें यह पाठ है।
२. 'निमित्ते' मुद्रित षट्प्राभृतमेंश ऐसा पाठ है।

चोसठ चमर संयुक्त ने चोत्रीस अतिशय युक्त जे;
बहुजीव हितकर सतत, कर्मविनाशकारण–हेतु छे। २९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उपकार करनेवालापना बताया है, इन दोनों ही कारणोंसे जगतमें वंदने पूजने योग्य हैं। इसलिये इसप्रकार भ्रम नहीं करना कि–तीर्थंकर कैसे पूज्य हैं, यह तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग हैं। उनके समवसरणादिक विभूति रचकर इन्द्रादिक भक्तजन महिमा करते हैं। इनके कुछ प्रयोजन नहीं हैं, स्वयं दिगम्बरत्व को धारण करते हुए अंतरिक्ष तिष्ठते हैं ऐसा जानना ।।२९।।

आगे मोक्ष किससे होता है सो कहते हैं:–

णाणेण दंसणेण व तवेण चरियेण संजमगुणेण।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो।। ३०।।

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन।
चतुर्णामपि समायोगे मोक्षः जिनशासने दृष्टः।। ३०।।

अर्थः––ज्ञान, दर्शन, तप, चारित्र से इन चारोंका समायोग होने पर जो संयमगुण हो उससे जिन शासनमें मोक्ष होना कहा है ।।३०।।

आगे इन ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपना कहते हैं:–

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं।। ३१।।

ज्ञानं नरस्य सारः सारः अपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम्।
सम्यक्त्वात् चरणं चरणात् भवति निर्वाणम्।। ३१।।

अर्थः––पहिले तो इस पुरुषके लिये ज्ञान सार है क्योंकि ज्ञानसे सब हेय–उपादेय जाने जाते हैं फिर उस पुरुषके लिये सम्यक्त्व निश्चय से सार है क्योंकि सम्यक्त्व बिना ज्ञान मिथ्या नाम पाता है, सम्यक्त्वसे चारित्र होता है क्योंकि सम्यक्त्व बिना चारित्र भी मिथ्या ही है, चारित्र से निर्वाण होता है।

संयम थकी, वा ज्ञान–दर्शन–चरण–तप छे चार जे;
अे चार केरा योगथी, मुक्ति कही जिनशासने। ३०।

रे! ज्ञान नरने सार छे, सम्यक्त्व नरने सार छे;
सम्यक्त्वथी चारित्र ने चारित्रथी मुक्ति लहे। ३१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ:––चारित्रसे निर्वाण होता है और चारित्र ज्ञानपूर्वक सत्यार्थ होता है तथा ज्ञान सम्यक्त्वपूर्वक सत्यार्थ होता है इसप्रकार विचार करने से सम्यक्त्वके सारपना आया। इसलिये पहिले तो सम्यक्त्व सार है, पीछे ज्ञान चारित्र सार हैं। पहिले ज्ञानसे पदार्थोंको जानते हैं अत: पहिले ज्ञान सार है तो भी सम्यक्त्व बिना उसका भी सारपना नहीं है, ऐसा जानना ।।३१।।

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं:–

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
[१]चोउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो।। ३२।।

ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन।
चतुर्णामपि समायोगे सिद्धा जीवा न सन्देह:।। ३२।।

अर्थ:––ज्ञान और दर्शनके होनेपर सम्यक्त्व सहित तप करके चारित्रपूर्वक इन चारों का समायोग होने से जीव सिद्ध हुए हैं, इसमें संदेह नहीं है।

भावार्थ:––पहिले जो सिद्ध हुए हैं वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों के संयोग से ही हुए हैं यह जिनवचन हैं, इसमें संदेह नहीं है ।।३२।।

आगे कहते हैं कि –लोकमें सम्यग्दर्शनरूप रत्न अमोलक है वह देव–दानवोंसे पूज्य है:–

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए।। ३३।।

कल्याणपरंपरया लभंते जीवा: विशुद्धसम्यक्त्वम्।
सम्यग्दर्शनरत्नं अर्ध्यते सुरासुरे लोके।। ३३।।

---

१. पाठान्तर :– चोण्हं

[१]दृग–ज्ञानथी, सम्यक्त्वयुत चारित्रथी ने तप थकी,
–अे चारना योगे जीवो सिद्धि वरे, शंका नथी। ३२।

कल्याण श्रेणी साथ पामे ध्रुव समकित शुद्धने;
सुर–असुर केरा लोकमां सम्यक्त्वरत्न पुजाय छे। ३३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––जीव विशुद्ध सम्यक्त्व को कल्याणकी परम्परा सहित पाते हैं इसलिये सम्यग्दर्शन रत्न है वह इस सुर–असुरोंसे भरे हुए लोकमें पूज्य है।

भावार्थः––विशुद्ध अर्थात् पच्चीस मलदोषोंसे रहित निरतिचार सन्थम्यक्त्वसे कल्याणकी परम्परा अर्थात् तीर्थंकर पद पाते हैं, इसीलिये यह सम्यक्त्व–रत्न लोकमें सब देव, दानव और मनुष्योंसे पूज्य होता है। तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारण सोलहकारण भावना कही हैं उनमें पहली दर्शनविशुद्धि है वही प्रधान है, यही विनयादिक पंद्रह भावनाओंका कारण है, इसलिये सम्यग्दर्शन के ही प्रधानपना है।।३३।।

अब कहते हैं कि जो उत्तम गोत्र सहित मनुष्यत्वको पाकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति से मोक्ष पाते हैं यह सम्यक्त्व का महात्म्य है:–

लद्धूण[१] य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं[२] च लहदि मोक्खं च।। ३४।।

लब्ध्वा च मनुजत्त्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण।
लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षयसुखं च मोक्षं च।। ३४।।

अर्थः––उत्तम गोत्र सहित मनुष्यपना प्रत्यक्ष प्राप्त करके और वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करके अविनाशी सुखरूप केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, तथा उस सुख सहित मोक्ष प्राप्त करते हैं।

भावार्थः––यह सब सम्यक्त्वका महात्म्य है ।।३४।।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि –जो सम्यक्त्व के प्रभाव से मोक्ष प्राप्त करते हैं वे तत्काल ही प्राप्त करते हैं या कुछ अवस्थान भी रहते हैं? उसके समाधानरूप गाथा कहते हैं:–

---

१. दट्ठूण पाठान्तर।
२. 'अक्खयसोक्खं लहदि मोक्खं च' पाठान्तर ।

रे! गोत्र उत्तमथी सहित मनुजत्वने जीव पामीने,
संप्राप्त करी सम्यक्त्व, अक्षय सौख्य ने मुक्ति लहे। ३४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठु सुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीस अइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया।। ३५।।

विहरति यावत् जिनेन्द्रः सहस्राष्ट लक्षणैः संयुक्तः।
चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता।। ३५।।

अर्थः––केवलज्ञान होने के बाद जिनेन्द्र जबतक इस लोक में आर्यखंडमें विहार करते हैं तबतक उनकी यह प्रतिमा अर्थात् शरीर सहित प्रतिबिम्ब उसको 'थावर' प्रतिमा इस नाम से कहते हैं। वे जिनेन्द्र कैसे हैं। एक हजार आठ लक्षणोंसे संयुक्त हैं। वहाँ श्री वृक्षको आदि लेकर एकसौ आठ तो लक्षण होते हैं। तिल मुसको आदि लेकर नौ सौ व्यंजन होते हैं। चौंतीस अतिशयोंमें दस तो जन्म से ही लिये हुए उत्पन्न होते हैं:––– १ निःस्वेदता, २ निर्मलता, ३ श्वेतरुधिरता, ४ समचतुरस्र संसथान, ५ वज्रवृष्खानाराच संहनन, ६ सुरूपता, ७ सुगंधता, ८ सुलक्षणता, ९ अतुलवीर्य, १० हितमित वचन–––ऐसे दस होते हैं। घातिया कर्मोंके क्षय होने पर दस होते हैं:– १ शतयोजन सुभिक्षता, २ आकाशगमन, ३ प्राणिवधका अभाव, ४ कवलाहारका अभाव, ५ उपसगरका अभाव, ६ चतुर्मुखपना, ७ सर्वविद्या प्रभुत्व, ८ छाया रहितत्व, ९ लोचन निस्पंदन रहितत्व, १० केश–नख वृद्धि रहितत्व ऐसे दस होते हैं। देवों द्वारा किये हुए चौदह होते हैं:–––सकलार्द्धमागधी भाषा, २ सर्वजीव मैत्री भाव, ३ सर्वऋतुफलपुष्प प्रादुर्भाव, ४ दर्पणके समान पृथ्वी होना, ५ मंद सुगंध पवन का चलना, ६ सारे संसार में आनन्दका होना, ७ भूमी कंटकादिक रहित होना, ८ देवों द्धारा गंधोदककी वर्षा होना, ९ विहारके समय चरण कमलके नीचे देवों द्वारा सुवर्णमयी कमलोंकी रचना होना, १० भूमि धान्यनिष्पत्ति सहित होना, ११ दिशा–ाकाश निर्मल होना, १२ देवोंका अह्मानन शब्द होना, १३ धर्मचक्रा आगे चलना, १४ अष्ट मंगल द्रव्य होना–––ऐसे चौदह होते हैं। सब मिलकर चौंतीस हो गये। आठ प्रातिहार्य होते हैं, उनके नामः–––१ अशोकवृक्ष २ पुष्पवृष्टि, ३ दिव्यध्वनी, ४ चामर, ५ सिंहासन, ६ छत्र, ७ भामंडल, ८ दुन्दुभिवादित्र ऐसे आठ होते हैं। ऐसे अतिशय सहित अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य सहित––– तीर्थंकर परमदेव जबतक जीवोंके सम्बोधन निमित्त विहार करते विराजते हैं तबतक स्थावर प्रतिमा कहलाते हैं। ऐसे स्थावर प्रतिमा कहने से तीर्थंकर केवलज्ञान होने के बाद में अवस्थान बताया है और धातुपाषाण की प्रतिमा बना कर स्थापित करते हैं वह इसीका व्यवहार है ।।३५।।

चोत्रीस अतिशययुक्त, अष्ट सहस्र लक्षणधरपणे;
जिनचन्द्र विहरे ज्यां लगी, ते बिंब स्थावर उक्त छे। ३५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कर्मोंका नाश करके मोक्ष प्राप्त करते हैं ऐसा कहते हैं:–

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण सं।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता।। ३६।।

द्वादशविधतषोयुक्ता: कर्मक्षपयित्वा विधिबलेन स्वीयम्।
व्युत्सर्गत्यक्तदेहा निर्वाणमनुत्तंर प्राप्ता:।। ३६।।

अर्थ:––जो बारह प्रकारके तप से संयुक्त होते हुए विधिके बलसे अपने कर्मको नष्टकर 'वोसट्टचत्तदेहा' अर्थात् जिन्होंने भिन्न कर छोड़ दिया है देह, ऐसे होकर वे अनुत्तर अर्थात् जिससे आगे अन्य अवस्था नहीं है ऐसी निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ:––जो तप द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर जबतक विहार करें तब तक अवस्थान रहें, पीछे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्रीरूप विधिके बलसे कर्म नष्टकर व्युत्सर्ग द्वारा शरीरको छोड़कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। यहाँ आशय ऐसा है कि जब निर्वाण को प्राप्त होते हैं तब लोक शिखर पर जाकर विराजते हैं, वहाँ गमन में एक समय लगता है, उस समय जंगम प्रतिमा कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रसे मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसमें सम्यग्दर्शन प्रधान है। इस पाहुडमें सम्यग्दर्शनके प्रधान पने का व्याख्यान किया है ।।३६।।

द्वादश तपे संयुक्त, निज कर्मो खपावी विधिबले,
व्युत्सर्गथी तनने तजी, पाम्या अनुत्तर मोक्षने। ३६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

❋ सवैया छन्द ❋

मोक्ष उपाय कह्यो जिनराज जु सम्यगदर्शन ज्ञान चरित्रा।
तामधि सम्यग्दर्शन मुख्य भये निज बोध फलै सु चरित्रा।।
जे नर आगम जानि करै पहचानि यथावत मित्रा।
घाति खिपाय रु केवल पाय अघाति हने लहि मोक्ष पवित्रा ।।१।।

❋ दोहा ❋

नमुं देव गुरु धर्मकूं , जिन आगमकूं मानि।
जा प्रसाद पायो अमल , सम्यग्दर्शन जानि।।२।।

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामि विरचित अष्टप्राभृत में प्रथम दर्शनप्राभृत और
उसकी जयचन्द्रजी छाबड़ा कृत देषभाषामयवचनिका का
हिन्दी भाषानुवाद समाप्त हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

सूत्रपाहुड

- २ -

दोहा

वीर जिनेश्वरको नमूं गौतम गणधर लार ।
काल पंचमा आदिमें भए सूत्र करतार ।।१।।

इसप्रकार मंगल करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत गाथा बद्ध सूत्रपाहुडकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं:–

प्रथम ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य, सूत्रकी महिमागर्भित सूत्रका स्वरूप बताते हैं:–

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं।। १।।

अर्हभ्दाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितं सम्यक्।
सूत्रार्थमार्गणार्थं श्रमणाः साध्यंति परमार्थम्।। १।।

अर्थः––जो गणधर देवोंने सम्यक् प्रकार पूर्वापरविरोध रहित गूंथा (रचना की) वह सूत्र है। वह सूत्र कैसा है?–सूत्रका जो कुछ अर्थ है उसको मार्गण अर्थात् ढूंढने–जानने का जिसमें प्रयोजन है और ऐसे ही सूत्रके द्वारा श्रमण (मुनि) परमार्थ अर्थात् उत्कृष्ट अर्थ प्रयोजन जो अविनाशी मोक्षको साधते हैं। यहाँ गाथामें 'सूत्र' इसप्रकार विशेष्य पद नहीं कहा तो भी विशेषणोंकी सामर्थ्यसे लिया है।

भावार्थः––जो अरहंत सर्वज्ञ द्वारा भाषित है तथा गणधरदेवोंने अक्षर पद वाक्यमयी गूंथा है और सूत्रके अर्थको जाननेका ही जिसमें अर्थ–प्रयोजन है ऐसे सूत्रसे मुनि परमार्थ जो मोक्ष असको साधते हैं। अन्य जो अक्षपाद, जैमिनि, कपिल, सुगत आदि छद्मस्थोंके द्वारा रचे हुए कल्पित सूत्र हैं, उनसे परमार्थकी सिद्धि नहीं है, इसप्रकार आशय जानना ।।१।।

अर्हंतभाषित–अर्थमय, गणधरसुविरचित सूत्र छे;
सूत्रार्थना शोधन वडे साधे श्रमण परमार्थने। १।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार सूत्रका अर्थ आचार्योंकी परम्परासे प्रवर्तता है उसको जानकर मोक्षमार्गको साधते हैं वे भव्य हैं:–

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठ आइरियपरंपरेण मग्गेण।
णाऊण दुविह सुत्तं वट्टदि सिवमग्गे जो भव्वो।। २।।

सूत्रे यत् सुदृष्टं आचार्यपरंपरेण मार्गेण।
ज्ञात्वा द्विविधं सूत्रं वर्त्तते शिवमार्गे यः भव्यः।। २।।

अर्थ:––सर्वज्ञभाषित सूत्रमें जो कुछ भले प्रकार कहा है उसको आचार्योंकी परम्परारूप मार्गसे दो प्रकारके सूत्रको शब्दमय और अर्थमय जानकर मोक्षमार्गमें प्रवर्तता है वह भव्यजीव है, मोक्ष पाने के योग्य है।

भावार्थ:––यहाँ कोई कहे–अरहंत द्वारा भाषित और गणधर देवोंसे गूंथा हुआ सूत्र तो द्वादशांग रूप है, वह तो इस काल में दिखता नहीं है, तब परमार्थरूप मोक्षमार्ग कैसे सधे। इसका करने के लिये यह गाथा है–अरहंत भाषित, गणधर रचित सूत्र में जो उपदेश है उसको आचार्योंकी परम्परासे जानते हैं, उसको शब्द और अर्थके द्वारा जानकर जो मोक्षमार्ग को साधता है वह मोक्ष होने योग्य भव्य है। यहाँ फिर कोई पूछे कि–आचार्यों की परम्परा क्या है? अन्य ग्रन्थोंमें आचार्यों की परम्परा निम्नप्रकारसे कही गई है:–

श्री वर्धमान तीर्थंकर सर्वज्ञ देवके पीछे तीन केवलज्ञानी हुए–––१ गौतम, २ सुधर्म, ३ जम्बू। इनके पीछे पाँच श्रुतकेवली हुए; इनको द्वादशांग सूत्र का ज्ञान था, १ विष्णु, २ नंदिमित्र, ३ अपराजित, ४ गौवर्द्धन, ५ भद्रबाहु। इनके पीछे दस पूर्वके ज्ञाता ग्यारह हुए: १ विशाख, २ प्रौष्ठिल, ३ क्षत्रिय, ४ जयसेन, ५ नागसेन, ६ सिद्धार्थ, ७ धृतिषेण, ८ विजय, ९ बुद्धिल, १० गंगदेव, ११ धर्मसेन। इनके पीछे पाँच ग्यारह अंगों के धारक हुए; १ नक्षत्र, २ जयपाल, पांडु, ४ धर्वुवसेन, ५ कंस। इनके पीछे एक अंग के धारक चार हुए, १ सुभद्र, २ यशोभद्र, ३ भद्रबाहु, ४ लोहाचार्य। इनके पीछे एक अंगके पूर्णज्ञानी की तो व्युच्छित्ति (अभाव) हुई और अंगके एकदेश अर्थके ज्ञाता आचार्य हुए। इनमें से कुछ एक नाम ये हैं––अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समंतभद्र, शिवकोटि, पूज्यपाद, वीरसेन, जिनसेन, नेमिचन्द्र इत्यादि।

सूत्रे सुदर्शित जेह, ते सूरिगणपरंपर मार्गथी
जाणी द्विधा, शिवपंथ वर्ते जीव जे ते भव्य छे। २।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इनके पीछे इनकी परिपाटी में आचार्य हुए, इनके अर्थका व्युच्छेद नहीं हुआ, ऐसी दिगम्बरों के संप्रदाय में प्ररूपणा यथार्थ है। अन्य श्वेताम्बरादिक वर्धमान स्वामीसे परम्परा मिलाते हैं वह कल्पित है क्योंकि भद्रबाहु स्वामीके पीछे कई मुनि अवस्था से भ्रष्ट हुए, ये अर्द्धफालक कहलाये। इनकी संप्रदाय में श्वेताम्बर हुए, इनमें 'देवर्द्धिगणी' नामक साधु इनकी संप्रदाय में हुआ है, इसने सूत्र बनाये हैं सो इनसे शिथिलाचारको पुष्ट करने के लिये कल्पित कथा तथा कल्पित आचरणका कथन किया है वह प्रमाणभूत नहीं है। पंचमकालमें जैसाभासोंके शिथिलाचारकी अधिकता है सो युक्त है, इस काल में सच्चे मोक्षमार्गी विरलता है, इसलिये शिथिलाचारियों के सच्चा मोक्षमार्ग कहाँसे हो—इसप्रकार जानना।

अब यहाँ कुछ द्वादशांगसूत्र तथा अगंबाह्यश्रुत का वर्णन लिखते हैं—तीर्थंकरके मुखसे उत्पन्न हुई सर्व भाषामय दिव्यध्वनिको सुन करके चार ज्ञान, सप्तऋद्धिके धारक गणधर देवोंने अक्षर पदमय सूत्ररचना की। सूत्र दो प्राकर के हैं———१ अंग, अंगबाह्य। इनके अपुनरुक्त अक्षरोंकी संख्या बीस अंक प्रमाण है। ये अंक—
१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अक्षर हैं। इनके पद करें तब एक मध्यपदके अक्षर सोलहसौ चौंतीस करोड तियासी लाख सात हजार आठसौ अठ्यासी कहें हैं। इनका भाग देनेपर एकसौ बारह करोड़ तियासी लाख अट्ठावन हजार पाँच इतने पावें, ये पद बारह अंगरूप सूत्रके पद हैं ओर अविशेष बीस अंकोंमें अक्षर रहे, ये अंगबाह्य सूत्र कहलाते हैं। ये आठ करोड एक लाख आठ हजार एकसौ पिचहत्तर अक्षर हैं, इन अक्षरोंमें चौदह प्रकीर्णकरूप सूत्र रचना है।

अब इन द्वादशांगरूप सूत्ररचनाके नाम और पद संख्या लिखते हैं—प्रथम अंग आचारांग है। इसमें मुनीश्वरोंके आचारका निरूपण है, इसके पद अठारह हजार है। दूसरा सूत्रकृत अंग है, इसमें ज्ञानका विनय आदिक अथवा धर्मक्रियामें स्वमत परमतकी क्रियाके विशेषका निरूपण है, इसके पद छत्तीस हजार हैं। तीसरा स्थानअंग है इसमें पदार्थोंके एक आदि स्थानोंका निरूपण है जैसे— जीव सामान्यरूप से एक प्रकार, विशेषरूपसे दो प्रकार , तीन प्रकार इत्यादि ऐसे स्थान कहे हैं, इसके पद बियालीस हजार हैं। चौथा समवाय अंग है, इसमें जीवादिक छह द्रव्योंका द्रव्य क्षेत्र कालादि द्वारा वणरन है, इसके पद एक लाख चौसठ हजार हैं।

पाँचवाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग है, इसमें जीवके अस्ति—नास्ति आदिक साठ हजार प्रश्न गणधरदेवों ने तीर्थंकरोंके निकट किये उनका वर्णन है। इसके पद दो लाख अट्ठाईस हजार हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

छठा ज्ञातृधर्म कथा नाम का अंग है, इसमें तीर्थंकरोहके धर्म ही कथा, जीवादिक पदार्थोंके सवभाव का वर्णन तथा गणधरके प्रश्नोंके उत्तर का वर्णन है, इसके पद पाँच लाख छप्पन हजार हैं। सातवाँ उपासकाध्ययन नामक अंग है, इसमें ग्यारह प्रतिमा आदि श्रावकके आचारका वर्णन है, इसके पद ग्यारह लाख सत्तर हजार हैं। आठवाँ अन्तकृतदशांग नामका अंग है, इसमें एक एक तीर्थंकर के काल में दस दस अन्तकृत केवली हुए उनका वर्णन है, इसके पद तेईस लाख अट्ठाईस हजार हैं।

नौवाँ अनुत्तरोपपादक नामक अंग है, इसमें एक–एक तीर्थंकरके कालमें दस–दस महामुनि घोर उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानमें उत्पन्न हुए उनका वर्णन है, इसके पद बाणवै लाख चवालीस हजार हैं। दसवाँ प्रश्नव्याकरण नामक अंग है, इसमें अतीत–अनागत काल सम्बन्धी शुभ–अशुभका प्रश्न कोई करे उसका उत्तर यथार्थ कहनेके उपायका वर्णन है तथा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी इन चार कथाओंका भी इस अंगमें वर्णन है, इसके पद तिराणवे लाख सोलह हजार हैं। ग्यारहवाँ विपाकसूत्र नामका अंग है, इसमें कर्मके उदयका तीव्र–मंद अनुभागका, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा लिये हुए वर्णन है, इसके पद एक करोड चौरासी लाख हैं। इसप्रकार ग्यारह अंग हैं, इनके पदोंकी संख्याको जोड़ देने पर चार करोड़ पंद्रह लाख दो हजार पद होते हैं।

बारहवाँ दृष्टिवाद नामक अंग है, इसमें मिथ्यादर्शन संबंधी तीनसो त्रेसठ कुवादोंका वर्णन है। इसके पद एकसौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पनहजार पाँच पद हैं। इस बारहवें अंगके पाँच अधिकार हैं। १ परिकर्म, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ पूर्वगत, ५ चूलिका। परिकर्ममें गणितके करणसूत्र हैं; इसके पाँच भेद हैं–––प्रथम चंद्रप्रज्ञप्ति है, इसमें चन्द्रमाके गमनादिक, परिवार, वृद्धि–हानि, ग्रह आदिका वर्णन है, इसके पद छत्तीस लाख पाँच हजार हैं। दूसरा सूर्यप्रज्ञप्ति है, इसमें सूर्यकी ऋद्धि, परिवार, गमन आदिका वर्णन है, इसके पद पांच लाख तीन हजार हैं। तीसरा जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति है, इसमें जम्बूद्वीप संबंधी मेरु, गिरि, क्षेत्रे, कुलाचल आदिका वर्णन है, इसके पद तीन लाख पच्चीस हजार हैं। चौथा द्वीप–सागर प्रज्ञप्ति है, इसमें द्वीपसागरका स्वरूप तथा वहाँ स्थित ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी देवोंके आवास तथा वहाँ स्थित जिनमंदिरोंका वर्णन है, इसके पद बावनलाख छत्तीस हजार हैं। पाँचवाँ व्याख्या प्रज्ञाप्ति है, इसमें जीव, अजीव पदार्थोंके प्रमाणका वर्णन है, इसके पद चौरासी लाख छत्तीस हजार हैं। इस प्रकार परिकर्मके पांच भेदोंके पद जोड़ने पर एक करोड़ इक्यासी लाख पांच हजार होते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बारहवें अंगका दूसरा भेद 'सूत्र' नामका है, इसमें मिथ्यादर्शन सम्बन्धी तीनसौ त्रेसठ कुवादोंका पूर्वपक्ष लेकर उनको जीव पदार्थ पर लगाने आदिका वर्णन है, इसके पद अट्ठाईस लाख हैं। बारहवें अंगका तीसरा भेद 'प्रथमानुयोग' है। इसमें प्रथम जीवके उपदेश योग्य तीर्थंकर आदि त्रेसठ शलाका पुरुषोंका वर्णन है, इसके पद पाँच हजार हैं। बारहवें अंगका चौथा भेद 'पूर्वगत' है, इसके चौदह भेद हैं———प्रथम 'उत्पाद' नामका पूर्व है, इसमें जीव आदि वस्तुओंके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य आदि अनेक धर्मोंकी अपेक्षा भेद वर्णन है, इसके पद एक करोड़ हैं। दूसरा 'अग्रायणी' नामक पूर्व है, इसमें सातसौ सुनय, दुर्नयका और षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नव पदार्थोंका वर्णन है, इसके छियानवे लाख पद हैं।

तीसरा 'वीर्यानुवाद' नामका पूर्व है, इसमें छह द्रव्योंकी शक्तिरूप वीर्यका वर्णन है, इसके पद सत्तर लाख हैं। चौथा 'अस्तिनास्तिप्रवाद' नामक पूर्व है, इसमें जीवादिक वस्तुका स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अस्ति, पररूप, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा नास्ति आदि अनेक धर्मोंमें विधि निषेध करके सप्तभंग द्वारा कथंचित् विरोध मेटनेरूप मुख्य–गौण करके वर्णन है, इसके पद साठ लाख हैं। पाँचवाँ 'ज्ञानप्रवाद' नामका पूर्व है, इसमें ज्ञानके भेदोंका स्वरूप, संख्या, विषय, फल आदिका वर्णन है, इसमें पद एक कम करोड़ हैं। छठा 'सत्यप्रवाद' नामक पूर्व है, इसमें सत्य, असत्य आदि वचनोंकी अनेक प्रकारकी प्रवृत्तिका वर्णन है, इसके पद एक करोड़ छह हैं। सातवाँ 'आत्मप्रवाद' नामक पूर्व है, इसमें आत्मा (जीव) पदार्थके कर्ता, भोक्ता आदि अनेक धर्मोंका निश्चय–व्यवहारनयकी अपेक्षा वर्णन है, इसके पद छब्बीस करोड़ हैं।

आठवाँ 'कर्मप्रवाद' नामका पूर्व है, इसमें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके बंध, सत्व, उदय, उदीरणा आदिका तथा क्रियारूप कर्मोंका वर्णन है, इसके पद एक करोड़ अस्सी लाख हैं। नौवाँ 'प्रत्याख्यान' नामका पूर्व है, इसमें पापके त्यागका अनेक प्रकारसे वर्णन है, इसके पद चौरासी लाख हैं। दसवाँ 'विद्यानुवाद' नामका पूर्व है। इसमें सातसौ क्षुद्र विद्या और पांचसौ महाविद्याओंके स्वरूप, साधन, मंत्रादिक और सिद्ध हुए इनके फलका वर्णन है तथा अष्टांग निमित्तज्ञानका वर्णन है, इनके पद एक करोड़ दस लाख हैं। ग्यारहवाँ 'कल्याणवाद' नामक पूर्व है, इसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदिके गर्भ आदि कल्याणकका उत्सव तथा उसके कारण षोडश भावनादिके, तपश्चरणादिक तथा चन्द्रमा, सूर्यादिकके गमन विशेष आदिका वर्णन है, इसके पद छब्बीस करोड़ हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बारहवाँ 'प्राणवाद' नामक पूर्व है, इसमें आठ प्रकार वैद्यक तथा भूतादिककी व्याधिके दूर करनेके मंत्रादिक तथा विष दूर करनेके उपाय और स्वरोदय आदिका वर्णन है, इसके तेरह करोड़ पद हैं। तेरहवाँ 'क्रियाविशाल' नामक पूर्व है, इसमें संगीतशास्त्र, छंद, अलंकारादिक तथा चौसठ कला, गर्भाधानादि चौरासी क्रिया, सम्यग्दर्शन आदि एकसौ आठ क्रिया, देव वंदनादि पच्चीस क्रिया, नित्य–नैमित्तिक क्रिया इत्यादिका वर्णन है, इसके पद नौ करोड़ हैं। चौदहवाँ 'त्रिलोकबिंदुसार' नामक पूर्व है, इसमें तीनलोकका स्वरूप और बीजगणितका तथा मोक्षका स्वरूप तथा मोक्षकी कारणभूत क्रियाका स्वरूप ईत्यादिका वर्णन है, इसके पद बारह करोड़ पचास लाख हैं। ऐसे चौदह पूर्व हैं, इनके सब पदोंका जोड़ पिच्याणवे करोड़ पचास लाख है।

बारहवें अंगका पाँचवाँ भेद चूलिका है, इसके पाँच भेद हैं, इनके पद दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ हैं। इसके प्रथम भेद जलगता चूलिकामें जलका स्तंभन करना, जलमें गमन करना; अग्निगता चूलिकामें अग्नि स्तंभन करना, अग्निमें प्रवेश करना, अग्निका भक्षण करना इत्यादिका कारणभूत मंत्र–तंत्रादिकका प्ररूपण है, इसके पद दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ हैं। इतने इतने ही पद अन्य चार चूलिका के जानने। दूसरा भेद स्थलगता चूलिका है, इसमें मेरु, पर्वत, भूमि इत्यादिमें प्रवेश करना, शीघ्र गमन करना इत्यादि क्रियाके कारण मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादिकका प्ररूपण है।

तीसरा भेद मायागता चूलिका है, इसमें मायामयी इन्द्रजाल विक्रियाके कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादिकका प्ररूपण है। चौथा भेद रूपगता चूलिका है, इसमें सिंह, हाथी, घोड़ा, बैल, हिरण इत्यादि अनेक प्रकारके रूप बना लेनेके कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदिका प्ररूपण है, तथा चित्राम, काष्ठलेपादिकका लक्षण वर्णन है और धातु रसायनका निरूपण है। पाँचवाँ भेद आकाशगता चूलिका है, इसमें आकाशमें गमनादिकके कारणभूत मंत्र, तंत्र, तंत्रादिकका प्ररूपण है। ऐसे बारहवाँ अंग है। इस प्रकारसे बारह अंगसूत्र हैं।

अंगबाह्य श्रुतके चौदह प्रकीर्णक हैं। प्रथम प्रकीर्णक सामायिक नामक है, इसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेदसे छह प्रकार इत्यादि सामायिकका विशेषरूपसे वर्णन है। दूसरा चतुर्विंशतिस्तव नामका प्रकीर्णक है, इसमें चौबीस तीर्थंकरोंकी महिमाका वर्णन है। तीसरा वंदना नामका प्रकीर्णक है, उसमें एक तीर्थंकर के आश्रय वंदना स्तुतिका वर्णन है। चौथा प्रतिक्रमण नामका प्रकीर्णक है, इसमें सात प्रकारके प्रतिक्रमणके वर्णन हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पाँचवां वैनयिक नामका प्रकीर्णक है, इसमें पाँच प्रकारके विनयका वर्णन है।–छठा कृतिकर्म के नामका प्रकीर्णक है, इसमें अरिहंत आदिकी वंदनाकी क्रियाका वर्णन है। सातवाँ दशवैकालिक नामका प्रकीर्णक है, इसमें मुनिका आचार, आहारकी शुद्धता आदिका वर्णन है। आठवाँ उत्तराध्ययन नामका प्रकीर्णक है। इसमें परीषह–उपसर्गको सहनेके विधानका वर्णन है।

नवमाँ कल्पव्यवहार नामका प्रकीर्णक है, इसमें मुनिके योग्य आचरण और अयोग्य सेवनके प्रायश्चितोंका वर्णन है। दसवाँ कल्पाकल्प नामक प्रकीर्णक है, इसमें मुनिको यह योग्य है यह अयोग्य है ऐसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा वर्णन है। ग्यारहवाँ महाकल्प नामका प्रकीर्णक है, इसमें जिनकल्पी मुनिके प्रतिमायोग, त्रिकालयोगका प्ररूपण है तथा स्थविरकल्पी मुनिओंकी प्रवृत्तिका वर्णन है। बारहवाँ पुंडरीक नामका प्रकीर्णक है, इसमें चार प्रकारके देवोमें उत्पन्न होनेके कारणोंका वर्णन है। तेरहवाँ महापुंडरीक नामका प्रकीर्णक है, इसमें इन्द्रादिक बड़ी ऋद्धिके धारक देवोंमें उत्पन्न होनेके कारणोंका प्ररूपण है। चौदहवाँ निषिद्धिका नामक प्रकीर्णक है, इसमें अनेक प्रकारके दोषोकी शुद्धताके निमित्त प्रायश्चितोंका प्ररूपण है, यह प्रायश्चित शास्त्र है, इसका नाम निसितिका भी है। इसप्रकार अंगबाह्यश्रुत चौदह प्रकारका है।

पूर्वोकी उत्पत्ति पर्यायसमास ज्ञानसे लगाकर पूर्वज्ञान पर्यंत बीस भेद हैं इनका विशेष वर्णन, श्रुतज्ञान का वर्णन गोम्मटसार नामके ग्रंथमें विस्तार पूर्वक है वहाँ से जानना ।। २।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि जो सूत्रमें प्रवीण है वह संसार का नाश करता है––

[१]सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूइ जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि।। ३।।

सूत्रे ज्ञायमानः भवस्य भवनाशनं च सः करोति।
सूची यथा असूत्रा नश्यति सूत्रेण सह नापि।।३।।

अर्थः––जो पुरुष सूत्र को जानने वाला है, प्रवीण है वह संसारमें जन्म होने का नाश करता है। जैसे लोहे की सुई सूत्र (डोरे) के बिना हो तो नष्ट हो जाये और डोरा सहित हो तो नष्ट नहीं हो यह दृष्टांत है।

भावार्थः––सूत्रका ज्ञाता हो वह संसारका नाश करता है, जैसे सुई डोरा सहित हो तो दृष्टिगोचर होकर मिल जाये, कभी भी नष्ट न हो और डोरे के बिना हो तो नष्ट हो तो दिखे नहीं, नष्ट हो जाये इसप्रकार जानना ।।३।।

आगे सुई के दृष्टान्त का दार्ष्टांत कहते हैं–––

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेदण पच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि।। ४।।

पुरुषोऽपि यः ससूत्रः न विनश्यति स गतोऽपि संसारे।
सच्चेतनप्रत्यक्षेण नाशयति तं सः अदृश्यमानोऽपि।। ४।।

अर्थः––जैसे सूत्रसहित सूई नष्ट नहीं होती है वैसे ही जो पुरुष भी संसार में

---

१ सुत्तम्मि । २ सूत्रहि पाठान्तर षट्पाहुड

सूत्रज्ञ जीव करे विनष्ट भवो तणा उत्पादने,
खोवाय सोय असूत्र, सोय ससूत्र नहि खोवाय छे। ३।

आत्माय तेम ससूत्र नहि खोवाय, हो भवमां भले,
अदृष्ट पण ते स्वानुभवप्रत्यक्षथी भवने हणे। ४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गत हो रहा है, अपना रूप अपने दृष्टिगोचर नहीं है तो भी सूत्रसहित हो (सूत्रका ज्ञाता हो) तो उसके आत्मा सत्तारूप चैतन्य चमत्कारमयी स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष अनुभव में आती है इसलिये गत नहीं है नष्ट नहीं हुआ है, वह जिस संसार में गत है उस संसारका नाश करता है।

भावार्थः––यद्यपि आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है तो भी सूत्रके ज्ञाताके स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अनुभवगोचर है, वह सूत्रका ज्ञाता संसार का नाश करता है, आप प्रगट होता है, इसलिये सुईका दृष्टांत युक्त है ।।४।।

आगे सूत्रमें अर्थ क्या है वह कहते हैं–––

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी।।५।।
सूत्रार्थं जिनभणितं जीवाजीवादिबहुविधमर्थम्।
हेयाहेयं च तथा यो जानाति स हि सद्दृष्टिः।।५।।

अर्थः––सूत्रका अर्थ जिन सर्वज्ञ देवने कहा है, और सूत्र का अर्थ जीव अजीव बहुत प्रकार का है तथा हेय अर्थात् त्यागने योग्य और अहेय अर्थात् त्यागने योग्य नहीं, इसप्रकार आत्माको जो जानता है वह प्रगट सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थः––सर्वज्ञ भाषित सूत्र में जीवादिक नव पदार्थ और इनमें हेय उपादेय इसप्रकार बहुत प्रकारसे व्याख्यान है उसको जो जानता है वह श्रद्धावान सम्यग्दृष्टि होता है ।।५।।

आगे कहते हैं कि जिनभाषित सूत्र व्यवहार–परमाथररूप दो प्रकार है, –सको जानकर योगीश्वर शुद्धभाव करके सुख को पाते हैं––––

जिनसूत्रमां भाखेल जीव–अजीव आदि पदार्थने,
हेयत्व–अणहेयत्व सह जाणे, सुदृष्टि तेह छे। ५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं।। ६।।

यत्सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथा च ज्ञानीहि परमार्थम्।
तं ज्ञात्वा योगी लभते सुखं क्षिपते मलपुंजं।। ६।।

अर्थः––जो जिन भाषित सूत्र है, वह व्यवहार तथा परमार्थरूप है, उसको योगीश्वर जानकर सुख पाते हैं और मलपुंज अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मका क्षेपण करते हैं।

भावार्थः––जिन सूत्र को व्यवहार–परमार्थरूप जानकर योगीश्वर (मुनि) कर्मों का नाश करके अविनाशी सुखरूप मोक्षको पाते हैं। परमार्थ (निश्चय) और व्यवहार इनका संक्षेप स्वरूप इसप्रकार है––जिन आगम की व्याख्या चार अनुयोगरूप शास्त्रोंमें दो प्रकार से सिद्ध है: एक आगमरूप और दूसरा अध्यात्मरूप। वहाँ सामान्य–विशेष रूप से सब पदार्थों का प्ररूपण करते हैं सो आगमरूप है, परन्तु जहाँ एक आत्मा ही के आश्रय निरूपण करते हैं सो अध्यात्म है। अहेतुमत् और हेतुमत् ऐसे भी दो प्रकार हैं, वहाँ सर्वज्ञ की आज्ञा ही से केवल प्रमाणता मानना अहेतुमत् है और प्रमाण –नयके द्वारा वस्तुकी निर्बाध सिद्धि करके मानना सो हेतुमत् है। इसप्रकार दो प्रकार आगम में निश्चय–व्यवहार से व्यख्यान है, वह कुछ लिखने में आ रहा है।

जब आगमरूप सब पदार्थोंकी व्याख्यान पर लगाते हैं तब तो वस्तुका स्वरूप सामान्य–विशेषरूप अनन्त धर्म स्वरूप है वह ज्ञानगम्य है, इनमें सामान्यरूप तो निश्चयनय का विषय है और विशेषरूप जितने हैं उनको भेदरूप करके भिन्न भिन्न कहे वह व्यवहारनय का विषय है, उसको द्रव्य–पर्यायस्वरूप भी कहते हैं। जिस वस्तु को विवक्षित करके सिद्ध करना हो उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे जो कुछ सामान्य– विशेषरूप वस्तुका सर्वस्व हो वह तो, निश्चय–व्यवहार से कहा है वैसे, सिद्ध होता है और उस वस्तुके कुछ अन्य वस्तु के संयोग जो अवस्था हो उसको उस वस्तुरूप कहना भी व्यवहार है, इसको उपचार भी कहते हैं। इसका उदाहरण ऐसे है––जैसे एक विवक्षित घट नामक वस्तु पर लगावें तब जिस घटका द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप सामान्य –विशेषरूप जितना सर्वस्व है उतना कहा, वैसे निश्चय–व्यवहार से कहना वह तो

जिन–उक्त छे जे सूत्र ते व्यवहार ने परमार्थ छे,
ते जाणी योगी सौख्यने पामे, दहे मलपुंजने। ६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चय–व्यवहार है और घटके कुछ अन्य वस्तु का लेप करके उस घटको उस नामसे कहना तथा अन्य पटादि में घटका आरोपण करके घट कहना भी व्यवहार है।

व्यवहार के दो आश्रय हैं––एक प्रयोजन दूसरा निमित्त। प्रयोजन साधनेको किसी वस्तुको घट कहना वह तो प्रयोजनाश्रित है और किसी अन्य वस्तुके निमित्तसे घट में अवस्था हुई उसको घट स्वरूप कहना वह निमित्ताश्रित है। इसप्रकार विवक्षित जीव–अजीव वस्तुओं पर लगाना। एक आत्मा ही को प्रधान करके लगाना अध्यात्म है। जवि सामान्यको भी आत्मा कहते हैं। जो जीव अपने को सब जीवोंसे भिन्न अनुभव करे उसको भी आत्मा कहते हैं। जब अपने को सबसे भिन्न अनुभव करके, अपने पर निश्चय लगावे तब इसप्रकार जो आप अनादि–अनन्त अविनाशी सब अन्य द्रव्यों से भिन्न, एक सामान्य–विशेषरूप, अनन्तधर्मात्मक, द्रव्य–पर्यायात्मक जीव नामक शुद्ध वस्तु है, वह कैसा है–––

शुद्ध दर्शनज्ञानमयी चेतनास्वरूप असाधारण धर्म को लिये हुए, अनन्त शक्तिका धारक है, उसमें सामान्य भेद चेतना अनन्त शक्ति का समूह द्रव्य है। अनन्तज्ञान–दर्शन–सुख–वीर्य ये चेतना के विशेष हैं वह तो गुण हैं और अगुरुलघु गुणके द्वारा षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप परिणमन करते हुए जीवके त्रिकालात्मक अनन्त पर्यायें हैं। इसप्रकार शुद्ध जीव नामक वस्तु को सर्वज्ञ ने देखा, जैसा आगम में प्रसिद्ध है, वह तो एक अभेद रूप शुद्ध निश्चयनयका विषयभूत जीव है, इस दृष्टि से अनुभव करे तब तो ऐसा है और अनन्त धर्मों में भेदरूप किसी एक धर्म को लेकर कहना व्यवहार है।

आत्मवस्तु के अनादि ही से पुद्गल कर्मका संयोग है, इसके निमित्त से राग–द्वेष रूप विकार की उत्पत्ति होती है उसको विभाव परिणति कहते हैं, इससे फिर आगामी कर्मका बंध होता है। इसप्रकार अनादि निमित्त–नैमित्तिक भाव के द्वारा चतुर्गतिरूप संसार भ्रमण की प्रवृत्ति होती है। जिस गति को प्राप्त हो वैसा ही नामका जीव कहलाता है तथा जैसा रागादिक भाव हो वैसा नाम कहलाता है। जब द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावकी बाह्यअंतरंग सामग्रीके निमित्त से अपने शुद्धस्वरूप शुद्धनिश्चयनयके विषय स्वरूप अपनेको जानकर श्रद्धान करे और कर्म संयोगको तथा उसके निमित्त से अपने भाव होते हैं उनका यथार्थ स्वरूप जाने तब भेदज्ञान होता है, तब ही परभावोंसे विरक्ति होती है। फिर उनको दूर करने का उपाय सर्वज्ञके आगम से यथार्थ समझकर उसको कर्मोंका क्षय करके लोकशिखर पर जाकर विराजमान जो जाता है तब मुक्त या सिद्ध कहलाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार जितनी संसार की अवस्था और यह मुक्त अवस्था इसप्रकार भेदरूप आत्माका निरूपण है वह भी व्यवहार नयका विषय है, इसको अध्यात्मशास्त्रमें अभूतार्थ असत्यार्थ नामसे कहकर वर्णन किया है, क्योंकि शुद्ध आत्मा में सहयोगजनित अवस्था हो सो तो असत्यार्थ ही है, कुछ शुद्ध वस्तुका तो यह स्वभाव नहीं है इसलिये असत्य ही है। जो निमित्त से अवस्था हुई वह भी आत्मा ही का परिणाम है, जो आत्मा का परिणाम है वह आत्मामें ही है, इसलिये कथंचित् इसको सत्य भी कहते हैं, परन्तु जब तक भेदज्ञान नहीं होता है तब तक ही यह दृष्टि है, भेदज्ञान होने पर जैसे है वैसा ही जानता है।

जो द्रव्यरूप पुद्गल कर्म हैं वे आत्मा से भिन्न ही हैं, उनसे शरीरादिका संयोग है वह आत्मासे प्रगट ही भिन्न है, इनको आत्मा का कहते हैं सो वह व्यवहार प्रसिद्ध है ही, इसको असत्यार्थ या उपचार कहते हैं। यहाँ कर्मके संयोगजनित भाव हैं वे सब निमित्ताश्रित व्यवहार के विषय हैं और उपदेश अपेक्षा इसको प्रयोजनाश्रित भी कहते हैं, इसप्रकार निश्चय–व्यवहारका संक्षेप है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रको मोक्षमार्ग कहा, यहाँ ऐसे समझना कि ये तीनों एक आत्मा ही के भाव हैं, इसप्रकार इनरूप आत्माही का अनुभव हो सो निश्चय मोक्षमार्ग है, इनमें भी जबतक अनुभव की साक्षात् पूर्णता नहीं हो तबतक एकदेशरूप होता है उसको कथंचित् सर्वदेशरूप कहकर कहना व्यवहार है और एकदेश नाम से कहना निश्चय है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्रको भेदरूप कहकर मोक्षमार्ग कहे तथा इनके बाह्य परद्रव्य स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निमित्त हैं उनको दर्शन, ज्ञान, चारित्रके नामसे कहे वह व्यवहार है। देव, गुरु, शास्त्रकी श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहते हैं, जीवादिक तत्त्वोंकी श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहते हैं। शास्त्रके ज्ञान अर्थात् जीवादिक पदार्थोंके ज्ञान को ज्ञान कहते हैं इत्यादि। पांच महाव्रत, पांच समिति, तीव गुप्तिरूप प्रवृत्तिको चारित्र कहते हैं। बारह प्रकारके तपको तप कहते हैं। ऐसे भेदरूप तथा परद्रव्यके आलम्बनरूप प्रवृत्तियाँ सब अध्यात्मशास्त्रकी अपेक्षा व्यवहारके नामसे कही जाती है क्योंकि वस्तुके नाम से कहना वह भी व्यवहार है।

अध्यात्म शास्त्रमें इसप्रकार भी वर्णन है कि वस्तु अनन्त धर्मरूप है इसलिये सामान्य–विशेषरूपसे तथा द्रव्य–पर्याय से वर्णन करते हैं। द्रव्यमात्र कहना तथा पर्यायमात्र कहना व्यवहार का विषय है। द्रव्यका भी तथा पर्याय का भी निषेध करके वचन–अगोचर कहना निश्चयनयका विषय है। जो द्रव्यरूप है वही पर्यायरूप है इसप्रकार दोनों को ही प्रधान करके कहना प्रमाण का विषय है, इसका उदाहरण इसप्रकार है––

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जैसे जीवको चैतन्यरूप, नित्य, एक, अस्तिरूप इत्यादि अभेदमात्र कहना वह तो द्रव्यार्थिक नय का विषय है और ज्ञान–दर्शनरूप अनित्य, अनेक, नास्तित्वरूप इत्यादि भेदरूप कहना पर्यायार्थिक नयका विषय है। दोनों ही प्रकारकी प्रधानताका निषेधमात्र वचन–अगोचर कहना निश्चय नयका विषय है। दोनों ही प्रकारको प्रधान करके कहना प्रमाण का विषय है इत्यादि।

इसप्रकार निश्चय–व्यवहारका सामान्य अर्थात् संक्षेप स्वरूप है, उसको जानकर जैसा आगम–अध्यात्म शास्त्रोंमें विशेषरूप से वर्णन हो उसको सूक्ष्मदृष्टि जानना। जिनमत अनेकांत स्वरूप स्याद्वाद है और नयोंके आश्रित कथन है। नयोंके परस्पर विरोधको स्याद्वाद दूर करता है, इसके विरोधका तथा अविरोधका स्वरूप अच्छी तरह जानना। यथार्थ तो गुरु आम्नाय ही से होता है, परन्तु गुरुका निमित्त इसकालमें विरल हो गया, **इसलिये अपने ज्ञानका बल चले तब तक विशेषरूप से समझते ही रहना, कुछ ज्ञानका लेश पाकर उद्धत नहीं होना, वर्तमान कालमें अल्पज्ञानी बहुत है इसलिये उनसे कुछ अभ्यास करके उनमें महनत बनकर उद्धत होनेपर मद आ जाता है तब ज्ञान थकित हो जाता है** और विशेष समझने की अभिलाषा नहीं रहती हे तब विपरीत होकर यद्वातद्वा– मनमाना कहने लग जाता है, उससे अन्य जीवोंका श्रद्धान विपरीत हो जाता है, तब अपने अपराध का प्रसंग आता है, **इसलिये शास्त्रको समुद्र जानकर, अल्पज्ञरूप ही अपना भाव रखना जिससे विशेष समझने की अभिलाषा बनी रहे,** इससे ज्ञान की वृद्धि होती है।

अल्प ज्ञानियों में बैठकर महंतबुद्धि रखे तब अपना प्राप्त ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, इसप्रकार जानकर निश्चय–व्यवहाररूप आगम की कथन पद्धति को समझकर उसका श्रद्धान करके यथाशक्ति आचरण करना। इस काल में गुरु सम्प्रदायके बिना महन्त नहीं बनना, जिन आज्ञा का लोप नहीं करना। कोई कहते हैं–हम तो परीक्षा करके जिनमत को मानेंगे वे वृथा बकते हैं–स्वल्प बुद्धि का परीक्षा करने के योग्य नहीं है। आज्ञा को प्रधान रखकरके बने जितनी परीक्षा करने में दोष नहीं है, केवल परीक्षा ही को प्रधान रखने में जिनमत से च्युत हो जाये तो बड़ा दोष आवे। इसलिये जिनकी अपने हित–अहित पर दृष्टि है वे तो इसप्रकार जानो, और जिनको अल्पज्ञानियों में महंत बनकर अपने मान, लोभ, बड़ाई, विषय–कषाय पुष्ट करने हों उनकी बात नहीं है, वे तो जैसे अपने विषय–कषाय पुष्ट होंगे वैसे ही करेंगे, उनको मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं लगता है, विपरीत को किसका उपदेश? इसप्रकार जानना चाहिये ।।६।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि जो सूत्र के अर्थ––पदसे भ्रष्ट हैं उसको मिथ्यादृष्टि जानना––

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं[१] सचेलस्स।। ७।।

सूत्रार्थ पदविनष्ठः मिथ्यादृष्टिः हि सः ज्ञातव्यः।
खेलेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रं सचेलस्य।। ७।

अर्थः––जिसके सूत्र का अर्थ और पद विनष्ट है वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है, इसलिये जो सचेल है, वस्त्र सहित है उसको 'खेडे वि' अर्थात् हास्य कुतूहल में भी पाणिपात्र अर्थात् हस्तरूप पात्र से आहार नहीं करना।

भावार्थः––सूत्र में मुनि का रूप नग्न दिगम्बर कहा है। जिसके ऐसा सूत्रका अर्थ तथा अक्षररूप पद विनष्ट है और आप वस्त्र धारण करके मुनि कहलाता है वह जिन आज्ञा से भ्रष्ट हुआ प्रगट मिथ्यादृष्टि है, इसलिये वस्त्र सहित को हास्य–कुतूहलसे पाणिपात्र अर्थात् हस्तरूप पात्र से आहारदान नहीं करना तथा इसप्रकार भी अर्थ होता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि को पाणिपात्र आहारदान लेना योग्य नहीं है, ऐसा भेष हास्य–कुतूहलसे भी धारण करना योग्य नहीं है, वस्त्र सहित रहना और पाणिपात्र भोजन करना, इसप्रकार से तो क्रीड़ा मात्र भी नहीं करना ।।७।।

---

१ पाणिपात्रे पाठान्तर

सूत्रार्थपदथी भ्रष्ट छे ते जीव मिथ्यादृष्टि छे;
करपात्र भोजन रमतमांय न योग्य होय सचेलने। ७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि जिन सूत्र से भ्रष्ट हरिहरादिक के तुल्य हो तो भी मोक्ष नहीं पाता है---

हरिहरतुल्लो वि णरो, सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी।
तइ वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।।८।।

हरिहरतुल्योऽपि नरः स्वर्गं गच्छति एति भवकोटिः।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः।।८।।

अर्थः--जो मनुष्य सूत्र के अर्थ पद से भ्रष्ट है वह हरि अर्थात् नारायण, हर अर्थात् रुद्र, इनके समान भी हो, अनेक ऋद्धि संयुक्त हो, तो भी सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है। यदि कदाचित् दान पूजादिक करके पुण्य उपार्जन कर स्वर्ग चला जावे तो भी वहाँ से चय कर, करोड़ों भव लेकर संसार ही में रहता है, --इस प्रकार जिनागम में कहा है।

भावार्थः--श्वेताम्बरादिक इसप्रकार कहते हैं कि--गृहस्थ आदि वस्त्र सहित को भी मोक्ष होता है--इसप्रकार सूत्र में कहा है। उसका इस गाथा में निषेध का आशय है कि--जो हरिहरादिक बड़ी सामर्थ्य के धारक भी हैं तो भी वस्त्र सहित तो मोक्ष नहीं पाते हैं। श्वेताम्बरोंने सूत्र कल्पित बनाये हैं, उनमें यह लिखा है सो प्रमाण भूत नहीं है; वे श्वेताम्बर, जिन सूत्र के अर्थ-पद से च्युत हो गये हैं, ऐसा जानना चाहिये।।८।।

आगे कहते हैं कि--जो जिनसूत्र से च्युत हो गये हैं वे स्वच्छंद होकर प्रवर्तते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं:--

---

हरितुल्य हो पण स्वर्ग पामे, कोटि कोटि भवे भमे,
पण सिद्धि नव पामे, रहे संसारस्थित-आगम कहे। ८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य।
बो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छंदि होदि मिच्छतं।। ९।।

उत्कृष्ट सिंहचरित: बहुपरिकर्मा च गुरुभारश्च।
य: विहरति स्वच्छंदं पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम्।। ९।।

अर्थ:––जो मुनि होकर उत्कृष्ट, सिंह के समान निर्भय हुआ आचरण करता है और बहुत परिकर्म अर्थात् तपश्चरणादि क्रिया विशेषोंसे युक्त है तथा गुरुके भार अर्थात् बड़ा पदस्थरूप है, संघ–नायक कहलाता है परन्तु जिनसूत्र से च्युत होकर स्वच्छंद प्रवर्तता है तो वह पाप ही को प्राप्त होता है और मिथ्यात्वको प्राप्त होता है।

भावार्थ:––जो धर्मका नायकपना लेकर, गुरु बनकर, निर्भय हो तपश्चरणादिक से बड़ा कहलाकर अपना संप्रदाय चलाता है, जिनसूत्रसे च्युत होकर स्वेच्छाचारी प्रवर्तता है तो वह पापी मिथ्यादृष्टि ही है, उसका प्रसंग भी श्रेष्ठ नहीं है।।९।।

आगे कहते हैं कि––जिनसूत्र में ऐसा मोक्षमार्ग कहा है––––

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।। १०।।

निश्चेलपाणिपात्रं उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रै:।
एकोऽपि मोक्षमार्ग: शेषाश्च अमार्गा सर्वे।। १०।।

अर्थ:––जो निश्चेल अर्थात् वस्त्ररहित दिगम्बर मुद्रास्वरूप और पाणिपात्र अर्थात् हाथरूपी पात्र में खड़े–खड़े आहार करना, इसप्रकार एक अद्वितीय मोक्षमार्ग तीर्थंकर परमदेव जिनेन्द्रने उपदेश दिया है, इसके सिवाय अन्य रीति सब अमार्ग हैं।

स्वच्छंद वर्ते तेह पामे पापने मिथ्यात्वने,
गुरुभारधर, उत्कृष्ट सिंहचरित्र, बहुतपकर भले। ९।

निश्चेल–करपात्रत्व परमजिनेन्द्रथी उपदृष्टि छे;
ते अेक मुक्तिमार्ग छे ने शेष सर्व अमार्ग छे। १०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––जो मृगचर्म, वृक्षके बल्कल, कपास पट्ट दुकूल, रोमवस्त्र, टाटके और तृणके वस्त्र इत्यादिक रखकर अपने को मोक्षमार्गी मानते हैं तथा इसकाल में जिनसूत्र से च्युत हो गये हैं, उन्होंने अपनी इच्छा से अनेक भेष चलाये हैं, कई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कई रक्त वस्त्र, कई पीले वस्त्र, कई टाटके वस्त्र आदि रखते हैं, उनके मोक्षमार्ग नहीं क्योंकि जिनसूत्र में तो एक नग्न दिगम्बर स्वरूप पाणिपात्र भोजन करना इसप्रकार मोक्ष मार्ग में कहा है, अन्य सब भेष मोक्षमार्ग नहीं है ओर जो मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं ।।१०।।

आगे दिगम्बर मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करते हैं:––

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओवि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए।। ११।।

यः संयमेषु सहितः आरंभपरिग्रहेषु विरतः अपि।
सः भवति वंदनीयः ससुरासुरमानुषे लोके।। ११।।

अर्थः––जो दिगम्बर मुद्रा का धारक मुनि इन्द्रिय–मनको वशमें करना, छहकायके जीवोंकी दया करना, इसप्रकार संयम सहित हो और आरम्भ अर्थात् गृहस्थके सब आरम्भों से तथा बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रह विरक्त हो, इनमें नहीं प्रवर्ते तथा 'अपि' शब्द से ब्रह्मचर्य आदि गुणोंसे युक्त हो वह देव–दानव सहित मनुष्यलोक में वंदने योग्य है, अन्य भेषी परिग्रह–आरंभादिसे युक्त पाखंण्डी (ढोंगी) वंदने योग्य नहीं है।।११।।

आगे फिर उनकी प्रवृत्तिका विशेष कहते हैं:––

जे बावीस परीसह सहंति सचीसएहिं संजुत्ता।
ते होंदि[1] वंदणीया कम्मक्खयणिज्जुरासाहू।। १२।।

---

१ पाठान्तर– होंदि

जे क्रव संयमयुक्त ने आरंभपरिग्रह विरत छे,
ते देव–दानव –मानवोना लोकत्रयमां वंद्य छे। ११।

बावीश परिषहने सहे छे, शक्तिशतसंयुक्त जे,
ते कर्मक्षय ने निर्जरामां निपुण मुनिओ वंद्य छे। १२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ये द्वाविंशति परीषहान् सहंते शक्तिशतैः संयुक्ताः।
ते भवंति वंदनीयाः कर्मक्षय निर्जरा साधवः।। १२।।

अर्थः––जो साधु मुनि अपनी शक्तिके सैकड़ों से युक्त होते हुए क्षुधा, तृषाधिक बाईस परिषहोंको सहते हैं और कर्मोंकी क्षयरूप निर्जरा करने में प्रवीण हैं वे साधु वंदने योग्य हैं।

भावार्थः––जो बड़ी शक्तिके धारक साधु हैं वे परीषहों को सहते हैं, परीषह आने पर अपने पदसे च्युत नहीं होते हैं। उनके कर्मों की निर्जरा होती है और वे वन्दने योग्य हैं।।१२।।

आगे कहते हैं कि जो दिगम्बर मुद्रा सिवाय कोई वस्त्र धारण करें, सम्यग्दर्शन–ज्ञान से युक्त हों वे इच्छाकार करने योग्य हैं:––

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जा य।। १३।।

अवशेषा ये लिंगिनः दर्शनज्ञानेन सम्यक् संयुक्ता।
चेलेन च परिगृहीताः ते भणिता इच्छाकारे योग्यः।। १३।।

अर्थः––दिगम्बर मुद्रा सिवाय जो अविशेष लिंगी भेष संयुक्त और सम्यक्त्व सहित दर्शन–ज्ञान संयुक्त हैं तथा वस्त्र से परिगृहीत हैं, वस्त्र धारण करते हैं वे इच्छाकार करने योग्य हैं।

भावार्थः––जो सम्यग्र्शन–ज्ञान संयुक्त हैं और उत्कृष्ट श्रावकका भेष धारण करते हैं, एक वस्त्र मात्र परिग्रह रखते हैं वे इच्छाकार करने योग्य हैं इसलिये 'इच्छामि' इसप्रकार कहते हैं। इसका अर्थ है कि– मैं आपको इच्छू हूँ, चाहता हूँ ऐसा इच्छामि शब्दका अर्थ है। इसप्रकारसे इच्छाकार करना जिनसूत्र में कहा है।।१३।।

आगे इच्छाकार योग्य श्रावक का स्वरूप कहते हैं:––

अवशेष लिंगी जेह सम्यक् ज्ञान–दर्शनयुक्त छे,
ने वस्त्र धारे जेह, ते छे योग्य इच्छाकारने। १३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं।
ठाणे ट्ठियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होदि।। १४।।

इच्छाकारमहार्थं सूत्रस्थित: य: स्फुटं त्यजति कर्म।
स्थाने स्थित्तसम्यक्त्व: परलोक सुखंकर: भवति।। १४।।

अर्थ:––जो पुरुष जिनसूत्र में तिष्ठता हुआ इच्छाकार शब्दके महान प्रधान अर्थको जानता है और स्थान जो श्रावकके भेदरूप प्रतिमाओंमें तिष्ठता हुआ सम्यक्त्व सहित वर्तता है, आरम्भादि कर्मोंको छोड़ता है, वह परलोक में सुख करने वाला होता है।

भवार्थ:––उत्कृष्ट श्रावक को इच्छाकार कहते हैं सो जो इच्छाकारके प्रधान अर्थ को जानता है ओर सूत्र अनुसार सम्यक्त्व सहित आरंभादिक छोड़कर उत्कृष्ट श्रावक होता है वह परलोकमें स्वर्ग सुख पाता है।।१४।।

आगे कहते हैं कि–जो इच्छाकार के प्रधान अर्थको नहीं जानता और अन्य धर्मका आचरण करता है वह सिद्धिको नहीं पाता है:––

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं।
तह विण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।। १५।।

अथ पुन: आत्मानं नेच्छति धर्मान् करोति निरवेशषान्।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थ: पुन: भणित:।। १५।।

अर्थ:––'अथ पुन:' शब्दका ऐसा अर्थ है कि–पहली गाथामें कहा था कि जो इच्छाकारके प्रधान अर्थको जानता है वह आचारण करके स्वर्गसुख पाता है। वही अब फिर कहते हैं कि इच्छाकारका प्रधान अर्थ आत्माको चाहना है, अपने स्वरूपमें रुचि करना है। वह इसको जो इष्ट नहीं करता है और अन्य धर्मके समस्त आचरण करता है तो भी सिद्धि अर्थात् मोक्षको नहीं पाता है और उसको संसार में ही रहने वाला कहा है।

सूत्रस्थ सम्यग्दृष्टियुत जे जीव छोडे कर्मने,
'ईच्छामि' योग्य पदस्थ ते परलोकगत सुखने लहे। १४।

पण आत्माने इच्छया विना धर्मो अशेष करे भले,
तोपण लहे नहि सिद्धिने, भवमां भमे–आगम कहे। १५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

भावार्थः––इच्छाकारका प्रधान अर्थ आपको चाहना है, सो जिसके अपने स्वरूप की रुचिरूप सम्यक्त्व नहीं है, उसको सब मुनि, श्रावककी आचरणरूप प्रवृत्ति मोक्षका कारण नहीं है।।१५।।

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करके उपदेश करते हैंः––

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जुह पयत्तेण।।१६।।

एतेन कारणेन च तं आत्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन।
येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन।।१६।।

अर्थः––पहिले कहा कि जो आत्मा को इष्ट नहीं करता है उसके सिद्धि नहीं है, इस ही कारण से हे भव्य जीवों! तुम उस आत्मा की श्रद्धा करो, उसका श्रद्धान करो, मन–वचन–कायसे स्वरूपमें रुचि करो, इस कारण से मोक्षको पाओ और जिससे मोक्ष पाते हैं उसको प्रयत्न द्वारा सब प्राकरके उद्यम करके जानो। (भाव पाहुड गा॰ ८७ में भी यह बात है।)

भावार्थः––जिससे मोक्ष पाते हैं उसहिको जानना, श्रद्धान करना यह प्रधान उपदेश है, अन्य आडम्बरसे क्या प्रयोजन? इसप्रकार जानना।।१६।।

आगे कहते हैं कि जो जिनसूत्र को जानने वाले मुनि हैं उनका स्वरूप फिर दृढ़ करने को कहते हैंः––

वालग्गकोडिमेत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि्।।१७।।

बालाग्रकोटिमात्रं परिग्रहग्रहणं न भवति साधूनाम्।
भुंजीत पाणिपात्रे दत्तमन्येन एकस्थाने।।१७।।

आ कारणे ते आत्मानी त्रिविधे तमे श्रद्धा करो,
ते आत्मने जाणो प्रयत्ने, मुक्तिने जेथी वरो। १६।

रे! होय नहि बालाग्रनी अणीमात्र परिग्रह साधुने;
करपात्रमां परदत्त भोजन अेक स्थान विषे करे। १७।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––बाल के अग्रभाग की कोटि अर्थात् अणीमात्र भी परिग्रह का ग्रहण साधुके नहीं होता है। यहाँ आशंका है कि यदि प्ररिग्रह कुछ नहीं है तो आहार कैसे करते हैं? इसका समाधान करते हैं–आहार करते हैं तो पाणिमात्र (करपात्र) अपने हाथ में भोजन करतें हैं, वह भी अन्य का दिया हुआ प्रासुक अन्न मात्र लेते हैं, वह भी एक स्थान पर ही लेते हैं, बारंबार नहीं लेते और अन्य स्थान में नहीं लेते हैं।

भावार्थः––जो मुनि आहार ही पर का दिया हुआ प्रासुक योग्य अन्नमात्र निर्दोष एकबार दिनमें अपने हाथमें लेते हैं तो अन्य परिग्रह किसलिये ग्रहण करें? अर्थात् नहीं ग्रहण करें, जिनसूत्र में इसप्रकार मुनि कहें हैं।।१७।।

आगे कहते हैं कि अल्प परिग्रह ग्रहण करे उसमें दोष क्या है? उसको दोष दिखाते हैं:––

जह जायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम्।। १८।।

यथाजातरूपसदृशः तिलतुषमात्रं न गृह्णाति हस्तयोः।
यदि लाति अल्पबहुकं ततः पुनः याति निगोदम्।। १८।।

अर्थः––मुनि यथाजात रूप हैं। जैसे, जन्मता बालक नग्नरूप होता है वैसे ही नग्नरूप दिगम्बर मुद्राका धारक है, वह अपने हाथसे तिलके तुषमात्र भी कुछ ग्रहण नहीं करता; और यदि कुछ थोड़ा बहुत लेवे ग्रहण करे तो वह मुनि ग्रहण करने से निगोद में जाता है।

भावार्थः––मुनि यथाजातरूप दिगम्बर निर्ग्रंथको कहते हैं। वह इसप्रकार होकरके भी कुछ परिग्रह रखे तो जानों की जिन सूत्र की श्रद्धा नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। इसलिये मिथ्यात्वका फल निगोद ही है। कदाचित् कुछ तपश्चरणादिक करे तो उससे शुभ कर्म बाँधकर स्वर्गादिक पावे, तो भी एकेन्द्रिय होकर संसार ही में भ्रमण करता है।

જન્મ્યા પ્રમાણે રૂપ, તલતુષમાત્ર કરમાં નવ ગ્રહે,
થોડું ઘણું પણ જો ગ્રહે તો પ્રાપ્ત થાય નિગોદને। ૧૮।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ प्रश्न है कि–मुनिके शरीर है, आहार करता है, कमंडलु, पीछी, पुस्तक रखता है, यहाँ तिल–तुषमात्र भी रखना नहीं कहा, सो कैसे?

इसका समाधान यह है कि–मिथ्यात्व सहित रागभाव से अपनाकर अपने विषय–कषाय पुष्ट करने के लिये रखे उसको परिग्रह कहते हैं, इस निमित्त कुछ थोड़ा बहुत रखने का निषेध किया है और केवल संयमके निमित्तका तो सर्वथा निषेध नहीं है। शरीर तो आयु पर्यन्त छोड़ने पर भी छूटता नहीं है, इसका तो ममत्व ही छूटता है, सो उसका निषेध किया ही है। जब तक शरीर है तब तक आहार नहीं करें तो सामर्थ्य ही नहीं हो, तब संयम नहीं सधे, इसलिये कुछ योग्य आहार विधिपूर्वक शरीर से रागरहित होते हुए लेकर के शरीर को खड़ा रख कर संयम साधते हैं।

कमंडलु बाह्य शौचका उपकरण है, यदि नहीं रखें तो मल–मूत्र की अशुचिता से पंच परमेष्ठी की भक्ति वंदना कैसे करें? और लोक निंद्य हों। पीछी दया का उपकरण है, यदि नहीं रखें तो जीवसहित भूमि आदिकी प्रतिलेखना किससे करें? पुस्तक ज्ञान का उपकरण है, यदि नहीं रखें तो पठन–पाठन कैसे हो? इन उपकरणोंका रखना भी ममत्वपूर्वक नहीं है, इन से राग भाव नहीं है। आहार–विहार–पठन–पाठनकी क्रिया युक्त जब तक तहे तब तक केवलज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता है, इन सब क्रियाओं को छोड़कर शरीरका भी सर्वथा ममत्व छोड़ ध्यान अवस्था लेकर तिष्ठे , अपने स्वरूप में तीन हों तब तक परम निर्ग्रन्थ अवस्था होती है, तब श्रेणी को प्राप्त हुए मुनिराजके केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अन्य क्रिया सहित हो तब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, इसप्रकार निर्ग्रन्थपना मोक्षमार्ग जिनसूत्रमें कहा है।

श्वेताम्बर कहतें हैं कि भवस्थिति पूरी होने पर सब अवस्थाओंमें केवलज्ञान उत्पन्न होता है तो यह कहना मिथ्या है, जिनसूत्र का यह वचन नहीं है। इन श्वेताम्बरोंने कल्पितसूळ बनायें हैं उनमें लिखा होगा। फिर यहाँ श्वेताम्बर कहते हैं कि जो तुमने कहा वह वह तो उत्सर्ग मार्ग है, अपवाद मार्ग में वस्त्रादिक उपकरण रखना कहा है, जैसे तुमने धर्मोपकरण कहे वैसे ही वस्त्रादिक भी धर्मोपकरण हैं। जैसे क्षुधा की बाधा आहार से मिटा कर संयम साधते हैं, वैसे ही शीत आदिकी बाधा वस्त्र आदि से मिटा कर संयम साधते हैं, इसमें विशेष क्या? इसको कहते हैं कि इसमें तो बड़े दोष आते हैं। तथा कोई कहते हैं कि काम विकार उत्पन्न हो तब स्त्री सेवन करे तो इसमें क्या विशेष? इसलिये इसप्रकार कहना युक्त नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्षुधाकी बाधा तो आहारसे मिटाना युक्त है। आहार के बिना देह अशक्त हो जाता है तथा छूट जावे तो अपघातका दोष आता है; परन्तु शीत आदि की बाधा तो अल्प है, यह तो ज्ञानाभ्यास आदिके साधनसे ही मिट जाती है। अपवाद–मार्ग कहा वह तो जिसमें मुनिपद रहे ऐसी क्रिया करना तो अपवाद–मार्ग है, परन्तु जिस परिग्रह से तथा जिस क्रिया से मुनिपद भ्रष्ट होकर गृहस्थके समान हो जावे वह तो अपवाद–मार्ग नहीं है। दिगम्बर मुद्रा धारण करके कमंडलु–पीछी सहित आहार–विहार–उपदेशादिक में प्रवर्ते वह अपवाद–मार्ग है और सब प्रवृत्ति को छोड़कर ध्यानस्थ हो शुद्धोपयोग में लीन हो जाने को उत्सर्ग–मार्ग कहा है। इसप्रकार मुनिपद अपने से सधता न जानकर किसलिये शिथिलाचारका पोषण करना? मुनि पद की सामर्थ्य न हो तो श्रावकधर्मका ही पालन करना, परम्परा से इसी से सिद्धि हो जावेगी। जिनसूत्र की यथार्थ श्रद्धा रखने से सिद्धि है इसके बिना अन्य क्रिया सब ही संसारमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं है–इसप्रकार जानना।।१८।।

आगे इस ही का समर्थन करते हैं:––

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो।।१९।।

यस्य परिग्रहग्रहणं अल्पं बहुकं च भवति लिंगस्य।
स गर्ह्यः जिनवचने परिग्रह रहितः निरागारः।।१९।।

अर्थः––जिसके मत में लिंग जो भेष उसके परिग्रहका अल्प तथा बहुत ग्रहण करना कहा है वह मत तथा उसका श्रद्धावान पुरुष गर्हित है, निंदायोग्य है, क्योंकि जिनवचन में परिग्रह ही निरागार है, निर्दोष मुनि है, इसप्रकार कहा है।

भावार्थः––श्वेताम्बरादिक के कल्पित सूत्रोंमें भेषमें अल्प–बहुत परिग्रह का ग्रहण कहा है, वह सिद्धान्त तथा उसके श्रद्धानी निंद्य हैं। जिनवचनमें परिग्रह रहित को ही निर्दोष मुनि कहा है ।।१९।।

आगे कहते हैं कि जिनवचनमें ऐसा मुनि वन्दने योग्य कहा है:––

रे! होय बहु वा अल्प परिग्रह साधुने जेना मते,
ते निंद्य छे; जिनवचनमां मुनि निष्परिग्रह होय छे। १९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पंचमहव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य।। २०।।

पंचमहाव्रतयुक्त: तिसृभि: गुप्तिभि: य: स संयतो भवति।
निर्ग्रंथमोक्षमार्ग: स भवति हि वन्दनीय: च।। २०।।

अर्थ:––जो मुनि पंच महाव्रत युक्त हो और तीन गुप्ति संयुक्त हो वह संयत है, संयमवान है और निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है तथा वह ही प्रगट निश्चयसे वंदने योग्य है।

भावार्थ:––अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन पाँच महाव्रत सहित हो और मन, वचन, कायरूप तीन गुप्ति सहित हो वह संयमी है, वह निर्ग्रन्थ स्वरूप है, वह ही वंदने योग्य है। जो कुछ अल्प–बहुत परिग्रह रखे सो महाव्रती संयमी नहीं है, यह मोक्षमार्ग नहीं है और गृहस्थके समान भी नहीं है।।२०।।

आगे कहते हैं कि पूर्वोक्त एक भेष तो मुनिका कहा अब दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावकका इस प्रकार कहा है:––

दुइयं च उत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदी भासेण मोणेण।। २१।।

द्वितीयं चोक्तं लिंगं उत्कृष्टं अवरश्रावकाणां च।
भिक्षां भ्रमति पात्रे समिति भाषया मौनेन।। २१।।

अर्थ:––द्वितीय लिंग अर्थात् दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक जो गृहस्थ नहीं है इसप्रकार उत्कृष्ट श्रावकका कहा है वह उत्कृष्ट श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक है, वह भ्रमण करके भिक्षा द्वारा भोजन करे और पत्ते अर्थात् पात्रमें भोजन करे तथा हाथमें करे और समिति रूप प्रवर्तता हुआ भाषासमिति रूप बोले अथवा मौन से रहे।

त्रण गुप्ति, पंचमहाव्रते जे युक्त, संयत तेह छे;
निर्ग्रन्थ मुक्तिमार्ग छे ते; ते खरेखर वंद्य छे। २०।

बीजुं कह्युं छे लिंग उत्तम श्रावकोनुं शासने;
ते वाक्समिति वा मौनयुक्त सपात्र भिक्षाटन करे। २१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––एक तो मुनि यथाजातरूप कहा और दूसरा यह उत्कृष्ट श्रावकका कहा, वह ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक उत्कृष्ट श्रावक है, वह एक वस्त्र तथा कोपीन मात्र धारण करता है और भिक्षा भोजन करता है, पात्र में भी भोजन करता है और करपात्र में भी करता है, समितिरूप वचन भी कहता है अथवा मौन भी रहता है, इसप्रकार यह दूसरा भेष है ।।२१।।

आगे तीसरा लिंग स्त्रीका कहते हैं:––

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेदि।। २२।।

लिंगं स्त्रीणां भवति भुंक्ते पिंडं स्वेक काले।
आर्या अपि एकवस्त्रा वस्त्रावरणेन भुंक्ते।। २२।।

अर्थः––स्त्रियोंका लिंग इसप्रकार है–एक काल में भोजन करे, बार–बार भोजन नहीं करे, आर्यिका भी हो तो एक वस्त्र धारण करे और भोजन करते समय भी वस्त्रके आवरण सहित करे, नग्न नहीं हो।

भावार्थः––स्त्री आर्यिका भी हो और क्षुल्लिका भी हो; वे दोनों ही भोजन तो दिन में एक बार ही करें, आर्यिका हो वह एक वस्त्र धारण किये हुए ही भोजन करे नग्न न हो। इसप्रकार तीसरा स्त्रीका लिंग है।।२२।।

आगे कहते हैं कि–वस्त्र धारक के मोक्ष नहीं, मोक्षमार्ग नग्नपणा ही है:––

છે લિંગ એક સ્ત્રીઓ તણું, એકાશની તે હોય છે;
આચાર્ય એક ઘરે વસન, વસ્ત્રાવૃતા ભોજન કરે। ૨૨।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ण वि सिज्झदि वत्थधरो जिणसासणे जइ विहोइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।। २३।।

नापि सिध्यति वस्त्रधरः जिनशासने यद्यपि भवति तीर्थंकरः।
नग्नः विमोक्षमार्गः शेषा उन्मार्गकाः सर्वे।। २३।।

अर्थः––जिनशास्त्र में इसप्रकार कहा है कि–वस्त्र को धारण करने वाला सीझता नहीं है, मोक्ष नहीं पाता है, यदि तीर्थंकर भी हो जबतक गृहस्थ रहे तब तक मोक्ष नहीं पाता है, दीक्षा लेकर दीगम्बररूप धारण करे तब मोक्ष पावे, क्योंकि नग्नपना ही मोक्षमार्ग है, शेष सब लिंग उन्मार्ग हैं।

भावार्थः––श्वेताम्बर आदि वस्त्रधारकके भी मोक्ष होना कहते हैं वह मिथ्या है, यह जिनमत नहीं है।।२३।।

आगे, स्त्रियोंकी दीक्षा नहीं है इसका कारण कहते हैं:––

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहुमो काओ तासिं कह होइ पवज्जा।। २४।।

लिंगे च स्त्रीणां स्तनांतरे नाभिकक्षदेशेषु।
भणितः सूक्ष्मः कायः तासां कथं भवति प्रव्रज्या।। २४।।

अर्थः––स्त्रियोंके लिंग अर्थात् योनिमें, स्तनांतर अर्थात् दोनों कूचोंके मध्यप्रदेश में तथा कक्ष अर्थात् दोनों कांखों में, नाभिमें सूक्ष्मकाय अर्थात् दृष्टिसे अगोचर जीव कहें हैं, अतः इसप्रकार स्त्रियोंके [१]प्रवज्या अर्थात् दीक्षा कैसे हो?

भावार्थः––स्त्रियोंके योनी, स्तन, कांख, नाभिमें पंचेन्द्रिय जीवोंकी उत्पत्ति निरंतर कहीं है, इनके महाव्रतरूप दीक्षा कैसे हो? महाव्रत कहे हैं वह उपचारसे कहे हैं, परमार्थसे नहीं है,

---

१ पाठान्तर – प्रवज्या।

नहि वस्त्रधर सिद्धि लहे, ते होय तीर्थंकर भले;
बस नग्न मुक्तिमार्ग छे, बाकी बधा उन्मार्ग छे। २३।

स्त्रीने स्तनोनी पास, कक्षे, योनिमां नाभि विषे,
बाहु सूक्ष्म जीव कहेल छे; कयम होय दीक्षा तेमने? २४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्त्री अपने सामर्थ्य की हद्द को पहुँचकर व्रत धारण करती है इस अपेक्षा से उपचार से महाव्रत कहे हैं।।२४।।

आगे कहते हैं कि यदि स्त्री भी दर्शन से शुद्ध होतो पापरहित है, भली है:--

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
धोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिया।। २५।।

यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता।
धोरं चरित्वा चारित्रं स्त्रीषु न पापका भणिता।। २५।।

अर्थ:--स्त्रियोंमें जो स्त्री दर्शन अर्थात् यथार्थ जिनमत की श्रद्धासे शुद्ध है वह भी मार्गसे संयुक्त कही गई है। जो घोर चारित्र, तीव्र तपश्चरणादिक आचारणसे पापरहित होती है इसलिये उसे पापयुक्त नहीं कहते हैं।

भावार्थ:--स्त्रियोंमें जो स्त्री सम्यक्त्व सहित हो और तपश्चरण करे तो पाप रहित होकर स्वर्गको प्राप्त हो इसलिये प्रशंसा योग्य है परन्तु स्त्रीपर्याय से मोक्ष नहीं है।।२५।।

आगे कहते हैं कि स्त्रियोंके ध्यानकी सिद्धि भी नहीं है:--

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणा।। २६।।

चित्ताशोधि न तेषां शिथिलः भावः तथा स्वभावेन।
विद्यते मासा तेषां स्त्रीषु न शंकया ध्यानम्।। २६।।

अर्थ:--उन स्त्रियोंके चित्तसे शुद्धता नहीं है, वैसे ही स्वभावसे भी उनके ढीला भाव है, शिथिल परिणाम है और उसके मासा अर्थात् मास-मास में रुधिर का स्राव विद्यमान है उसकी शंका रहती है, उससे स्त्रियोंके ध्यान नहीं है।

जो होय दर्शन शुद्ध तो तेनेय मार्गयुता कही;
छो चरण घोर चरे छतां स्त्रीने नथी दीक्षा कही। २५।

मनशुद्धि पूरी न नारीने, परिणाम शिथिल स्वभावथी,
वली होय मासिक धर्म, स्त्रीने ध्यान नहि निशंकथी। २६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––ध्यान होता है वह चित्त शुद्ध हो, दृढ़ परिणाम हों, किसी तरह की शंका न हो तब होता है, सो स्त्रियोंके यह तीनों ही कारण नहीं हैं तब ध्यान कैसे हो? ध्यानके बिना केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो और केवलज्ञान के बिना मोक्ष नहीं है, श्वेताम्बरादिक मोक्ष कहते हैं वह मिथ्या है ।।२६।।

आगे सूत्रपाहुडको समाप्त करते हैं, सामान्यरूप से सुखका कारण कहते हैं:––

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेल अत्थेण।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं।। २७।।

ग्राह्येण अल्पग्राह्याः समुद्रसलिले स्वचेलार्थेन।
इच्छा येभ्यः निवृत्ताः तेषां निवृत्तानि सर्वदुःखानि।। २७।।

अर्थः––जो मुनि ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य वस्तु आहार आदिकसे तो अल्प–ग्राह्य हैं, थोड़ा ग्रहण करते हैं, जैसे कोई पुरुष बहुत जलसे भरे हुए समुद्रमें से अपने वस्त्र को धोनेके लिये वस्त्र धोनेमात्र जल ग्रहण करता है, और जिन मुनियोंके इच्छा निवृत्त हो गई उनके सब दुःख निवृत्त हो गये।

भावार्थः––जगत में यह प्रसिद्ध है कि जिनके संतोष है वे सुखी हैं, इस न्याय से यह सिद्ध हुआ कि जिन मुनियोंके इच्छाकी निवृत्ति हो गई है, उनके संसार के विषय संबन्धी इच्छा किंचित्मात्र भी नहीं है, देह से भी विरक्त हैं इसलिये परम संतोषी हैं, और आहारादि कुछ ग्रहण योग्य हैं उनमें से भी उल्प को ग्रहण करते हैं इसलिये वे परम संतोषी हैं, वे परम सुखी हैं, यह जिनसूत्र के श्रद्धानका फल है, अन्य सूत्र में यथार्थ निवृत्तिका प्ररूपण नहीं है, इसलिये कल्याणके सुख को चाहने वालोंको जिनसूत्रका निरंतर सेवन करना योग्य है ।।२७।।

ऐसे सूत्रपाहुड को पूर्ण किया।

पट शुद्धिमात्र समुद्रजलवत् ग्राह्य पण अल्प ज ग्रहे,
इच्छा निवर्ती जेमने, दुःख सौ निवर्त्या तेमने। २७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(छप्पय)

जिनवर की ध्वनी मेघ धवनी सम मुखते गरजे,
गणधरके श्रुति भूमि वरषि अक्षर पद सरजे;
सकल तत्त्व परकास करै जगताप निवारै,
हेय अहेय विधान लोक नीकै मन धारै।
विधि पुण्य–पाप अरु लोक की मुनि श्रावक आचरण फुनि।
करि स्वपर भेद निर्णय सकल, कर्म नाशि शिव लहत मुनि ।।१।।

(दोहा)

वर्धमान जिनके वचन वरतैं पंचम काल।
भव्यपाय शिवमग लहै नमूं तास गुणमाल।।२।।

इति पं॰ जयचन्द्र छाबड़ा कृत देषभाषावचनिकाके हिन्दी अनुवाद सहित
श्री कुन्दकुन्दस्वामि विरचित सूत्रपाहुद समाप्त ।।२।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

चारित्रपाहुड़

— ३ —

दोहा

वीतराग सर्वज्ञ जिन वंदू मन वच काय।
चारित धर्म बखानिये सांचो मोक्ष उपाय ।।१।।

कुन्दकुन्दमुनिराजकृत चारितपाहुड़ ग्रंथ।
प्राकृत गाथा बंधकी करूं वचनिका पंथ ।।२।।

इसप्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके अब चारित्रपाहुड़ प्राकृत गाथाबद्ध की देशभाषामय वचनिकाका हिन्दी अनुवाद लिखा जाता है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रथम ही मंगलके लिये इष्टदेव को नमस्कार करके चारित्रपाहुड़को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं:—

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी।
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ।। १।।

णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं।
मोक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे ।। २।। युग्मम्।

सर्वज्ञान् सर्वदर्शिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः।
वंदित्वा त्रिजगद्वंदितान् अर्हतः भव्यजीवैः ।। १।।

ज्ञानं दर्शनं सम्यक् चारित्रं शुद्धिकारणं तेषाम्।
मोक्षाराधनहेतुं चारित्रं प्राभृतं वक्ष्ये ।। २।। युग्मम्।

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि मैं अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार करके चारित्रपाहुड़ को कहूँगा। अरहंत परमेष्ठी कैसे हैं? अरहंत ऐसे प्राकृत अक्षर की अपेक्षा तो ऐसा अर्थ है—अकार आदि अक्षरसे तो 'अरि' अर्थात् मोहकर्म, रकार अक्षरकी अपेक्षा रज अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म, उस ही रकार से रहस्य अर्थात् अंतराय कर्म—इसप्रकार से चार घातिया कर्मोंको हनना—घताना जिनके हुआ वे अरहन्त हैं। संस्कृतकी अपेक्षा 'अर्ह' ऐसा पूजा अर्थ में धातु है उससे 'अर्हन्' उससे ऐसा निष्पन्न हो तब पूजा योग्य हो उसको अर्हत् कहते हैं वह भव्य जीवोंसे पूज्य है। परमेष्ठी कहने से परम इष्ट अर्थात्

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्कृष्ट पूज्य हो उसे परमेष्ठी कहते हैं अथवा परम जो उत्कृष्ट पद में तिष्ठे वह परमेष्ठी है। इसप्रकार इन्द्रादिक से पूज्य अरहन्त परमेष्ठी हैं।

सर्वज्ञ हैं, सब लोकालोक स्वरूप चराचर पदार्थों को प्रत्यक्ष जाने वह सर्वज्ञ है। सर्वदर्शी अर्थात् सब पदार्थोंको देखने वाले हैं। निर्मोह हैं, मोहनीय नामके कर्म की प्रधान प्रकृति मिथ्यात्व है उससे रहित हैं। वीतराग हैं, जिनके विशेषरूप से राग दूर हो गया हो सो वीतराग हैं, उनके चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे (–उदयवश) हो ऐसा रागद्वेष भी नहीं है। त्रिजगद्वंद्य हैं, तीन जगत के प्राणी तथा उनके स्वामी इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तियोंसे वंदने योग्य हैं। इसप्रकारसे अरहन्त पदको विशेष्य करके और अन्य पदोंको विशेषण करने पर इसप्रकार भी अर्थ होता है, परन्तु वहाँ अरहन्त भव्य जीवों से पूज्य हैं इसप्रकार विशेषण होता है।

चारित्र कैसा है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीन आत्माके परिणाम हैं, उनके शुद्धताका कारण है, चारित्र अंगीकार करने पर सम्यग्दर्शनादि परिणाम निर्दोष होता है। चारित्र मोक्ष के आराधन का कारण है, –इसप्रकार चारित्र पाहुड़ (प्राभृत) ग्रंथको कहूँगा, इसप्रकार आचार्य ने मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा की है।।१–२।।

आगे सम्यग्दर्शनादि तीन भावों का स्वरूप कहते हैं:––

सर्वज्ञ छे, परमेष्ठी छे, निर्मोह ने वीतराग छे,
ते त्रिजगवंदित, भव्यपूजित अर्हतोने वंदीने; १।

भाखीश हुं चारित्रप्राभृत मोक्षने आराधवा,
जे हेतु छे सुज्ञान–दृग–चारित्र केरी शुद्धिमां। २।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं।। ३।।

यज्जानाति तत् ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं भणितम्।
ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् भवति चारित्रम्।। ३।।

अर्थः––जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है वह दर्शन है ऐसे कहा है। ज्ञान और दर्शन के समायोग से चारित्र होता है।

भावार्थः––जाने वह तो ज्ञान और देखे, श्रद्धान हो वह दर्शन तथा दोनों एक रूप होकर स्थिर होना चारित्र है।।३।।

आगे कहते हैं कि जो तीन भाव जीवके हैं उनकी शुद्धता के लिये चारित्र दो प्रकार का कहा है:––

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं।। ४।।

एते त्रयोऽपि भावाः भवंति जीवस्य अक्षयाः अमेयाः।
त्रयाणामपि शोधनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रं।। ४।।

अर्थः––ये ज्ञान आदिक तीन भाव कहे, ये अक्षय और अनन्त जीवके भाव हैं, इनको शोधने के लिये जिनदेव ने दो प्रकार का चारित्र कहा है।

भावार्थः––जानना, देखना और आचरण करना ये तीन भाव जीवके अक्षयानंत हैं, अक्षय अर्थात् जिसका नाश नहीं है, अमेय अर्थात् अनंत जिसका पार नहीं है, सब लोका लोकको जाननेवाला ज्ञान है, इसप्रकार ही दर्शन है, इसप्रकार ही चारित्र है तथापि घातिकर्म के निमित्त से अशुद्ध हैं, जो ज्ञान–दर्शन–चारित्ररूप हैं इसलिये श्री जिनदेव ने इनको शुद्ध करने के लिये इनका चारित्र [आचरण करना] दो प्रकार का कहा है ।।४।।

जे जाणतुं ते ज्ञान, देखे तेह दर्शन उक्त छे;
ने ज्ञान–दर्शनना समायोगे सुचारित होय छे। ३।

आ भाव त्रण आत्मा तणा अविनाश तेम अमेय छे;
अे भावत्रयनी शुद्धि अर्थे द्विविध चरण जिनोक्त छे। ४।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे दो प्रकार का कहा सो कहते हैं:--

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्त चरण चारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि।। ५।।

जिनज्ञानदृष्टिशुद्धं प्रथमं सम्यक्त्व चरण चारित्रम्।
द्वितीयं संयमचरणं जिनज्ञानसंदेशितं तदपि।। ५।।

अर्थ:--प्रथम तो सम्यक्त्वका आचरणस्वरूप चारित्र है, वह जिनदेवके ज्ञान-दर्शन-श्रद्धानसे किया हुआ शुद्ध है। दूसरा संयमका आचरणस्वरूप चारित्र है, वह भी जिनदेवके ज्ञानसे दिखाया हुआ शुद्ध है।

भावार्थ:--चारित्र को दो प्रकार का कहा है। प्रथम तो सम्यक्त्वका आचरण कहा वह जो आगम में तत्त्वार्थका स्वरूप कहा उसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना और उसके शंकादि अतिचार मल दोष कहे, उनका परिहार करके शुद्ध करना तथा उसके नि:शंकितादि गुणोंका प्रगट होना वह सम्यक्त्वचरण चारित्र है और जो महाव्रत आदि अंगीकार करके सर्वज्ञके आगममें कहा वैसे संयमका आचरण करना, और उसके अतिचार आदि दोषोंको दूर करना, संयमचरण चारित्र है, इसप्रकार संक्षेप से स्वरूप कहा।।५।।

आगे सम्यक्त्वचरण चारित्रके मल दोषोंका परिहार करके आचरण करना कहते हैं:--

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाइ।
परिहर सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण।। ६।।

सम्यक्त्वचरण छे प्रथम, जिनज्ञानदर्शनशुद्ध जे;
बीजुं चरित संयमचरण, जिनज्ञानभाषित तेय छे। ५।

इम जाणीने छोडो त्रिविध योगे सकल शंकादिने,
मिथ्यात्वमय दोषो तथा सम्यक्त्वमल जिन-उक्तने। ६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एवं चैवज्ञात्वा च सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शंकादीन्।
परिहर सम्यक्त्वमलान् जिनभणितान् त्रिविधयोगेन।। ६।।

अर्थः––ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्रको जानकर मिथ्यात्व कर्मके उदयसे हुए शंकादिक दोष सम्यक्त्वको अशुद्ध करने वाले मल हैं ऐसा जिनदेव ने कहा है, इनको मन, वचन, कायके तीनों योगों से छोड़ना।

भावार्थः––सम्यक्त्वाचरण चारित्र, शंकादि दोष सम्यक्त्व के मल हैं, उनको त्यागने पर शुद्ध होता है, इसलिये इनको त्याग करने का उपदेश जिनदेव ने किया है। वे दोष क्या हैं वह कहते हैं––जिनवचनमें वस्तु का स्वरूप कहा उसमें संशय करना शंका दोष है; इसके होने पर सप्तभय के निमित्त से स्वरूप से चिग जाय वह भी शंका है। भोगों की अभिलाषा कांक्षा दोष है, इसके होने पर भोगोंके लिये स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है। वस्तुके स्वरूप अर्थात् धर्म में ग्लानि करना जुगुप्सा दोष है, इसके होने पर धर्मात्मा पुरुषोंके पूर्वकर्म के उदय से बाह्य मलिनता देखकर मत से चिग जाना होता है।

देव–गुरु–धर्म तथा लौकिक कार्यों में मूढ़ता अर्थात् यथार्थ स्वरूपको न जानना सो मूढ़दृष्टि दोष है, इसके होने पर अन्य लौकिक जनोंसे माने हुए सरागी देव, हिंसाधर्म और सग्रन्थ गुरु तथा लोगोंके बिना विचार किये ही मानी हुई अनेक क्रिया विशेषोंसे विभवादिककी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करने से यथार्थ मत से भ्रष्ट हो जाता है। धर्मात्मा पुरुषों में कर्म के उदय से कुछ दोष उत्पन्न हआ देखकर उनकी अवज्ञा करना सो अनुपगूहन दोष है, इसके होने पर धर्मसे छूट जाना होता है। धर्मात्मा पुरुषोंको कर्मके उदयके वश से धर्मसे चिगते देखकर उनकी स्थिरता न करना सो अस्थितिकरण दोष है, इसके होने पर ज्ञात होता है कि इसको धर्मसे अनुराग नहीं है और अनुरागका न होना सम्यक्त्व में दोष है।

धर्मात्मा पुरुषोंसे विशेष प्रीती न करना अवात्सल्य दोष है, इसके होने पर सम्यक्त्वका अभाव प्रगट सूचित होता है। धर्मका महात्म्य शक्ति के अनुसार प्रगट न करना अप्रभावना दोष है, इसके होने पर ज्ञात होता है कि इसके धर्मके महात्म्यकी श्रद्धा प्रगट नहीं हुई है।––– इसप्रकार यह आठ दोष सम्यक्त्वके मिथ्यात्वके उदय से (उदयके वश में होने से) होते हैं, जहाँ ये तीव्र हों वहाँ तो मिथ्यात्व प्रकृति का उदय बताते हैं, सम्यक्त्वका अभाव बताते हैं और जहाँ कुछ मंद अतिचाररूप हों तो सम्यक्त्व –प्रकृति नामक मिथ्यात्वकी प्रकृति के उदय से हों वे अतिचार कहलाते हैं, वहाँ क्षयोपशमिक सम्यक्त्वका सद्भाव होता है; परमार्थसे विचार करें तो अतिचार त्यागने ही योग्य हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इन दोषोंके होने पर अन्य भी मल प्रगट होते हैं, वे तीन मूढ़ताएँ हैं———

१ देवमूढ़ता, २ पाखण्डमूढ़ता, ३ लोकमूढ़ता। किसी वर की इच्छा से सरागी देवों की उपासना करना उनकी पाषाणादि में स्थापना करके पूजना **देवमूढ़ता** है। ढ़ोंगी गुरुओंमें मूढ़ता–परिग्रह, आरंभ, हिंसादि सहित पाखण्डी (ढ़ोंगी) भेषधारियोंका सत्कार, पुरस्कार करना **पाखण्डी-मूढ़ता** है। लोकमूढ़ता अन्य मतवालोंके उपदेशसे तथा स्वयं ही बिना विचारे कुछ प्रवृत्ति करने लग जाय वह **लोकमूढ़ता** है, जैसे सूर्य के अर्घ देना, ग्रहण में स्नान करना, संक्रांति में दान करना, अग्निका सत्कार करना, देहली, घर, कुआ पूजना, गायकी पूंछको नमस्कार करना, गायके मूत्रको पीना, रत्न, घोडा आदि वाहन, पृथ्वी, वृक्ष, शस्त्र, पर्वत आदिककी सेवा–पूजा करना, नदी–समुद्रको तीर्थ मानकर उनमें स्नान करना, पर्वतसे गिरना, अग्नि में प्रवेश करना इत्यादि जानना।

छह अनायतन हैं———कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनके भक्त——ऐसे छह हैं, इनको धर्म स्थान जानकर इनकी मनसे प्रशंसा करना, वचन से सराहना करना, काय से वंदना करना। ये धर्मके स्थान नहीं हैं इसलिये इनको अनायतन कहते हैं। जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या, ऐश्वर्य इनका गर्व करना आठ मद हैं। जाति माता पक्ष है, लाभ धनादिक कर्मके उदय के आश्रय है, कुल पिता पक्ष है, रूप कर्मोदयाश्रित है, तप अपने स्वरूपको साधने का साधन है, बल कर्मोदयाश्रित है, विद्या कर्मके क्षयोपशमाश्रित है, ऐश्वर्य कर्मोदयाश्रित है, इनका गर्व क्या? परद्रव्यके निमित्तसे होने वाले का गर्व करना सम्यक्त्वका अभाव बताता है अथवा मलिनता करता है। इसप्रकार ये पच्चीस, सम्यक्त्वके मल दोष हैं, इनका त्याग करने पर सम्यक्त्व शुद्ध होता है, वही सम्यक्त्वाचरण चारित्र का अंग है।।६।।

आगे शंकादि दोष दूर होने पर सम्यक्त्वके आठ अंग प्रगट होते हैं उनको कहते हैं:——

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठि य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ।। ७।।

निशंकितं निःकांक्षितं निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टी च।
उपगूहनं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावना च ते अष्टौ।। ७।।

अर्थः––निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं।

भावार्थः––ये आठ अंग पहिले कहे हुए शंकादि दोषोंके अभाव से प्रगट होते हैं, इनके उदाहरण पुराणोंमें हैं उनकी कथा से जानना। निःशंकितका अंजन चोर का उदाहरण है, जिसने जिनवचन में शंका न की, निर्भय हो छीके की लड़ काट कर के मंत्र सिद्ध किया। निःकांक्षितका सीता, अनंतमती, सुतारा आदिका उदाहरण है, जिन्होंने भोगों के लिये धर्म को नहीं छोड़ा। निर्विचिकित्साका उद्दायन राजाका उदाहरण है, जिसने मुनिका शरीर अपवित्र देखकर भी ग्लानि नहीं की। अमूढ़दृष्टिका रेवती रानी का उदाहरण है, जिसको विद्याधर ने अनेक महिमा दिखाई तो भी श्रद्धानसे शिथिल नहीं हुई।

उपगूहनका जिनेन्द्रभक्त सेठका उदाहरण है, जिस चोरने ब्रह्मचारी का भेष बना करके छत्र की चोरी की, उसको उसको ब्रह्मचारी पद की निंदा होती जानकर उसके दोष को छिपाया। स्थितिकरण का वारिषेण का उदाहरण है, जिसने पुष्पदंत ब्राह्मणको मुनिपद से शिथिल हुआ जानकर दृढ़ किया। वात्सल्यका विष्णुकुमारका उदाहरण है, जिनने अकंपन आदि मुनियोंका उपसगर निवारण किया। प्रभावना में वज्रकुमार मुनिका उदाहरण है, जिसने विद्याधर से सहायता पाकर धर्मकी प्रभावना की। ऐसे आठ अंग प्रगट होने पर सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है, जैसे शरीर में हाथ, पैर होते हैं वैसे ही सम्यक्त्व के अंग हैं। ये न हों तो विकलांग होता है।।७।।

आगे कहते हैं कि इसप्रकार पहला सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है:––

निःशंकता, निःकांक्ष, निर्विकित्स, अविमूढत्व ने
उपगूहन, थिति, वात्सल्यभाव, प्रभावना–गुण अष्ट छे। ७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाए।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मतचरणचारित्तं।।८।।

तच्चैव गुणविशुद्धं जिनसम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय।
तत् चरति ज्ञानयुक्तं प्रथमं सम्यक्त्व चरणचारित्रम्।।८।।

अर्थः––वह जिनसम्यक्त्व अर्थात् अरहंत जिनदेव की श्रद्धा निःशंकित आदि गुणोंसे विशुद्ध हो उसका यथार्थ ज्ञानके साथ आचरण करे वह प्रथम सम्यक्त्वचरण चारित्र है, वह मोक्षस्थान के लिये होता है।

भावार्थः––सर्वज्ञभाषित तत्त्वार्थकी श्रद्धा निःशंकित आदि गुण सहित, पच्चीस मल दोष रहित, ज्ञानवान आचरण करे उसको सम्यक्त्वचरण चारित्र कहते हैं। यह मोक्ष की प्रप्ति के लिये होता है क्योंकि मोक्षमार्ग में पहिले सम्यग्दर्शन कहा है इसलिये मोक्षमार्ग में प्रधान यह ही है।।८।।

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार सम्यक्त्वचरण चरित्र को अंगीकार करे तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता हैः––

सम्मतचरणसुद्धा संजम चरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ।।९।।

सम्यक्त्वचरणविशुद्धाः संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः।
ज्ञानिनः अमूढदृष्टयः अचिरं प्राप्नुवंति निर्वाणम् ।।९।।

अर्थः––जो ज्ञानी होते हुए अमूढ़दृष्टि होकर सम्यक्त्वचरण चारित्रसे शुद्ध होता है और जो संयमचरण चारित्र से सम्यक् प्रकार शुद्ध हो तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

भावार्थः––जो पदार्थोंके यथार्थ ज्ञान से मूढ़दृष्टि रहित विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होकर सम्यक्चारित्र स्वरूप संयम का आचारण करे तो शीघ्र ही मोक्ष को पावे, संयम अंगीकार करने पर स्वरूपके साधनरूप एकाग्र धर्मध्यान के बलसे सातिशय अप्रमत्त

ते अष्टगुणसुविशुद्ध जिनसम्यक्त्वने–शिवहेतुन,
आचरवुं ज्ञान समेत, ते सम्यक्त्वचरण चरित्र छे। ८।

सम्यक्त्वचरणविशुद्धने निष्पन्नसंयमचरण जो,
निर्वाणने अचिरे वरे अविमूढ दृष्टि ज्ञानीओ। ९।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गुणस्थानरूप हो श्रेणी चढ़ अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान उत्पन्न कर अघातिकर्मका नाश करके मोक्ष प्राप्त करता है, यह सम्यक्त्वचरण चारित्रका ही माहात्म्य है।।९।।

आगे कहते हैं कि जो सम्यक्त्व के आचरण से भ्रष्ट हैं और वे संयमका आचरण करते हैं तो भी मोक्ष नहीं पाते हैं:---

सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा।
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं।। १०।।

सम्यक्त्वचरणभ्रष्टा: संयमचरणं चरन्ति येऽपि नरा:।
अज्ञानज्ञानमूढा:तथाऽपि न प्राप्नुवंति निर्वाणम्।। १०।।

अर्थ:--जो पुरुष सम्यक्त्वचरण चारित्रसे भ्रष्ट है और संयमका आचरण करते हैं तो भी वे अज्ञान से मूढ़दृष्टि होते हुए निर्वाण को नहीं पाते हैं।

भावार्थ:--सम्यक्त्वचरण चारित्रके बिना संयमचरण चारित्र निर्वाणका कारण नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञानके बिना तो ज्ञान मिथ्या कहलाता है, सो इसप्रकार सम्यक्त्वके बिना चारित्र के भी मिथ्यापना आता है।।१०।।

आगे प्रश्न उत्पन्न होता है कि इसप्रकार सम्यक्त्वचरण चारित्र के चिन्ह क्या हैं जिनसे उसको जानें, इसके उत्तररूप गाथामें सम्यक्त्व के चिन्ह कहते हैं:---

विच्छल्लं विणएण य अणकंपाए सुदाण दच्छाए।
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य।। ११।।

ए ए हिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण।। १२।।

सम्यक्त्वचरणविहीन छो संयमचरण जन आचरे,
तोपण लहे नहि मुक्तिने अज्ञानज्ञानविमूढ अे। १०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वात्सल्यं विनयेन च अनुकंपया सुदान दक्षया।
मार्गगुणशंसनथा उपगूहनं रक्षणेन च।।११।।

एतैः लक्षणैः च लक्ष्यते आर्जवैः भावैः।
जीवः आराधयन् जिनसम्यक्त्वं अमोहेन।।१२।।

अर्थः––जिनदेवकी श्रद्धा–सम्यक्त्वकी मोह अर्थात् मिथ्यात्व रहित आराधना करता हुआ जीव इन लक्षणोंसे अर्थात् चिन्होंसे पहिचाना जाता है–प्रथम तो धर्मात्मा पुरुषोंसे जिसके वात्सल्यभाव हो, जैसे तत्कालकी प्रसूतिवान गाय को बच्चे से प्रीति होती है वैसे धर्मात्मा से प्रीति हो, एक तो यह चिन्ह है। सम्यक्त्वादि गुणोंसे अधिक हो उसका विनय–सत्कारादिक जिसके अधिक हो, ऐसा विनय एक यह चिन्ह है। दुःखी प्राणी देखकर करुणाभाव स्वरूप अनुकंपा जिसके हो, एक यह चिन्ह है, अनुकंपा कैसी हो? भले प्रकार दान से योग्य हो। निर्ग्रन्थस्वरूप मोक्षमार्ग की प्रशंसा सहित हो, एक यह चिन्ह है, जो मार्ग की प्रशंसा नहीं करता हो तो जानो कि इसके मार्ग की दृढ़ श्रद्धा नहीं है। धर्मात्मा पुरुषों के कर्मके उदयसे [उदयवश] दोष उत्पन्न हो उसको विख्यात न करे इसप्रकार उपगूहन भाव हो, एक यह चिन्ह है। धर्मात्मा को मार्ग से चिगता जानकर उसकी स्थिरता करे ऐसा रक्षण नामका चिन्ह है इसको स्थितिकरण भी कहते हैं। इन सब चिन्होंको सत्यार्थ करनेवाला एक आर्जवभाव है, क्योंकि निष्कपट परिणामसे यह सब चिन्ह प्रगट होते हैं, सत्यार्थ होते हैं, इतने लक्षणोंसे सम्यग्दृष्टि को जान सकते हैं।

भावार्थः––सम्यक्त्वभाव–मिथ्यात्व कर्मके अभावमें जीवोंका निजभाव प्रगट होता है सो वह भाव तो सूक्ष्म है, छद्मस्थ के ज्ञानगोचर नहीं है और उसके बाह्य चिन्ह सम्यग्दृष्टि के प्रगट होते हैं, उनसे सम्यक्त्व हुआ जाना जाता है। जो वात्सल्य आदि भाव कहें वे आपके तो अपने अनुभवगोचर होते हैं और अन्य के उसकी वचन काय की क्रिया से जाने जाते है, उनकी परीक्षा जैसे अपने क्रियाविशेष से होती है वैसे ही अन्य की भी क्रिया विशेष से परीक्षा होती है, इसप्रकार व्यवहार है। यदि ऐसा न हो तो सम्यक्त्व व्यवहार मार्गका लोप हो इसलिये व्यवहारी प्राणीको व्यवहारका ही आश्रय कहा है, परमार्थको सर्वज्ञ जानता है।।११–१२।।

वात्सल्य–विनय थकी, सुदाने दक्ष अनुकंपा थकी,,
वळी मार्गगुणस्तवना थकी, उपगूहन ने स्थितिकरणथी। ११।

–आ लक्षणोथी तेम आर्जवभावथी लक्षाय छे,
वणमोह जिनसम्यक्त्वने आराधनारो जीव जे। १२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अब कहते हैं कि जो ऐसे कारण सहित हो तो सम्यक्त्व छोड़ता है:--

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कुदंसणे सद्धा।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं।। १३।।

उत्साह भावना शंप्रशंसासेवा कुदर्शने श्रद्धा।
अज्ञानमोहमार्गे कुर्वन् जहाति जिनसम्यक्त्वम्।। १३।।

अर्थ:--कुदर्शन अर्थात् नैयायिक , वैशेषिक, सांख्यमत, मीमांसकमत, वैदान्त , बौद्धमत, चार्वाकमत, शून्यवादके मत इनके भेष तथा इनके भाषित पदार्थ और श्वेताम्बरादिक जैनाभास इनमें श्रद्धा, उत्साह, भावना, प्रशंसा और इनकी उपासना व सेवा जो पुरुष करता है वह जिनमत की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को छोड़ता है, वह कुदर्शन, अज्ञान और मिथ्यात्व का मार्ग है।

भावार्थ:--अनादिकाल से मिथ्यात्वकर्म के उदय से (उदयवश) यह जीव संसार में भ्रमण करता है सो कोई भाग्य के उदय से जिनमार्ग की श्रद्धा हुई हो और मिथ्तामत के प्रसंग में मिथ्तामत में कुछ कारण से उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा, श्रद्धा उत्पन्न हो तो सम्यक्त्वका अभाव हो जाय, क्योंकि जिनमत के सिवाय अन्य मतों में छद्मस्थ अज्ञानियों द्वारा प्ररूपित मिथ्या पदार्थ तथा मिथ्या प्रवृत्तिरूप मार्ग है, उसकी श्रद्धा आवे तब जिनमत की श्रद्धा जाती रहे, इसलिये **मिथ्यादृष्टियों का संसर्ग ही नहीं करना**, इसप्रकार भावार्थ जानना।। १३।।

आगे कहते हैं कि जो ये ही उत्साह भावनादिक कहे वे सुदर्शन में हों तो जिनमत की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है---

---

अज्ञानमोहपथे कुमतमां भावना, उत्साह ने।
श्रद्धा, स्तवन, सेवा करे जे, ते तजे सम्यक्त्वने। १३।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा
ण जहादि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण।। १४।।

उत्साहभावना शंप्रशंससेवाः सुदर्शने श्रद्धां।
न जहाति जिनसम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञानमार्गेण।। १४।।

अर्थः––सुदर्शन अर्थात् सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र स्वरूप सम्यक्मार्ग उसमें उत्साह भावना अर्थात् ग्रहण करने का उत्साह करके बारम्बार चिंतवनरूप भाव और प्रशंसा अर्थात् मन–वचन–काय से भला जानकर स्तुति करना, सेवा अर्थात् उपासना, पूजनादिक करना और श्रद्धा करना, इसप्रकार ज्ञानमार्गसे यथार्थ जानकर करता पुरुष है वह जिनमत की श्रद्धारूप सम्यक्त्वको नहीं छोड़ता है।

भावार्थः––जिनमत में उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा, श्रद्धा जिसके हो वह सम्यक्त्व से च्युत नहीं होता है।। १४।।

आगे अज्ञान, मिथ्यातव, कुचारित्र त्यागका उपदेश करते हैं:––

अण्णांणं मिच्छत्तं वज्जह णाणे विसुद्धसम्मत्ते।
अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए।। १५।।

अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्ज्जय ज्ञाने विशुद्धसम्यक्त्वे।
अथ मोहं सारंभं परिहर धर्मे अहिंसायाम्।। १५।।

अर्थः––आचार्य कहते हैं कि हे भव्य! तू ज्ञान के होने पर तो अज्ञानका त्याग कर, विशुद्ध सम्यक्त्व के होनेपर मिथ्यात्वका त्याग कर और अहिंसा लक्षण धर्म के होने पर आरंभसहित मोह को छोड़।

भावार्थः––सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की प्राप्ति होनेपर फिर मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्रमें मत प्रवर्तो, इसप्रकार उपदेश है।। १५।।

सद्दर्शने उत्साह, श्रद्धा, भावना, सेवा अने
स्तुति ज्ञानमार्गथी जे करे, छोडे न जिनसम्यक्त्वने। १४।

अज्ञान ने मिथ्यात्व तज, लही ज्ञान, समकित शुद्धने
वळी मोह तज सारंभ तुं, लहीने अहिंसाधर्मने। १५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

आगे फिर उपदेश करते हैं:--

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते।। १६।।

प्रव्रज्यायां संगत्यागे प्रवर्त्तस्व सुतपसि सुसंयमे भावे।
भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे वीतरागत्वे।। १६।।

अर्थ:--हे भव्य! तू संग अर्थात् परिग्रह का त्याग जिसमें हो ऐसी दीक्षा ग्रहण कर और भले प्रकार संयम स्वरूप भाव होनेपर सम्यक्प्रकार तप में प्रवर्तन कर जिससे तेरे मोह रहित वीतरागपना होनेपर निर्मल धर्म-शुक्लध्यान हो।

भावार्थ:--निर्ग्रन्थ हो दीक्षा लेकर, संयमभावसे भले प्रकार तप में प्रवर्तन करे, तब संसार का मोह दूर होकर वीतरागपना हो, फिर निर्मल धर्मध्यान शुक्लध्यान होते हैं, इसप्रकार ध्यान से केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिये इसप्रकार उपदेश है।। १६।।

आगे कहते हैं कि यह जीव अज्ञान ओर मिथ्यात्व के दोषसे मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करता है---

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं।
वज्झंति मूढजीवा [१]मिच्छत्ताबुद्धिउदएण।। १७।।

मिथ्यादर्शनमार्गे मलिने अज्ञानमोहदोषैः।
वध्यन्ते मूढजीवाः मिथ्यात्वाबुद्ध्युदयेन।। १७।।

अर्थ:--मूढ़ जीव अज्ञान और मोह अर्थात् मिथ्यात्व के दोषोंसे मलिन जो मिथ्यादर्शन अर्थात् कुमत के मार्ग में मिथ्यात्व और अबुद्धि अर्थात् अज्ञान के उदयसे प्रवृत्ति करते हैं।

निःसंग लही दीक्षा, प्रवर्त सुसंयमे, सत्तप विषे;
निर्मोह वीतरागत्व होतां ध्यान निर्मळ होय छे। १६।

जे वर्तता अज्ञानमोहमले मलिन मिथ्यामते,
ते मूढजीव मिथ्यात्व ने मतिदोषथी बंधाय छे। १७।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––ये मूढ़जीव मिथ्यात्व और अज्ञानके उदय से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तते हैं इसलिये मिथ्यात्व–आज्ञानका नाश करना यह उपदेश है।। १७।।

आगे कहते हैं कि सम्यक्दर्शन, ज्ञान, श्रद्धानसे चारित्रके दोष दूर होते हैं:––

सम्मदंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे।। १८।।

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्।
सम्यक्त्वेन च श्रद्धाति च परिहरति चारित्रजान् दोषान्।। १८।।

अर्थः––यह आत्मा सम्यक्दर्शन से तो सत्तामात्र वस्तु को देखता है, सम्यग्ज्ञान से द्रव्य और पर्यायोंको जानता है, सम्यक्त्व से द्रव्य–पर्यायस्वरूप सत्तामयी वस्तुका श्रद्धान करता है और इसप्रकार देखना, जानना व श्रद्वान होता है तब चारित्र अर्थात् आचरण में उत्पन्न हुए दोषोंको छोड़ता है।

भावार्थः––वस्तुका स्वरूप द्रव्य–पर्यायात्मक सत्तास्वरूप है, सो जैसा हैं वैसा देखे, जाने, श्रद्धान करे तब आचरण शुद्ध करे, सो सर्वज्ञके आगम से वस्तुका निश्चय करके आचरण करना। वस्तु है वह द्रव्य–पर्यायस्वरूप है। द्रव्यका सत्ता लक्षण है तथा गुणपर्यायवान को द्रव्य कहते है। पर्याय दो प्रकार की है, सहवर्ती और क्रमवर्ती। सहवर्ती को गुण कहते हैं और कमवर्ती को पर्याय कहते हैं–द्रव्य सामान्यरूपसे एक है तो भी विशेषरूप से छह हैं–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।। १८।।

जीव के दर्शन–ज्ञानमयी चेतना तो गुण है और अचक्षु आदि दर्शन, मति आदिक ज्ञान तथा क्रोध, मान , माया, लोभ आदि व नर, नारकादि विभाव पर्याय है, स्वभाव पर्याय अगुरुलघु गुण के द्वारा हानि–वृद्धि का परिणमन है। पुद्गल द्रव्य के स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप मूर्तिकपना तो गुण हैं और स्पर्श, रस, गंध वर्णका भेदरूप परिणमन तथा अणुसे स्कन्धरूप होना तथा शब्द, बन्ध आदिरूप होना इत्यादि पर्याय है। धर्म–अधर्म के गतिहेतुत्व–स्थितिहेतुत्वपना तो गुण है और इस गुण के जीव–पुद्गलके गति–स्थिति के भेदोंसे भेद होते हैं वे पर्याय हैं तथा अगुरुलघु गुणके द्वारा हानि–वृद्धिका परिणमन होता है जो स्वभाव पर्याय है।

देखे दरशथी, ज्ञानथी जाणे दरव–पर्यायने,
सम्यक्त्वथी श्रद्धा करे, चारित्रदोषो परिहरे। १८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आकाश का अवगाहना गुण है और जीव–पुद्गल आदि के निमित्तसे प्रदेश भेद कल्पना किये जाते हैं वे पर्याय हैं तथा हानि–वृद्धिका परिणमन वह स्वभावपर्याय है। कालद्रव्य का वर्तना तो गुण है और जीव और पुद्गल के निमित्त से समय आदि कल्पना सो पर्याय है इसको व्यवहारकाल भी कहते हैं तथा हानि–वृद्धिका परिणमन वह स्वभावपर्याय है इत्यादि। इनका स्वरूप जिन–आगमसे जानकर देखना, जानना, श्रद्धान करना, इससे चारित्र शुद्ध होता है। बिना ज्ञान, श्रद्धान के आचरण शुद्ध नहीं होता है, इसप्रकार जानना।। १८।।

आगे कहते हैं कि ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन भाव मोह रहित जीवके होते हैं, इनका आचरण करता हुआ शीघ्र मोक्ष पाता है:–––

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण य कम्म परिहरइ।। १९।।

ए ते त्रयोऽपि भावा: भवंति जीवस्य मोहरहितस्य।
निजगुणमाराधयन् अचिरेण च कर्म परिहरति।। १९।।

अर्थ:––ये पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीन भाव हैं, ये निश्चयसे मोह अर्थात् मिथ्यात्वरहित जीव के ही होते हैं, तब यह जीव अपना निज गुण जो शुद्धदर्शन –ज्ञानमयी चेतना की अराधना करता हुआ थोड़ ही काल में कर्मका नाश करता है।

भावार्थ:––निजगुण के ध्यान से शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष पाता है।।१९।।

रे! होय छे भावो त्रणे आ, मोहविरहित जीवने;
निज आत्मगुण आराधतो ते कर्मने अचिरे तजे। १९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे इस सम्यक्त्व चरित्रके कथनका संकोच करते हैं:––

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमत्ता[१] णं।
सम्मत्तमणुचरंता करेंति दुक्खक्खयं धीरा।। २०।।

संख्येयामसंख्येयगुणां संसारिमेरुमात्रा णं।
सम्यक्त्वमनुचरंतः कुर्वन्ति दुःखक्षयं धीराः।। २०।।

अर्थः––सम्यक्त्वका आचरण करते हुए धीर पुरुष संख्यातगुणी तथा असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा करते हैं और कर्मोंके उदयसे हुए संसारके दुःखका नाश करते हैं। कर्म कैसे हैं? संसारी जीवोंके मेरू अर्थात् मर्यादा मात्र हैं और सिद्ध होवे के बाद कर्म नहीं हैं।

भावार्थः––इस सम्यक्त्व का आचरण होनेपर प्रथम काल में तो गुणश्रेणी निर्जरा होती है, वह असंख्यातके गुणकार रूप है। पीछे जब तक संयम का आचरण नहीं होता है तबतक गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती है। वहाँ संख्यात के गुणाकाररूप होती है इसलिये संख्यातगुण और असंख्यातगुण इसप्रकार दोनों वचन कहे। कर्म तो संसार अवस्था है, जबतक है उसमें दुःख का मोहकर्म है, उसमें मिथ्यात्वकर्म प्रधान है। समयक्त्वके होने पर मिथ्यात्वका तो अभाव ही हुआ और चारित्र मोह दुःखका कारण है, सो यह भी जब तक है तबतक उसकी निर्जरा करता है, इसप्रकार से अनुक्रमसे दुःख का क्षय होता है। संयमाचरणके होने पर सब दुःखोंका क्षय होवेगा ही। सम्यक्त्वका महात्म्य इसप्रकार है कि सम्यक्त्वाचरण होने पर संयमाचरण भी शीघ्र ही होता है, इसलिये सम्यक्त्वको मोक्षमार्ग में प्रधान जानकर इस ही का वर्णन पहिले किया है।। २०।।

आगे संयमाचरण चारित्र को कहते हैं:–––

---

१ – 'संसारीमेरूमता' ' सासारि मेरूमिता' इसका सटीक संस्कृत प्रतिमें सषर्षमेरूमात्रां इसप्रकार है।

संसारसीमित निर्जरा अणसंख्य–संख्यगुणी करे,
सम्यक्त्व आचरनार धीरा दुःखना क्षयने करे। २०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दुबिहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं [१]सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं।। २१।।

द्विविधं संयमचरणं सागारं तथा भवेत् निरागारं।
सागारं सग्रन्थे परिग्रहाद्रहिते खलु निरागारम्।। २१।।

अर्थः––संयमाचरण चारित्र दो प्रकार का है––सागार और निरागार। सागार तो परिग्रह सहित श्रावकके होता है और निरागार परिग्रहसे रहित मुनिके होता है यह निश्चय है।। २१।।

आगे सागार संयामाचरण को कहते हैं:––

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य।। २२।।

दर्शनं व्रतं सामायिकं प्रोषधं सचित्तं रात्रिभुक्तिश्च।
ब्रह्म आरंभः परिग्रहः अनुमतिः उद्दिष्ट देशविरतश्च।। २२।।

अर्थः––दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध आदिका नाम एकदेश है, और नाम ऐसे कहे हैं––प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग, इसप्रकार ग्यारह प्रकार देशविरत है।

भावार्थः––ये सागार संयामाचरण के ग्यारह स्थान हैं, इनको प्रतिमा भी कहते हैं।।२२।।

आगे इन स्थानोंमें संयमका आचरण किस प्रकार से है वह कहते हैं:––

---

१ पाठान्तरः – सग्गंथं

सागार–अण–आगार अेम द्विभेद संयमचरण छे;
सागार छे [१]सग्रंथ, अण–आगार परिग्रहरहित छे। २१।

दर्शन, व्रतं सामायिकं, प्रोषध, सचित, निशिभुक्तिने,
वळी ब्रह्म ने आरंभ आदिक देशविरतिस्थान छे। २२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पंचेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं।। २३।।

पंचैव अणुव्रतानि गुणव्रतानि भवंति तथा त्रीणि।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि संयमचरणं च सागारम्।। २३।।

अर्थः––पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत– इसप्रकार बारह प्रकारका संयमचरण चारित्र है जो सागार है, ग्रन्थसहित श्रावकके होता है इसलिये सागार कहा है।

प्रश्नः–– ये बारह प्रकार तो व्रत के कहे और पहिले गाथामें ग्यारह नाम कहे, उनमें प्रथम दर्शन नाम कहा उसमें ये व्रत कैसे होते हैं?

इसका समाधानः––अणुव्रत ऐसा नाम किंचित् व्रत का है वह पाँच अणुव्रतोंमे से किंचित् यहाँ भी होते हैं इसलिये दर्शन प्रतिमा का धारी भी अणुव्रती ही है, इसका नाम दर्शन ही कहा। यहाँ इसप्रकार जानना कि इसके केवल सम्यक्त्व ही होता है और अव्रती है अणुव्रत नहीं है। इसके अणुव्रत अतिचार सहित होते हैं इसलिये व्रती नाम कहा है, दूसरी प्रतिमा में अणुव्रत अतिचार रहित पालता है। इसलिये व्रत नाम कहा है। यहाँ सम्यक्त्व के अतिचार टालता है, सम्यक्त्व ही प्रधान है इसलिये दर्शन प्रतिमा नाम है। अन्य ग्रन्थोंमें इसका स्वरूप इसप्रकार कहा है कि–जो आठ मूलगुण का पालन करे, सात व्यसन को त्यागे, जिसके सम्यक्त्व अतिचार रहित शुद्ध हो वह दर्शन प्रतिमा धारक है। पाँच उदम्बर फल और मद्य, माँस, मधु इन आठोंका त्याग करना वह आठ मूलगुण हैं।

अथवा किसी ग्रन्थ में इसप्रकार कहा है कि–पाँच अणुव्रत पाले और मद्य, माँस, मधुका त्याग करे वह आठ मूलगुण हैं, परन्तु इसमें विरोध नहीं है, विवक्षाका भेद है। पाँच उदम्बरफल और तीन मकारका त्याग कहने से जिन वस्तुओंमें साक्षात् त्रस जीव दिखते हों उन सब ही वस्तुओंको भक्षण नहीं करे। देवादिकके निमित्त तथा औषधादि निमित्त इत्यादि कारणोंसे दिखते हुए त्रस जीवोंका घात न करें, ऐसा आशय है जो इसमें तो अहिंसाणुव्रत आया। सात व्यसनों के त्याग में

अणुव्रत कह्यां छे पांच ने त्रण गुणव्रतो निर्दिष्ट छे,
शिक्षाव्रतो छे चार;–अे संयमचरण सागार छे। २३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

जूठ, चोरी और परस्त्रीका त्याग आया, अन्य व्यसनोंके त्याग में अन्याय, परधन, परस्त्रीका ग्रहण नहीं है; इसमें अतिलोभ के त्याग से परिग्रह का घटना आया। इसप्रकार पाँच अणुव्रत आते हैं। इनके [व्रतादि प्रतिमाके] अतिचार नहीं टलते हैं इसलिये अणुव्रती नाम प्राप्त नहीं करता [फिर भी] इसप्रकार से दर्शन प्रतिमा धारक भी अणुव्रती है इसलिये देशविरत सागारसंयमाचरण चारित्र में इसको भी गिना है।।२३।।

आगे पाँ अणुव्रतोंका स्वरूप कहते हैं:---

थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्तथूले[1] य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं।। २४।।

स्थूले त्रसकायवधे स्थूलायां मृणायां अदत्तस्थूले च।
परिहारः परमहिलायां परिग्रहारंभपरिमाणम्।। २४।।

अर्थः--थूल त्रसकायका घात, थूल मृषा अर्थात् असत्य, थूल अदत्ता अर्थात् परका बिना दिया धन, पर महिला अर्थात् परस्त्री इनका तो परिहार अर्थात् त्याग और परिग्रह तथा आरम्भका परिणाम इसप्रकार पाँच अणुव्रत हैं।

भावार्थः--यहाँ थूल कहने का ऐसा जानना कि- जिसमें अपना मरण हो, परका मरण हो, अपना घर बिगड़े पर का घर बिगड़े, राजा के दण्ड योग्य हो, पंचोंके दण्ड योग्य हो इसप्रकार मोटे अन्यायरूप पापकार्य जानने। इसप्रकार स्थूल पाप राजादिकके भयसे न करे वह व्रत नहीं है, इनको तीव्र कषायके निमित्तसे तीव्र कर्मबंध के निमित्त जानकर स्वयमेव न करने के भावरूप त्याग हो वह व्रत है। इसके ग्यारह स्थानक कहे, इनमें ऊपर-ऊपर त्याग बढ़ता जाता है सो इसकी उत्कृष्टता तक ऐसा है कि जिन कार्योंमें त्रस जीवोंको बाधा हो इसप्रकार के सब ही कार्य छूट जाते हैं इसलिये सामान्य ऐसा नाम कहा है कि त्रसहिंसाका त्यागी देशव्रती होता है। इसका विशेष कथन अन्य ग्रन्थोंसे जानना।। २४।।

---

१ - 'अदत्तथूले' के स्थान में सं० छायामें 'तितिक्ख थूले' 'परमहिला' के स्थान में 'परमपिम्मे' ऐसा पाठ है।

त्यां स्थूल त्रसहिंसा-असत्य-अदत्तना, परनारीना
परिहारने, आरंभपरिग्रहमानने अणुव्रत कह्यां। २४।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे तीन गुणव्रतों को कहते हैं:--

दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थंदद्दंडस्स वज्जणं बिदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि।। २५।।

दिग्विदिग्मानं प्रथमं अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम्।
भोगोपभोगपरिमाणं इमान्येव गुणव्रतानि त्रीणि।। २५।।

अर्थ:--दिशा – विदिशामें गमनका परिमाण वह प्रथम गुणव्रत है, अनर्थदण्डका वर्जना द्वितीय गुणव्रत है, और भोगोपभोगका परिमाण तीसरा गुणव्रत है, ---इसप्रकार ये तीन गुणव्रत हैं।

भावार्थ:--यहाँ गुण शब्द तो उपकारका वाचक है, ये अणुव्रतोंका उपकार करते हैं। दिशा – विदिशा अर्थात् पूर्व दिशादिक में गमन करने की मर्यादा करे। अनर्थदण्ड अर्थात् जिन कार्यों में अपना प्रयोजन न सधे इसप्रकार पापकार्यों को न करें। यहाँ को पूछे–प्रयोजन के बिना तो कोई भी जीव कार्य नहीं करता है, कुछ प्रयोजन विचार करके ही करता है फिर अनर्थदण्ड क्या? इसका समाधान – समयग्दृष्टि श्रावक होता है वह प्रयोजन अपने पदके योग्य विचारता है, पद के सिवाय सब अनर्थ है। पापी पुरुषोंके तो सब ही पाप प्रयोजन है, उनकी क्या कथा। भोग कहनेसे भोजनादिक और उपभोग कहने से स्त्री, वस्त्र, आभूषण, वाहनादिकोंका परिमाण करे---इसप्रकार जानना।।२५।।

आगे चार शिक्षा व्रतों को कहते हैं:--

सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते।। २६।।

दिशविदिशगति–परिमाण होय, अनर्थदंड परित्यजे,
भोगोपभोग तणुं करे परिमाण, –गुणव्रत त्रण्य छे। २५।

सामायिकं, व्रत प्रोषधं, अतिथि तणी पूजा अने,
अंते करे सल्लेखना–शिक्षाव्रतो अे चार छे। २६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सामाइकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषधः भणितः।
तृतीयं च अतिथिपूजा चतुर्थं सल्लेखना अन्ते।। २६।।

अर्थः––सामायिक तो पहला शिक्षाव्रत है, वैसे ही दूसरा प्रोषध व्रत है, तीसरा अतिथिका पूजन है, चौथा है अंतसमय संल्लेखना व्रत है।

भावार्थः––यहाँ शिक्षा शब्दसे तो ऐसा अर्थ सूचित होता है कि आगामी मुनिव्रत की शिक्षा इनमें है, जब मुनि होगा तब इसप्रकार रहना होगा। सामायिक कहने से तो राग–द्वेष त्याग कर, सब गृहारंभसंबंधी क्रियासे निवृत्ति कर, एकांत स्थान में बैठकर प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न कुछ काल की मर्यादा करके अपने स्वरूपका चिन्तवन तथा पंचपरमेष्ठीकी भक्तिका पाठ पढ़ना, उनकी वंदना करना इत्यादि विधान करना सामायिक है। इसप्रकार ही प्रोषध अर्थात् अष्टमी चौदसके पर्वोंमें प्रतिज्ञा करके धर्म कार्यों में प्रवर्तना प्रोषध है। अतिथि अर्थात् मुनियों की पूजा करना, उनको आहारदान देना अतिथिपूजन है। अंत समयमें काय और कषायको कृश करना, समाधिमरण करना अन्त संल्लेखना है, ––इसप्रकार चार शिक्षाव्रत हैं।

यहाँ प्रश्न––––तत्त्वार्थसूत्र में तीन गुणव्रतोंमें देशव्रत कहा और भोगोपभोग–परिमाणको शिक्षाव्रतों में कहा तथा संल्लेखनाको भिन्न कहा वह कैसे?

इसका समाधानः–––यह विवक्षा का भेद है, यहाँ देशव्रत दिगव्रत में गर्भित है और संल्लेखनाको शिक्षाव्रतों में कहा है, कुछ विरोध नहीं है।। २६।।

आगे कहते हैं कि संयमाचरण चारित्रमें श्रावक धर्मको कहा, अब यतिधर्मको कहते हैं–––

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे।। २७।।

एवं श्रावकधर्मं संयमचरणं उपदेशितं सकलम्।
शुद्धं संयमचरणं यतिधर्मं निष्फलं वक्ष्ये।। २७।।

श्रावकधरमरूप देशसंयमचरण भाख्युं अे रीते;
यतिधर्म–आत्मक पूर्ण संयमचरण शुद्ध कहुं हवे। २७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––एवं अर्थात् इसप्रकार से श्रावकधर्मस्वरूप संयमचरण तो कहा, यह कैसा है? सकल अर्थात् कला सहित है, (यहाँ) एकदेशको कला कहते हैं। अब यतिधर्मके धर्मस्वरूप संयमचरणको कहूँगा––ऐसे आचार्यने प्रतिज्ञा की है। यतिधर्म कैसा है? शुद्ध है, निर्दोष है, जिसमें पापाचरणका लेश नहीं है, निकल अर्थात् कला से निःक्रांत है, सम्पूर्ण है, श्रावकधर्म की तरह एकदेश नहीं है।। २७।।

आगे यतिधर्म की सामग्री कहते हैं:––

पंचेंदियसंवरणं पंच वया पंचविंसकिरियासु।
पंच समिदि तय गुत्ती संजमचरणं णिरायारं।। २८।।

पंचेंद्रियसंवरणं पंच व्रताः पंचविंशतिक्रियासु।
पंच समितयः तिस्रः गुप्तयः संयमचरणं निरागारम्।। २८।।

अर्थः––पाँच इन्द्रियोंका संवर, पाँच व्रत ये पच्चीस क्रियाके सद्भाव होनेपर होते हैं, पाँच समिति और तीन गुप्ति ऐसे निरागार संयमचरण चारित्र होता है।। २८।।

आगे पाँच इन्द्रियोंके संवरण का स्वरूप कहते हैं:––––

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य।
ण करेदि रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ।। २९।।

अमनोज्ञे च मनोज्ञे सजीवद्रव्ये अजीवद्रव्ये च।
न करोति रागद्वेषौ पंचेन्द्रियसंवरः भणितः।। २९।।

अर्थः––अमनोज्ञ तथा मनोज्ञ ऐसे पदार्थ जिनको लोग अपने मानें ऐसे सजीवद्रव्य स्त्री पुजादिक और अजीवद्रव्य धन धान्य आदि सब पुद्गल द्रव्य आदिमें रागद्वेष न करे वह पाँच इन्द्रियोंका संवर कहा है।

पंचेन्द्रिसंवर, पांच व्रत पच्चीशक्रियासंबद्ध जे,
वळी पांच समिति, त्रिगुप्ति–अण–आगार संयमचरण छे। २८।

सुमनोज्ञ ने अमनोज्ञ जीव–अजीवद्रव्योने विषे
करवा न रागविरोध ते पंचेन्द्रिसंवर उक्त छे। २९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––इन्द्रियगोचर सजीव अजीव द्रव्य हैं, ये इन्द्रियोंके ग्रहण में आते हैं, इनमें यह प्राणी किसीको इष्ट मानकर राग करता है, किसी को अनिष्ट मानकर द्वेष करता है, इसप्रकार राग–द्वेष मुनि नहीं करते हैं उनके संयमचरण चारित्र होता है।।२९।।

आगे पाँच व्रतोंका स्वरूप कहते हैं:––

हिंसाविरई अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य।। ३०।।

हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिः अदत्तविरतिश्च।
तुर्यं अब्रह्मविरतिः पंचम संगे विरतिः च।। ३०।।

अर्थः––प्रथम तो हिंसा से विरति अहिंसा है, दूसरा असत्यविरति है, तीसरा अदत्तविरति है, चौथा अबह्मविरति है और पाँचवाँ परिग्रहविरति है।

भावार्थः––इन पाँच पापोंका सर्वथा त्याग जिनमें होता है वे पाँच महाव्रत कहलाते हैं।। ३०।।

आगे इनको महाव्रत क्यों कहते हैं वह बताते हैं:––

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं।
जं च महल्लाणि तदो [१]महव्वया इत्तहे याइं।। ३१।।

साधयंति यन्महांतः आचरितं यत् महत्पूर्वैः।
यच्च महन्ति ततः महाव्रतानि एतस्माद्धेतोः तानि।। ३१।।

---

१ पाठान्तरः–– 'महव्वया इत्तहे याइं' के स्थान पर 'महव्वायाइं तहेयाइं'

हिंसाविराम, असत्य तेम अदत्तथी विरमण अने
अब्रह्मविरमण, संगविरमण – छे महाव्रत पांच अे। ३०।

मोटा पुरुष साधे, पूरव मोटा जनोअे आचर्यां,
स्वयमेव वळी मोटां ज छे, तेथी महाव्रत ते ठर्यां। ३१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––महल्ला अर्थात् महन्त पुरुष जिनको साधते हैं–––आचरण करते हैं और पहिले भी जिनका महन्त पुरुषोंने आचरण किया है तथा ये व्रत आप ही महान है क्योंकि इनमें पापका लेश भी नहीं है–––इसप्रकार ये पाँच महाव्रत हैं।

भावार्थः––जिनका बड़े पुरुष आचरण करें और आप निर्दोष हों वे ही बड़े कहलाते हैं, इसप्रकार इन पाँच व्रतों को महाव्रत संज्ञा है।। ३१।।

आगे इन पाँच व्रतोंकी पच्चीस भावना कहते हैं, उनमें से ही अहिंसाव्रत की पाँच भावना कहते हैं:––

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणाए अहिंसए भावणा होंति।। ३२।।

वचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः।
अवलोक्यभोजनेन अहिंसाया भावना भवंति।। ३२।।

अर्थः––वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ऐसे दो तो गुप्तियाँ, ईयासमिति, भले प्रकार कमंडलु आदिका ग्रहण – निक्षेप यह आदाननिक्षेपणा समिति और अच्छी तरह देखकर विधिपूर्वक शुद्ध भोजन करना यह एषणा समिति, –––इसप्रकार ये पाँच अहिंसा महाव्रतकी भावना हैं।

भावार्थः––भावना नाम बारबार उसही के अभ्यास करने का है, सो यहाँ प्रवृत्ति–निवृत्तिमें हिंसा लगती है, उसका निरन्तर यत्न रखे तब अहिंसाव्रतका पालन हो, इसलिये यहाँ योगोंकी निवृत्ति करनी तो भले प्रकार गुप्तिरूप करनी और प्रवृत्ति करनी तो समितिरूप करनी, ऐसे निरन्तर अभ्याससे अहिंसा महाव्रत दृढ़ रहता है, इसी आशयसे इनको भावना कहते हैं।। ३२।।

आगे सत्य महाव्रत की भावना कहते हैं :––

मन–वचनगुप्ति, गमनसमिति, सुदाननिक्षेपण अने
अवलोकीने भोजन–अहिंसा भावना अे पांच छे। ३२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कोहभयहासलोहा मोहा विवरीय भावणा चेव।
विदियस्स भावणाए ए पंचैव य तहा होंति।। ३३।।

क्रोध भय हास्य लोभ मोहा विपरीतभावनाः च एव।
द्वितीयस्य भावना इमा पंचेव च तथा भवंति।। ३३।।

अर्थः––क्रोध, भय, हास्य, लोभ और मोह इनसे विपरीत अर्थात् उलटा इनका अभाव ये द्वितीय व्रत सत्य महाव्रत की भावना है।

भावार्थः––असत्य वचनकी प्रवृत्ति क्रोधसे, भयसे, हास्यसे, लोभसे और परद्रव्यके मोहरूप मिथ्यात्वसे होती है, इनका त्याग हो जानेपर सत्य महाव्रत दृढ़ रहता है।

तत्त्वार्थसूत्र में पाँचवीं भावना अनुवीचीभाषण कही है, सो इसका अर्थ यह है कि– जिनसूत्रके अनुसार वचन बोले और यहाँ मोहका अभाव कहा। वह मिथ्यात्वके निमित्तसे सूत्रविरुद्ध बोलता है, मिथ्यात्वका अभाव होनेपर सूत्रविरुद्ध नहीं बोलता है, अनुवीचीभाषणका यही अर्थ हुआ इसमें अर्थ भेद नहीं है।। ३३।।

आगे अचौर्य महाव्रत भावना कहते हैं:––

सुण्णायारणिवासो [१]विमोचियावास जन परोधं च।
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो।। ३४।।

शून्यागारनिवासः विमोचित्तावासः यत् परोधं च।
एषणाशुद्धिसहितं साधर्मिसमविसंवादः।। ३४।।

अर्थः––शून्यागार अर्थात् गिरि, गुफा, तरु, कोटरादिमें निवास करना,

---

१ पाठान्तर :– विमोचितावास।

जे क्रोध, भय ने हास्य तेमज लोभ–मोह–कुभाव छे,
तेना विपर्ययभाव ते छे भावना बीजा व्रते। ३३।

सूना अगर तो त्यक्त स्थाने वास, पर–उपरोध ना,
आहार अेषणशुद्धियुत, साधर्मी सह विखवाद ना। ३४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विमोचित्तावास अर्थात् जिसको लोगों ने किसी कारण से छोड़ दिया हो इसप्रकारसे गृह ग्रामादिकमें निवास करना, परोपरोध अर्थात् जहाँ दूसरेकी रुकावट न हो, वस्तिकादिकको अपना कर दूसरोंको रोकना, इसप्रकार नहीं करना, एषणाशुद्धि अर्थात् आहार शुद्ध लेना और साधर्मियोंसे विसंवाद न करना। ये पाँच भावना तृतीय महाव्रतकी है।

भावार्थ:––मुनियोंकि वस्तिकाय में रहना और आहार लेना ये दो प्रवृत्तियाँ अवश्य होती हैं। लोक में इन ही के निमित्त अदत्त का आदान होता है। मुनियोंको ऐसे स्थान पर रहना चाहिये जहाँ अदत्त का दोष न लगे और आहार भी इस प्रकार लें जिसमें अदत्तका दोष न लगे तथा दोनों की प्रवृत्तिमें साधर्मी आदिकसे विसंवाद उत्पन्न न हो। इसप्रकार ये पाँच भावना कही हैं, इनके होने से अचौर्य महाव्रत दृढ़ रहता है।। ३४।।

आगे ब्रह्मचर्य व्रत की भावना कहते हैं:––

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि।। ३५।।

महिला लोकन पूर्वरति स्मरणसंसक्त वसतिविकथाभि:।
पौष्टिकरसै: विरत: भावना: पंचापि तुर्ये।। ३५।।

अर्थ:––स्त्रियोंका अवलोकन अर्थात् राग भाव सहित देखना, पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना, स्त्रियोंसे संसक्त वस्तिकामें रहना, स्त्रियोंकी कथा करना, पौष्टिक रसोंका सेवन करना, इन पाँचोंसे विकार उत्पन्न होता है, इसलिये इनसे विरक्त रहना, ये पाँच ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना हैं।

भावार्थ:––कामविकार के निमित्तोंसे ब्रह्मचर्यव्रत भंग होता है, इसलिये स्त्रियों को रागभावसे देखना इत्यादि निमित्त कहे, इनसे विरक्त रहना, प्रसंग नहीं करना इससे ब्रह्मचर्य महाव्रत दृढ़ रहता है।। ३५।।

महिलानिरीक्षण–पूर्वरतिस्मृति–निकटवास, त्रियाकथा,
पौष्टिक रसोथी विरति–ते व्रत तुर्यनी छे भावना। ३५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे पाँच अपरिग्रह महाव्रत की भावना कहते हैं:--

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसररूवगंधेसु।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति।। ३६।।

अपरिग्रहे समनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरसरूपगंधेषु।
रागद्वेषादीनां परिहारो भावनाः भवन्ति।। ३६।।

अर्थः--शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध ये पाँच इन्द्रियोंके विषय समनोज्ञ अर्थात् मन को अच्छे लगने वाले और अमनोज्ञ अर्थात् मन को बुरे लगने वाले हों तो इन दोनों में राग द्वेष आदि न करना परिग्रहत्यागव्रत की ये पाँच भावना है।

भावार्थः--पाँच इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, वर्ण, शब्द ये हैं, इनमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धिरूप राग-द्वेष नहीं करे तब अपरिग्रहव्रत दृढ़ रहता है इसलिये ये पाँच भावना अपरिग्रह महाव्रत की कही गई हैं।। ३६।।

आगे पाँच समितियों को कहते हैं:--

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चे व णिक्खेवो।
[१]संजमसोहिणिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ।। ३७।।

ईर्या भाषा एषणा या सा आदानं चैव निक्षेपः।
संयमशोधिनिमित्तं ख्यान्ति जिनाः पंच समितीः।। ३७।।

अर्थः--ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना ये पाँच समितियाँ संयमकी शुद्धताके लिये कारण हैं, इसप्रकार जिनदेव कहते हैं।

---

१ पाठान्तर :- संजमसोहिणिमित्ते।

मनहर-अमनहर स्पर्श-रस-रूप-गंध तेमज शब्दमां,
करवा न रागविरोध, व्रत पंचम तणी अे भावना। ३६।

ईर्या, सुभाषा, अेषणा, आदान ने निक्षेप-अे,
संयम तणी शुद्धि निमित्ते समिति पांच जिनो कहे। ३७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––मुनि पंचमहाव्रतरूप संयमका साधन करते हैं, उस संयमकी शुद्धता के लिये पाँच समितिरूप प्रवर्तते हैं, इसी से इसका नाम सार्थक है –– '**सं**' अर्थात् सम्यक्प्रकार 'इति' अर्थात् प्रवृत्ति जिसमें हो सो समिति है। चलते समय जूडा प्रमाण (चार हाथ) पृथवी देखता हुआ चलता है, बोले तब हितमित वचन बोलता है, लेवे तो छियालिस दोष, बत्तीस अंतराय टालकर, चौदह मलदोष रहित शुद्ध आहार लेता है, धर्मोपकरणोंको उठाकर ग्रहण करे सो यत्नपूर्वक लेते है; ऐसे ही कुछ क्षेपण करें तब यत्न पूर्वक क्षेपण करते हैं, इसप्रकार निष्प्रमाद वर्ते तब संयमका शुद्ध पालन होता है, इसीलिये पंचसमितिरूप प्रवृत्ति कही है। इसप्रकार संयमचरण चारित्रकी प्रवृत्तिका वर्णन किया।। ३७।।

अब आचार्य निश्चियचारित्रको मन में धारण कर ज्ञान का स्वरूप कहते हैं:––

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं।
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि।। ३८।।

भव्यजन बोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितं।
ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं आत्मानं तं विजानीहि।। ३८।।

अर्थः––जिनमार्गमें जिनेश्वरदेवने भव्यजीवोंके संबोधनेके लिये जैसा ज्ञान और ज्ञानका स्वरूप कहा है उस ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसको हे भव्यजीव! तू जान।

भावार्थः––ज्ञानको और ज्ञानके स्वरूपको अन्य मतवाले अनेक प्रकारसे कहते हैं, वैसा ज्ञान और वैसा स्वरूप ज्ञानका नहीं है। जो सर्वज्ञ वीतरागदेव भाषित ज्ञान ओर ज्ञानका स्वरूप है वही निर्बाध सत्यार्थ है और ज्ञान है वही आत्मा है तथा आत्माका स्वरूप है, उसको जानकर उसमें स्थिरता भाव करे, परद्रव्योंसे रागद्वेष नहीं करे वही निश्चयचारित्र है, इसलिये पूर्वोक्त महाव्रतादिकी प्रवृत्ति करके इस ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होना इसप्रकार उपदेश है।। ३८।।

रे! भव्यजनबोधार्थ जिनमार्गे कह्युं जिन जे रीते,
ते रीत जाणो ज्ञान ने ज्ञानात्म आत्माने तमे। ३८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार ज्ञानसे ऐसे जानता है वह सम्यग्ज्ञानी हैं:--

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी।
रायादिदोसरहिओ जिणसासणे [१]मोक्खमग्गोत्ति।। ३९।।

जीवाजीवविभक्तिं य: जानाति स भवेत् सज्ज्ञान:।
रागादिदोषरहित: जिनशासने मोक्षमार्ग इति।। ३९।।

अर्थ:--जो पुरुष जीव और अजीवका भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है और रागादि दोषोंसे रहित होता है, इसप्रकार जिनशासनमें मोक्षमार्ग है।

भावार्थ:--जो जीव – अजीव पदार्थका स्वरूप भेदरूप जानकर स्व–परका भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है और परद्रव्यों से रागद्वेष छोड़नेसे ज्ञानमें स्थिरता होनेपर निश्चय सम्यक्चारित्र होता है, वही जिनमत में मोक्षमार्गका स्वरूप कहा है। अन्य मतवालोंने अनेक प्रकारसे कल्पना करके कहा है वह मोक्षमार्ग नहीं है।। ३९।।

आगे इसप्रकार मोक्षमार्ग को जानकर श्रद्धा सहित इसमें प्रवृत्ति करता है वह शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करता है इसप्रकार कहते हैं:--

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं।। ४०।।

दर्शनज्ञानचरित्रं त्रीण्यपि जानीहि परमश्रद्धया।
यत् ज्ञात्वा योगिन: अचिरेण लभंते निर्वाणम्।। ४०।।

---

१ पाठान्तर :- मोक्खमग्गुत्ति।

जे जाणतो जीव–अजीवना सुविभागने, सद्ज्ञानी ते
रागादिविरहित थाय छे–जिनशासने शिवमार्ग जे। ३९।

दृग, ज्ञान ने चारित्र–त्रण जाणो परम श्रद्धा वडे,
जे जाणीने योगीजनो निर्वाणने अचिरे वरे। ४०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––हे भव्य! तू दर्शन–ज्ञान–चारित्र इन तीनोंको परमश्रद्धा जान, जिनको जानकर योगी मुनि थोड़े ही कालमें निर्वाण को प्राप्त करता है।

भावार्थः––सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र त्रयात्मक मोक्षमार्ग है, इसको श्रद्धापूर्वक जाननेका उपदेश है, क्योंकि इसको जाननेमें मुनियोंको मोक्षकी प्राप्ति होती है।। ४०।।

आगे कहते हैं कि इसप्रकार निश्चयचारित्ररूप ज्ञानका स्वरूप कहा, जो इसको पाते हैं वे शिवरूप मन्दिरमें रहनेवाले होते हैं:––

[१]पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविशुद्धभावसंजुत्ता।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा।। ४१।।

[२]प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मल सुविशुद्धभावसंयुक्ताः।
भवंति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः।। ४१।।

अर्थः––जो पुरुष इस जिनभाषित ज्ञानरूप जलको पीकर अपने निर्मल भले प्रकार विशुद्धभाव संयुक्त होते हैं वे पुरुष तीन भुवन के चूड़ामणि और शिवालय अर्थात् मोक्षरूपी मन्दिर में रहेन वाले सिद्ध परमेष्ठि होते हैं।

भावार्थः––जैसे जलसे स्नान करके शुद्ध होकर उत्तम पुरुष महलमें निवास करते हैं वैसे ही यह ज्ञान, जलके समान है और आत्माके रागादिक मैल लगनेसे मलिनता होती है, इसलिये इस ज्ञानरूप जलसे रागादिक मलको धोकर जो अपनी आत्मा को शुद्ध करते हैं वे मुक्तिरूप महल में रहकर आनन्द भोगते हैं, उनको तीन भुवनके शिरोमणि सिद्ध कहते हैं।। ४१।।

आगे कहते हैं कि जो ज्ञानगुण से रहित हैं वे इष्ट वस्तुको नहीं पाते हैं, **इसलिये गुण - दोषको जानने के लिये ज्ञानको भले प्रकार से जानना**:––

---

१ पाठान्तर :– पीऊण।
२ पाठान्तर :– पीत्वा।

जे ज्ञानजल पीने लहे सुविशुद्ध निर्मल परिणति,
शिवधामवासी सिद्ध थाय–त्रिलोकना चूडामणि। ४१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं।
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि।। ४२।।

ज्ञानगुणैः विहीना न लभन्ते ते स्विष्टं लाभं।
इति ज्ञात्वा गुण दोषौ तत् सद्ज्ञानं विजानीहि।। ४२।।

अर्थः––ज्ञानगुण से हीन पुरुष अपनी इच्छित वस्तुके लाभको नहीं प्राप्त करते, इसप्रकार जानकर हे भव्य! तू पूर्वोक्त सम्यग्ज्ञानको गुण–दोष के जानने के लिये जान।

भवार्थः––ज्ञान के बिना गुण–दोषका ज्ञान नहीं होता तब अपनी इष्ट तथा अनिष्ट वस्तुको नहीं जानता है तब इष्ट वस्तुका लाभ नहीं होता है **इसलिये सम्यग्ज्ञान ही से गुण-दोष जाने जाते हैं**। क्योंकि सम्यग्ज्ञानके बिना हेय–उपादेय वस्तुओंका जानना नहीं होता और हेय–उपादेय को जाने बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता है, इसलिये ज्ञान ही को चारित्रसे प्रधान कहा है।। ४२।।

आगे कहते हैं कि जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र धारण करता है वह थोड़े ही काल में अनुपम सुखको पाता है:––

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो।। ४३।।

चारित्रसमारूढ आत्मनि[१] परं न ईहते ज्ञानी।
प्राप्नोति अचिरेण सुखं अनुपमं जानीहि निश्चयतः।। ४३।।

---

१ –स० प्रतिमें 'आत्मनि' के स्थानमें 'आत्मनः' श्रुतसागरी सं० टीका मुद्रित प्रतिमें टीका में अर्थ भी 'आत्मनः' का ही किया है, दे० पृ० ५४।

જે જ્ઞાનગુણથી રહિત, તે પામે ન લાભ સુ–ઇષ્ટને;
ગુણદોષ જાણી એ રીતે, સદ્જ્ઞાનને જાણો તમે। ૪૨।

જ્ઞાની ચરિત્રારૂઢ થઈ નિજ આત્મમાં પર નવ ચહે,
અચિરે લહે શિવસૌખ્ય અનુપમ એમ જાણો નિશ્ચયે। ૪૩।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––जो पुरुष ज्ञानी है और चारित्र सहित है वह अपनी आत्मामें परद्रव्यकी इच्छा नहीं करता है, परद्रव्यमें राग–द्वेष–मोह नहीं करता है। वह ज्ञानी जिसकी उपमा नहीं है इसप्रकार, अविनाशी मुक्तिके सुखको पाता है। हे भव्य! तू निश्चय से इसप्रकार जान। यहाँ ज्ञानी होकर हेय–उपादेयको जानकर, संयमी बनकर परद्रव्यको अपने में नहीं मिलाता है वह परम सुख पाता है, –इसप्रकार बताया है।। ४३।।

आगे इष्ट चारित्र के कथनका संकोच करते हैं:––

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयराएण।
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं।। ४४।।

एवं संक्षेपेण च भणितं ज्ञानेन वीतरागेण।
सम्यक्त्वसंयमाश्रयद्वयोरपि उद्देशितं चरणम्।। ४४।।

अर्थः––एवं अर्थात् ऐसे पूर्वोक्त प्रकार संक्षेप से श्री वीतरागदेवने ज्ञानके द्वारा कहे इसप्रकार सम्यक्त्व और संयम इन दोनोंके आश्रय चारित्र सम्यक्त्वचरणस्वरूप और संयमचरणस्वरूप दो प्रकारसे उपदेश किया है, आचार्यने चारित्र के कथन को संक्षेपरूप से कह कर संकोच किया है।। ४४।।

आगे इस चारित्रपाहुडको भाने का उपदेश ओर इसका फल कहते हैं:––

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं अइरेणऽपुणब्भवा होई।। ४५।।

भावयत भावशुद्धं स्फुटं रचितं चरणप्राभृतं चैव।
लघु चतुर्गतीः व्यक्त्वा अचिरेण अपुनर्भवाः भवत।। ४५।।

अर्थः––यहाँ आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवों! यह चरण अर्थात् चारित्रपाहुड हमने स्फुट प्रगट करके बनाया है उसको तुम अपने शुद्ध भाव से भाओ। अपने भावोंमें

वीतरागदेवे ज्ञानथी सम्यक्त्व–संयम–आश्रये
जे चरण भाख्युं ते कह्युं संक्षेपथी अहीं आ रीते। ४४।

भावो विमळ भावे चरणप्राभृत सुविरचित स्पष्ट जे,
छोडी चतुर्गति शीघ्र पामो मोक्ष शाश्वतने तमे। ४५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बारंबार अभ्यास करो, इससे शीघ्र ही चार गतियोंको छोड़कर अपुनर्भव मोक्ष तुम्हें होगा, फिर संसार में जन्म नहीं पाओगे।

भावार्थः––इस चारित्रपाहुडको वांचना, पढ़ना, धारण करना, बारम्बार भाना, अभ्यास करना यह उपदेश है, इससे चारित्रका स्वरूप जानकर धारण करने की रुचि हो, अंगीकार करे तब चार गतिरूप संसारके दुःख से रहित होकर निर्वाण को प्राप्त हो, फिर संसारमें जन्म धारण नहीं करे; इसलिये जो कल्याणको चाहते हों वे इसप्रकार करो।। ४५।।

(छप्पन)

चारित दोय प्रकार देव जिनवरने भाख्या।
समकित संयम चरण ज्ञानपूरव तिस राखया।।

जे नर सरधावान याहि धारें विधि सेती।
निश्चय अर व्यवहार रीति आगम में जेती।।

जब जगधंधा सब मेटिकैं निजस्वरूपमें थिर रहै।
तब अष्टकर्मकूं नाशिकै अविनाशी शिवकूं लहै।। १।।

ऐसे सम्यक्त्वचरण चारित्र और संयमचरण चारित्र ––दो प्रकारके चारित्रका स्वरूप इस प्राभृतमें कहा।

(दोहा)

जिनभाषित चारित्रकूं जे पाले मुनिराज।
तिनिके चरण नमूं सदा पाऊं तिनि गुणसाज।। २।।

इति श्री कुन्दकुन्दाचार्यस्वामि विरचित चारित्रप्राभृतकी पं० जयचन्द्रजी छाबड़ाकृत देशभाषामय वचनिकाका हिन्दी भाषानुवाद समाप्त।। ३।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

बोधपाहुड

--४--

दोहा

देव जिनेश्वर सर्वगुरु, बंदु मन–वच–काय।
जा प्रसाद भवि बोध ले, पालैं जीव निकाय।। १।।

इसप्रकार मंगलाचरणके द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत गाथाबद्ध 'बोधपाहुड' की देश भाषामय वचनिकाका हिन्दी भाषानुवाद लिखते हैं, पहिले आचार्य ग्रन्थ करने की मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं:––

बहसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवचरणे।
बंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे।। १।।

सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं।
वोच्छामि समासेण [१]छक्काचसुहंकरं सुणह।। २।।

बहुशास्त्रार्थज्ञापकान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान्।
वन्दित्वा आचार्यान् कषायमलवर्जितान् शुद्धान्।। १।।

सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितम्।
वक्ष्यामि समासेन षट्काय सुखंकरं श्रृणु।। २।। युग्मम्।।

---

१ मुद्रित सटीक संस्कृत प्रति में 'छक्कायहियंकर' ऐसा पाठ है।

शास्त्रार्थ बहु जाणे सुक्ष्मसंयमविमळ तप आचरे,
वर्जितकषाय, विशुद्ध छे, ते सूरिगणने वंदीने। १।

षट्कायसुखकर कथन करूं संक्षेपथी सुणजो तमे,
जे सर्वजनबोधार्थ जिनमार्गे कह्युं छे जिनवरे। २।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––आचार्य कहते हैं कि––मैं आचार्योंको नमस्कार कर, छहकायके जीवों को सुखके करने वाले, जिनमार्गमें जिनदेवने जैसा कहा है वैसे, जिसमें समस्त लोक के हितका ही प्रयोजन है ऐसा ग्रन्थ संक्षेपसे कहूँगा, उसको हे भव्य जीवों! तुम सुनो। जिन आचार्यों की वंदना की वे आचार्य कैसे हैं? बहुत शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाले हैं, जिनका तपश्चरण सम्यक्त्व और संयमसे शुद्ध है, कषायरूप मलसे रहित हैं इसलिये शुद्ध हैं।

भावार्थः––यहाँ आचार्यों की वंदना की, उनके विशेषणोंसे जाना जाता है कि– गणधरादिक से लेकर अपने गुरुपर्यंत सबकी वंदना है और ग्रन्थ करने की प्रतीज्ञा की उसके विशेषणों से जाना जाता है कि–– जो बोधपाहुड ग्रन्थ करेंगे वह लोगों को धर्ममार्ग में सावधान कर कुमार्ग छुड़ाकर अहिंसा धर्मका उपदेश करेगा।। ३।।

आगे इस 'बोधपाहुड' में ग्यारह स्थल बांधे हैं उनके नाम कहते हैं:––

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्रा णाणमादत्थं।। ३।।

अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं।
पावज्जगुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो।। ४।।

आयतनं चैत्यगृहं जिनप्रतिमा दर्शनं च जिनबिंबम्।
भणितं सुवीतरागं जिनमुद्रा ज्ञानमात्मार्थ[१]।। ३।।

अर्हता सुदृष्टं यः देवः तीर्थमिह च अर्हन्।
प्रव्रज्या गुणविशुद्धा इति ज्ञातव्याः यथाक्रमशः।। ४।।

---

१ 'आत्मस्थं' संस्कृतमें पाठान्तर है।

जे आयतन ने चैत्यगृह, प्रतिमा तथा दर्शन अने
वीतराग जिननुं बिंब, जिनमुद्रा, स्वहेतुक ज्ञान जे। ३।

अर्हतदेशित देव, तेम ज तीर्थ, वळी अर्हंत ने
गुणशुद्ध प्रवज्या यथाक्रमशः अहीं ज्ञातव्य छे। ४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अर्थः––१ - **आयतन**, २- **चैत्यगृह**, ३- **जिनप्रतिमा**, ४- **दर्शन**, ५- **जिनबिंब**। कैसा हैं जिनबिंब? भले प्रकार वीतराग है, ६- **जिनमुद्रा** राग सहित नहीं होती हैम ७- **ज्ञान** पद कैसा है? आत्मा ही है अर्थ अर्थात् प्रयोजन जिसमें, इसप्रकार सात तो ये निश्चय, वीरतागदेव ने कहे वैसे तथा अनुक्रम से जानना और ८- **देव**, ९- **तीर्थ**, १०- **अरहंत** तथा गुणसे विशुद्ध ११- **प्रवज्या**, ये चार जो अरहंत भगवानने कहे वैसे इस ग्रन्थमें जानना, इसप्रकार ये ग्यारह स्थल हुए।। ३–४।।

भावार्थः––यहाँ आशय इसप्रकार जानना चाहिये कि––धर्ममार्गमें कालदोषसे अनेक मत हो गये हैं तथा जैनमतमें भी भेद हो गये हैं, उनमें आयतन आदि में विपर्यय (विपरीतपना) हुआ है, उनका परमार्थभूत सच्चा स्वरूप तो लोग जानते नहीं हैं और धर्मके लोभी होकर जैसी बाह्य प्रवृत्ति देखते हैं उसमें ही प्रवर्तने लग जाते हैं, उनको संबोधने के लिये यह 'बोधपाहुड' बनाया है। उसमें आयतन आदि ग्यारह स्थानोंका परमार्थभूत सच्चा स्वरूप जैसा सर्वज्ञदेवने कहा है वैसा कहेंगे, अनुक्रम से जैसे नाम कहें हैं वैसे ही अनुक्रमसे इनका व्यख्यान करेंगे सो जानने योग्य है।। ३–४।।

[१] आगे प्रथम ही जो **आयतन** कहा उसका निरूपण करते हैं:––

मणवयणकायदव्वा आयत्ता[१] जस्स इन्दिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं।। ५।।

मनो वचन काय द्रव्याणि आयत्ता: यस्य ऐन्द्रिया: विषया:।
आयतनं जिनमार्गे निर्दिष्टं संयतं रूपम्।। ५।।

अर्थः––जिनमार्ग में संयमसहित मुनिरूप है उसे 'आयतन' कहा है। कैसा है मुनिरूप? ––जिसके मन–वचन–काय द्रव्यरूप है वे, तथा पांच इन्द्रियोंके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ये विषय हैं वे, 'आयत्ता' अर्थात् अधीन हैं –वशीभूत हैं। उनके (मन–वचन–काय और पांच इन्द्रियोंके विषय) संयमी मुनि आधीन नहीं है, वे मुनिके वशीभूत हैं। ऐसा संयमी है वह 'आयतन' है।। ५।।

---

१ सं० प्रति में 'आसत्ता' पाठ है जिसकी संस्कृत 'आसक्ता:' है।

आयत्त छे मन–वचन–काया इन्द्रिविषयो जेहने,
ते संयमीनुं रूप भाख्युं आयतन जिनशासने। ५।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे फिर कहते हैं:--

मयरायदोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं।। ६।।

मदः रागः द्वेषः क्रोधः लोभः च यस्य आयत्ताः।
पंचमहाव्रतधारी आयतनं महर्षयो भणिताः।। ६।।

अर्थः--जिन मुनि के मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ और चकारसे माया आदि ये सब 'आयत्ता' निग्रह को प्राप्त हो गये और पाँच महाव्रत जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, बह्मचर्य तथा परिग्रहका त्याग उनका धारी हो, ऐसा महामुनि ऋषीश्वर 'आयतन' कहा है।

भावार्थः--पहिली गाथा में तो बाह्य का स्वरूप कहा था। यहाँ बाह्य-आभ्यांतर दोनों प्रकार से संयमी हो वह '**आयतन**' है इसप्रकार जानना चाहिये।। ६।।

आगे फिर कहते हैं:--

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं।। ७।।

सिद्धं यस्य सदर्थं विशुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य।
सिद्धायतनं सिद्धं मुनिवरवृषभस्य मुनितार्थम्।। ७।।

अर्थः--जिस मुनि के सदर्थ अर्थात् समीचीन अर्थ जो 'शुद्ध आत्मा' सो सिद्ध हो गया हो वह सिद्धायतन है। कैसा है मुनि? जिसके विशुद्ध ध्यान है, धर्मध्यानको साध कर शुक्लध्यानको प्राप्त हो गया है; ज्ञानसहित है, केवलज्ञानको प्राप्त हो गया है। घातियाकर्मरूप मल से रहित है इसलिये मुनियोंमें 'वृषभ' अर्थात् प्रधान है, जिसने समस्त पदार्थ जान लिये हैं। इसप्रकार मुनिप्रधानको 'सिद्धायतन' कहते हैं।

आयत्त जस मद-रोष-लोभ-विमोह-राग-विरोध छे,
ऋषिवर्य पंचमहाव्रती ते आयतन निर्दिष्ट छे। ६।

सुविशुद्धध्यानी, ज्ञानयुत, जेने सुसिद्ध सदर्थ छे,
मुनिवरवृषभ ते मळरहित सिद्धायतन विदितार्थ छे। ७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––इसप्रकार तीन गाथा में 'आयतन' का स्वरूप कहा। पहिली गाथा में तो संयमी सामान्यका बाह्यरूप प्रधानता से कहा। दूसरीमें अंतरंग–बाह्य दोनोंकी शुद्धतारूप ऋद्धिधारी मुनि ऋषीश्वर कहा और इस तीसरी गाथामें केवलज्ञानीको, जो मुनियोंमें प्रधान है, 'सिद्धायतन' कहा है। यहाँ इसप्रकार जानना जो 'आयतन' अर्थात् जिसमें बसे, निवास करे उसको आयतन कहा है, इसलिये धर्मपद्धतिमें जो धर्मात्मा पुरुषके आश्रय करने योग्य हो वह 'धर्मायतन' है। इसप्रकार मुनि ही धर्मके आयतन हैं, अन्य कोई भेषधारी, पाखंडी, (–ढ़ोंगी) विषय–कषायोंमें आसक्त, परिग्रहधारी धर्मके आयतन नहीं हैं, तथा जैन मतमें भी जो सूत्रविरुद्ध प्रवर्तते हैं वे भी आयतन नहीं हैं, वे सब 'अनायतन' हैं। बौद्धमतमें पाँच इन्द्रिय, उनके पाँच विषय, एक मन, एक धर्मायतन शरीर ऐसे बारह आयतन कहे हैं वे भी कल्पित हैं, इसलिये जैसा यहाँ आयतन कहा वैसा ही जानना; धर्मात्मा को उसी का आश्रय करना, अन्यकी स्तुति, प्रशंसा, विनयादिक न करना, यह बोधपाहुड ग्रन्थ करने का आशय है। जिसमें इसप्रकार के निर्ग्रन्थ मुनि रहते हैं ऐसे क्षेत्रको भी 'आयतन' कहते हैं, जो व्यवहार है।। ७।।

[२] आगे चैत्यगृह का निरूपण करते हैं:––

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च।
पंचमहव्वय सुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं।। ८।।

बुद्धं यत् बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यत् च।
पंचमहाव्रतशुद्धं ज्ञानमयं जानीहि चैत्यगृहम्।। ८।।

अर्थः––जो मुनि 'बद्ध' अर्थात् ज्ञानमयी आत्माको जानता हो, अन्य जीवोंको 'चैत्य' अर्थात् चेतना स्वरूप जानता हो, आप ज्ञानमयी हो और पाँच महाव्रतहोसे शुद्ध हो, निर्मल हो, उस मुनिको हे भव्य! तू 'चैत्यगृह' जान।

भावार्थः–– जिसमें अपनेको और दूसरे को जाननेवाला ज्ञानी, निष्पाप–निर्मल इसप्रकार 'चैत्य' अर्थात् चेतनास्वरूप आत्मा रहता है, वह 'चैत्यगृह' है। इसप्रकार का चैत्यगृह संयमी मुनि है, अन्य पाषाण आदिके मंदिरको 'चैत्यगृह' कहना व्यवहार है।। ८।।

स्वात्मा–परात्मा–अन्यने जे जाणतां ज्ञान ज रहे,
छे चैत्यगृह, ते ज्ञानमूर्ति, शुद्ध पंचमहाव्रते। ८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे फिर कहते हैं:--

चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स।
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायाहयंकरं भणियं।।९।।

चैत्यं बंधं मोक्षं दुःखं सुखं च आत्मकं तस्य।
चैत्यगृहं जिनमार्गे षड्कायहितंकरं भणितम्।।९।।

अर्थ:--जिसके बंध और मोक्ष, सुख और दुःख हो उस आत्माको चैत्य कहते हैं–अर्थात् ये चिन्ह जिसके स्वरूपमें हों उसे 'चैत्य' कहते हैं, क्योंकि जो चैतन्यस्वरूप हो उसी के बंध, मोक्ष, सुख, दुःख संभव है। इसप्रकार चैत्य का जो गृह हो वह 'चैत्यगृह' है। जिनमार्ग में इसप्रकार चैत्यगृह छहकायका हित करनेवाला होता है। वह इसप्रकार का 'मुनि' है। पाँच स्थावर और त्रसमें विकलत्रय और असैनी पँचेन्द्रिय तक केवल रक्षा ही करने योग्य हैं, इसलिये उनकी रक्षा करने का उपदेश करता है, तथा आप उनका घात नहीं करता है यही उनका हित है; और सैनी पँचेन्द्रिय जीव हैं उनकी रक्षा भी करता है, रक्षाका उपदेश भी करता है तथा उनको संसार से निवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश करते हैं। इसप्रकार मुनिराज को 'चैत्यगृह' कहते हैं।

भावार्थ:--लौकिक जन चैत्यगृह का स्वरूप अन्यथा अनेक प्रकार मानते हैं उनको सावधान किया है कि--जिनसूत्र में छहकायका हित करने वाला ज्ञानमयी संयमी मुनि है वह 'चैत्यगृह' है; अन्यको चैत्यगृह कहना, मानना व्यवहार है। इसप्रकार चैत्यगृहका स्वरूप कहा।।९।।

[३] आगे जिनप्रतिमा का निरूपण करते हैं:--

चेतन–स्वयं, सुख–दुःख–बंधन–मोक्ष जेने अल्प छे,
षट्कायहितकर तेह भाख्युं चैत्यगृह जिनशासने। ९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा।। १०।।

स्वपरा जंगमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम्।
निर्ग्रन्थ वीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा।। १०।।

अर्थः––जिनका चारित्र, दर्शन–ज्ञानसे शुद्ध निर्मल है, उनकी स्व–परा अर्थात् अपनी और परकी चलती हुई देह है, वह जिनमार्ग में 'जंगम प्रतिमा' है; अथवा स्वपरा अर्थात् आत्मासे 'पर' यानी भिन्न है ऐसी देह है। वह कैसी है? जिसका निर्ग्रन्थ स्वरूप है, कुछ भी परिग्रह का लेश भी नहीं है ऐसी दिगम्बर मुद्रा है। जिसका वीतराग स्वरूप है, किसी वस्तुसे राग–द्वेष–मोह नहीं है, जिनमार्ग में ऐसी 'प्रतिमा' कही हैं। जिनके दर्शन–ज्ञान से निर्मल चारित्र पाया जाता है, इसप्रकार मुनियोंकी गुरु–शिष्य अपेक्षा अपनी तथा परकी चलती हुई देह निर्ग्रन्थ वीतरागमुद्रा स्वरूप है, वह जिनमार्ग में 'प्रतिमा' हैं अन्य कल्पित है और घातु–पाषाण आदिसे बनाये हुए दिगम्बर मुद्रा स्वरूप को 'प्रतिमा' कहते हैं जो व्यवहार है। वह भी बाह्य आकृति तो वैसी ही हो वह व्यवहार में मान्य है।। १०।।

आगे फिर कहते हैं:––

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
सा होई वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा।। ११।।

यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम्।
सा भवति वंदनीया निर्ग्रन्था संयता प्रतिमा।। ११।।

अर्थः––जो शुद्ध आचरण का आचरण करते हैं तथा सम्यग्ज्ञानसे यथार्थ वस्तुको जानते हैं और सम्यग्दर्शनसे अपने स्वरूपको देखते हैं इसप्रकार शुद्धसम्यक्त्व जिनके पाया जाता है ऐसी निर्ग्रन्थ संयमस्वरूप प्रतिमा है वह वंदन करने योग्य है।

दग–ज्ञान–निर्मळ चरणधरनी भिन्न जंगम काय जे,
निर्ग्रंथ ने वीतराग, ते प्रतिमा कही जिनशासने। १०।

जाणे–जुए निर्मळ सुदृग सह, चरण निर्मळ आचरे,
ते वंदनीय निर्ग्रन्थ–संयतरूप प्रतिमा जाणजे। ११।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––जाननेवाला, देखनेवाला, शुद्धसम्यक्त्व, शुद्धचारित्रस्वरूप, निर्ग्रन्थ संयमसहित, इसप्रकार मुनिका स्वरूप है वही 'प्रतिमा' है, वही वंदन करने योग्य है; अन्य कल्पित चंदन करने योग्य नहीं है और वैसे ही रूपसदृश धातु–पाषाण ही प्रतिमा हो वह व्यवहारसे वंदने योग्य है।। ११।।

आगे फिर कहते हैं:––

दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं।। १२।।

निरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण।
सिद्धठ्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा।। १३।।

दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तवीर्याः अनंतसुखाः च।
शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कर्माष्टकबंधैः।। १२।।

निरुपमा अचला अक्षोभाः निर्मापिता जंगमेन रूपेण।
सिद्धस्थाने स्थिताः व्युत्सर्गप्रतिमा ध्रुवाः सिद्धाः।। १३।।

अर्थः––जो अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, अनंतसुख सहित हैं; शाश्वत अविनाशी सुखस्वरूप हैं, अदेह हैं–कर्म नोकर्मरूप पुद्गलमयी देह जिनके नहीं है; अष्टकर्म के बंधनसे रहित हैं, उपमा रहित हैं––जिसकी उपमा दी जाय ऐसी लोक में वस्तु नहीं है; अचल हैं––प्रदेशोंका चलना जिनके नहीं है; अक्षोभ हैं––जिनके उपयोग में कुछ क्षोभ नहीं है, निश्चल हैं––जंगमरूप से निर्मित हैं; कर्मसे निर्मुक्त होनेके बाद एक समयमात्र गमनरूप हैं, इसलिये जंगमरूप से निर्मापित हैं; सिद्धस्थान जो लोकका अग्रभाग उसमें स्थित हैं; व्युत्सर्ग अर्थात् कायरहित हैं––जैसा पूर्व शरीर में अकार था वैसा ही प्रदेशोंका आकार–चरम शरीर से कुछ कम है;

---

१ सं० प्रतिमें 'निर्मापिताः' 'अजगमेन रूपेण' ऐसी छाया है।

निःसीम दर्शन–ज्ञान ने सुख–वीर्य वर्ते जेमने,
शाश्वतसुखी, अशरीरने कर्माष्टबंधविमुक्त जे। १२।

अक्षोभ–निरूपम–अचल–ध्रुव, उत्पन्न जंगम रूपथी,
ते सिद्ध सिद्धिस्थानस्थित, व्युत्सर्गप्रतिमा जाणवी। १३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ध्रुव है––संसारसे मुक्त हो (उसी समय) एक समयमात्र गमन कर लोकके अग्रभाग जाकर स्थित होजाते हैं, फिर चलाचल नहीं होते हैं ऐसी प्रतिमा 'सिद्ध भगवान' हैं।

भावार्थः––पहिले दो गाथाओंमें तो जंगम प्रतिमा संयमी मुनियोंकि देह सहित कही। इन दो गाथाओंमें 'थिरप्रतिमा' सिद्धोंकी कही, इसप्रकार जंगम थावर प्रतिमा का स्वरूप कहा। अन्य कई अन्यथा बहुत प्रकारसे कल्पना करते हैं वह प्रतिमा वंदन करने योग्य नहीं है।

यहाँ प्रश्नः ––––––यह तो परमार्थरूप कहा और बाह्य व्यवहार में पाषाणादिक की प्रतिमा की वंदना करते हैं वह कैसे?
उसका समाधानः ––जो बाह्य व्यवहार में मतान्तरके भेद से अनेक रीति प्रतिमा की प्रवृत्ति है यहाँ परमार्थ को प्रधान कर कहा है और व्यवहार है वहाँ जैसी प्रतिमाका परमार्थरूप हो उसी को सूचित करता हो वह निर्बाध है। जैसा परमार्थरूप आकार कहा वैसा ही आकाररूप व्यवहार हो वह व्यवहार भी प्रशस्त है; व्यवहारी जीवोंके यह भी वंदन करने योग्य है। स्याद्वाद न्यायसे सिद्ध किये गये परमार्थ और व्यवहार में विरोध नहीं है।। १२–१३।।

इसप्रकार जिनप्रतिमा का स्वरूप कहा।

[४] आगे दर्शन का स्वरूप कहते हैं:––

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंधं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं।। १४।।

दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधर्मं च।
निर्ग्रंथं ज्ञानमयं जिनमार्गे दर्शनं भणितम्।। १४।।

अर्थः––जो मोक्ष मार्ग को दिखाता है वह '**दर्शन**' है, मोक्षमार्ग कैसा है?––सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण सम्यक्त्वस्वरूप है, **संयम** अर्थात् चारित्र–पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्ति ऐसे तेरह प्रकार चारित्ररूप है, **सुधर्म** अर्थात् उत्तम–क्षमादिक दसलक्षण धर्मरूप है, **निर्ग्रन्थरूप** है–बाह्याभ्यंतर परिग्रह रहित है,

---

दर्शावतुं संयम–सुदग–सद्धर्मरूप, निर्ग्रंथ ने
ज्ञानात्म मुक्तिमार्ग, ते दर्शन कह्युं जिनशासने। १४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानमयी है---जीव अजीवादि पदार्थोंको जानने वाला है। यहाँ 'निर्ग्रन्थ' और 'ज्ञानमयी' ये दो विशेषण दर्शन के भी होते हैं, क्योंकि दर्शन है सो बाह्य तो इसकी मूर्ति निर्ग्रन्थ है और अंतरंग ज्ञानमयी है। **इसप्रकार मुनिके रूपको जिनागम में 'दर्शन'** कहा है तथा **ऐसे रूपके श्रद्धानरूप सम्यक्त्वस्वरूप को 'दर्शन' कहते हैं।**

भावार्थः--परमार्थरूप 'अंतरंग दर्शन' तो सम्यक्त्व है और 'बाह्य' उसकी मूर्ति, ज्ञानसहित ग्रहण किया निर्ग्रन्थ रूप, इसप्रकार मुनिका रूप है सो 'दर्शन' है, क्योंकि मतकी मूर्तिको दर्शन कहना लोकमें प्रसिद्ध है।। १४।।

आगे फिर कहते हैं:--

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं।। १५।।

यथा पुष्पं गंधमयं भवति स्फुटं क्षीरं तत् घृतमयं चापि।
तथा दर्शनं हि सम्यक् ज्ञानमयं भवति रूपस्थम्।। १५।।

अर्थः--जैसे फूल गंधमयी है, दूध घृतमयी है वैसे ही दर्शन अर्थात् मत में सम्यक्त्व है। कैसा है दर्शन? अंतरंग में ज्ञानमयी है और बाह्य रूपस्थ है--मुनि का रूप है तथा उत्कृष्ट श्रावक, अर्जिकाका रूप है।

भावार्थः--'दर्शन' नाम का मत प्रसिद्ध है। यहाँ जिनदर्शन में मुनि श्रावक और अर्जिकाका जैसा बाह्य भेष कहा सो 'दर्शन' जानना और इसकी श्रद्धा सो 'अंतरंग दर्शन' जानना। ये होनों ही ज्ञानमयी हैं, यथार्थ तत्त्वार्थका जाननेरूप सम्यक्त्व जिसमें पाया जाता है, इसीलिये फूलमें गंधका और दूधमें घृतका दृष्टांत युक्त है; इसप्रकार दर्शनका रूप कहा। अन्यमतमें तथा कालदोष से जिनमतमें जैनाभास भेषी अनेक प्रकार अन्यथा कहते हैं जो कल्याणरूप नहीं हैं, संसारका कारण है।। १५।।

[५] आगे जिनबिम्बका निरूपण करते हैं:---

ज्यम् फूल होय सुगंधमय ने दूध घृतमय होय छे,
रूपस्थ दर्शन होय सम्यग्ज्ञानमय अेवी रीते। १५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा।। १६ ।।

जिनबिंबं ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च।
यत् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षयकारणे शुद्धे।। १६ ।।

अर्थः––जिनबिंब कैसा है? ज्ञानमयी है, संयमसे शुद्ध है, अतिशयकर वीतराग है, कर्मके क्षयका कारण और शुद्ध है––इसप्रकार की दीक्षा और शिक्षा देता है।

भावार्थः––जो 'जिन' अर्थात् अरहन्त सर्वज्ञका प्रतिबिंब कहलाता है; उसकी जगह उसके जैसी ही मानने योग्य हो इसप्रकार आचार्य हैं वे दीक्षा अर्थात् व्रतका ग्रहण और शिक्षा अर्थात् विधान बताना, ये दोनों भव्य जीवोंको देते हैं। इसलिये १––प्रथम तो वह आचार्य ज्ञानमयी हो, जिनसूत्रका उनको ज्ञान हो, ज्ञान बिना यथार्थ दीक्षा–शिक्षा कैसे हो? और २––आप संयम से शुद्ध हो, यदि इसप्रकार न हो तो अन्य को भी संयमसे शुद्ध नहीं करा सकते। ३––अतिशय–विशेषतया वीतराग न हो तो कषायसहित हो, तब दीक्षा, शिक्षा यथार्थ नहीं दे सकते हैं; अतः इसप्रकार आचार्य को **जिनका प्रतिबिम्ब** जानना।। १६।।

आगे फिर कहते हैं:––

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं।
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो।। १७ ।।

तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वां पूजां च विनयं वात्सल्यम्।
यस्य च दर्शनंज्ञानं अस्ति ध्रुवं चेतनाभावः।। १७ ।।

જિનબિંબ છે, જે જ્ઞાનમય, વીતરાગ, સંયમશુદ્ધ છે,
દીક્ષા તથા શિક્ષા કરમક્ષયહેતુ આપે શુદ્ધ જે। ૧૬।

તેની કરો પૂજા વિનય–વાત્સલ્ય–પ્રણમન તેહને,
જેને સુનિશ્ચિત જ્ઞાન, દર્શન, ચેતના પરિણામ છે। ૧૭।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––इसप्रकार पूर्वोक्त जिनबिंब को प्रणाम करो और सर्वप्रकार पूजा करो, विनय करो, वात्सल्य को, क्योंकि – उसके ध्रुव अर्थात् निश्चयसे दर्शन–ज्ञान पाया जाता है और चेतनाभाव है।

भावार्थः––दर्शन–ज्ञानमयी चेतनाभाव सहित जिनबिंब आचार्य हैं, उनको प्रणामादिक करना। यहाँ परमार्थ प्रधान कहा है, जड़ प्रतिबिंब की गौणता है ।। १७।।

आगे फिर कहते हैं:––

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
अरहन्तमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य।। १८।।

तपोव्रतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम्।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षाशिक्षाणां च।। १८।।

अर्थः––जो तप, व्रत और गुण अर्थात् उत्तर गुणोंसे शुद्ध हों, सम्यग्ज्ञान से पदार्थों हो जानते हों, सम्यग्दर्शनसे पदार्थोंको देखते हों इसीलिये जिनके शुद्ध सम्यक्त्व है इसप्रकार जिनबिंब आचार्य हैं। यह दीक्षा – शिक्षा की देनेवाली अरहंत मुद्रा है।

भावार्थः––इसप्रकार जिनबिंब है वह जिन मुद्रा ही है––––ऐसा जिनबिंब का स्वरूप कहा है।। १८।।

[६] आगे **जिनमुद्रा** का स्वरूप कहते हैं:––

दढसंजममुद्राए इन्दियमुद्रा कसायदिढमुद्रा।
मुद्रा इह णाणाए जिणमुद्रा एरिसा भणिया।। १९।।

दृढसंयममुद्रया इन्द्रियमुद्रा कषायदृढमुद्रा।
मुद्रा इह ज्ञानेन जिनमुद्रा ईदृशी भणिता।। १९।।

तपव्रतगुणोथी शुद्ध, निर्मळ सुदग सह जाणे–जुए,
दीक्षा–सुशिक्षादायिनी अर्हंतमुद्रा तेह छे। १८।

इन्द्रिय–कषायनिरोधमय मुद्रा सुदृढ संयममयी,
–आ उक्त मुद्रा ज्ञानथी निष्पन्न, जिनमुद्रा कही। १९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––दृढ़ अर्थात् वज्रवत चलाने पर भी न चले ऐसा संयम इन्द्रिय मनका वश करना, षट्जीव निकाय की रक्षा करना, इसप्रकार संयमरूप मुद्रा से तो पाँच इन्द्रियोंको विषयों में न प्रवर्ताना, उनका संकोच करना यह तो इन्द्रियमुद्रा है ओर इसप्रकार संयम द्वारा ही जिसमें कषायोंकी प्रवृत्ति नहीं है ऐसी कषायदृढ़ मुद्रा है, तथा ज्ञानका स्वरूप में लगाना, इसप्रकार ज्ञान द्वारा सब बाह्यमुद्रा शुद्ध होती है। इसप्रकार जिनशासन में ऐसी **'जिनमुद्रा'** होती है।

भावार्थः––१– जो संयम सहित हो, २–जिनके इन्द्रियाँ वश में हों, ३–कषायोंकी प्रवृत्ति न होती हो और ४–ज्ञानको स्वरूप में लगाता हो, ऐसा मुनि हो सो ही **'जिनमुद्रा'** है।। १९।।

[७] आगे **ज्ञान** का निरूपण करते हैं।

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं।। २०।।

संयमसंयुक्तस्य च [१]सुध्यानयोग्यस्य मोक्षमार्गस्य।
ज्ञानेन लभते लक्षं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम्।। २०।।

अर्थः––संयम से संयुक्त और ध्यान के योग्य इसप्रकार जो मोक्षमार्ग उसका लक्ष्य अर्थात् लक्षणे योग्य–जाननेयोग्य निशाना जो अपना निजस्वरूप वह ज्ञान द्वारा पाया जाता है, इसलिये इसप्रकार के लक्ष्यको जानने के ज्ञान को जानना।

भावार्थः––संयम अंगीकार कर ध्यान करे और आत्माका स्वरूप न जाने तो मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं है, इसलिये ज्ञान का स्वरूप जानना चाहिये, उसके जानने से सर्व सिद्धि है ।।२०।।

आगे इसी को दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं:––

---

१ 'सुध्यानयोगस्य' का श्रेष्ठ ध्यान सहित, सं० टीका प्रतिमें ऐसा भी अर्थ है।

संयमसहित सद्ध्यानयोग्य विमुक्तिपथना लक्ष्यने,
पामी शके छे ज्ञानथी जीव, तेथी ते ज्ञातव्य छे। २०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झचविहीणो।
तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स।। २१।।

तथा नापि लभते स्फुटं लक्षं रहितः कांडस्य [२]वेधकविहीनः।
तथा नापि लक्षयति लक्षं अज्ञानी मोक्षमार्गस्य।। २१।।

अर्थः––जैसे वेधने वाला (वेधक) जो बाण, उससे रहित ऐसा जो पुरुष है वह कांड अर्थात् धनुषके अभ्यास से रहित हो तो लक्ष्य अर्थात् निशानेको नहीं पाता है, वैसे ही ज्ञान से रहित अज्ञानी है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग उसका लक्ष्य अर्थात् स्वलक्षण जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप, उसको नहीं प्राप्त कर सकता।

भावार्थः––धनुष धारी धनुष के अभ्यास से रहित और 'वेधक' जो बाण उससे रहित हो तो निशाने को नहीं प्राप्त कर सकता, वैसे ही ज्ञान रहित अज्ञानी मोक्षमार्ग का निशाना जो परमात्मा का स्वरूप है उसको न पहिचाने तब मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती है, इसलिये ज्ञान को जानना चाहिये। परमात्मारूप निशाना ज्ञानरूपबाण द्वारा वेधना योग्य है।। २१।।

आगे कहते हैं कि इसप्रकार ज्ञान–विनयसंयुक्त पुरुष होवे वही मोक्षको प्राप्त करता है:––

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स।। २२।।

ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषोऽपि विनयसंयुक्तः।
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्षयन् मोक्षमार्गस्य।। २२।।

अर्थः––ज्ञान पुरुषको होता है और पुरुष ही विनयसंयुक्त हो सो ज्ञानको प्राप्त करता है; जब ज्ञानको प्राप्त करता है तब उस ज्ञान द्वारा ही मोक्षमार्ग का लक्ष्य जो 'परमात्मा स्वरूप' उसको लक्षता–देखता–ध्यान करता हुआ उस लक्ष्यको प्राप्त करता है।

---

१ 'बेधक' – 'वेध्यक' पाठान्तर है।

शर–अज्ञ वेध्य–अजाण जेम करे न प्राप्त निशानने,
अज्ञानी तेम करे न लक्षित मोक्षपथना लक्ष्यने। २१।

रे! ज्ञान नरने थाय छे; ते, सुजन तेम विनीतने;
ते ज्ञानथी करी लक्ष, पामे मोक्षपथना लक्ष्यने। २२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––ज्ञान पुरुषके होता है और पुरुष ही विनयवान होवे सो ज्ञानको प्राप्त करता है, उस ज्ञान द्वारा ही शुद्ध आत्माका स्वरूप जाना जाता है, इसलिये विशेष ज्ञानियों के विनय द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करनी–क्योंकि निज शुद्ध स्वरूपको जानकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। यहाँ जो विनयरहित हो, यथार्थ सूत्रपदसे चिगा हो, भ्रष्ट हो गया हो उसका निषेध जानना।। २२।।

आगे इसी को दृढ़ करते हैः––

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थ बद्धलक्खो णवि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स।। २३।।

मतिधनुर्यस्य स्थिरं श्रुतं गुणः बाणाः सुसंति रत्नत्रयं।
परमार्थबद्धलक्ष्यः नापि स्खलति मोक्षमार्गस्य।। २३।।

अर्थः––जिस मुनिके मतिज्ञानरूप धनुष स्थिर हो, श्रुतज्ञानरूप गुण अर्थात् प्रत्यंचा हो, रत्नत्रयरूप उत्तम बाण हो और परमार्थस्वरूप निजशुद्धात्मस्वरूपका संबंधरूप लक्ष्य हो, वह मुनि मोक्षमार्ग को नहीं चूकता है।

भावार्थः––धनुषकी सब सामग्री यथावत् मिले तब निशाना नहीं चूकता है, वैसे ही मुनिके मोक्षमार्गकी यथावत् सामग्री मिले तब मोक्षमार्गसे भ्रष्ट नहीं होता है। उसके साधनसे मोक्षको प्राप्त होता है। यह ज्ञान का महात्म्य है, इसलिये जिनागमके अनुसार सत्यार्थ ज्ञानियोंका विनय करके ज्ञानका साधन करना।। २३।।

इसप्रकार ज्ञानका निरूपण किया।

[८] आगे देवका स्वरूप कहते हैः––

मति चाप थिर, श्रुत दोरी, जेने रत्नत्रय शुभ बाण छे,
परमार्थ जेनुं लक्ष्य छे, ते मोक्षमार्गे नव चूके। २३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।
सो देइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वमज्जा।। २४।।

सः देवः यः अर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च।
सः ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः धर्मः च प्रव्रज्या।। २४।।

अर्थः––देव उसको कहते हैं जो अर्थ अर्थात् धन, काम अर्थात् इच्छा का विषय–ऐसा भोग और मोक्ष का कारण ज्ञान–इन चारोंको देवे। यहाँ न्याय ऐसा है कि जो वस्तु जिसके पास हो सो देवे और जिसके पास न हो सो कैसे देवे? इस न्याय से अर्थ, धर्म, स्वर्गादिके भोग और मोक्ष सुख का कारण प्रवज्या अर्थात् दीक्षा जिसका हो उसको 'देव' जानना।। २४।।

आगे धर्मादि का स्वरूप कहते हैं, जिनके जानने से देवादि का स्वरूप जाना जाता है:––

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं।। २५।।

धर्मः दयाविशुद्धः प्रव्रज्या सर्वसंगपरित्यक्ता।
देवः व्यपगतमोहः उदयकरः भव्यजीवानाम्।। २५।।

अर्थः––जो दया से विशुद्ध है वह धर्म है, जो सर्व परिग्रह से रहित है वह प्रवज्या है, जिसका मोह नष्ट हो गया है वह देव है––यह भव्य जीवों के उदय को करने वाला है।

भावार्थः––लोक में यह प्रसिद्ध है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुष के प्रयोजन हैं। उनके लिये पुरुष किसी की वन्दना करता है, पूजा करता है और न्याय यह है कि जिसके पास जो वस्तु हो वह दूसरे को देवे, न हो तो कहाँ से लावे? इसलिये यह चार पुरुषार्थ जिन देव के पाये जाते हैं।

ते देव, जे सुरीते धरम ने अर्थ, काम, सुज्ञान दे;
ते वस्तु दे छे ते ज, जेने धर्म–दीक्षा–अर्थ छे। २४।

ते धर्म जेह दयाविमळ, दीक्षा परिग्रहमुक्त जे,
ते देव जे निर्मोह छे ने उदय भव्य तणो करे। २५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्म तो उसके दयारूप पाया जाता है उसको साधकर तीर्थंकर हो गये, तब धन की और संसार के भोग की प्राप्ति हो गई, लोकपूज्य हो गये, और तीर्थंकर के परमपद में दीक्षा लेकर, सब मोह से रहित होकर, परमार्थस्वरूप आत्मिकधर्मको साधकर, मोक्षसुखको प्राप्त कर लिया ऐसे तीर्थंकर जिन हैं, वे ही 'देव' हैं। अज्ञानी लोग जिनको देव मानते हैं उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नहीं है, क्योंकि कई हिंसक हैं, कई विषयासक्त हैं, मोही हैं उनके धर्म कैसा? ऐसे देव सच्चे जिनदेव ही हैं, वही भव्य जीवोंके मनोरथ पूर्ण करते हैं, अन्य सब कल्पित देव हैं।। २५।।

इसप्रकार देव का स्वरूप कहा।

[९] आगे तीर्थंकर का स्वरूप कहते हैं:--

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खे।
ण्हाएउ मुणी तित्थे, दिक्खासिक्खासुण्हाणेंण।। २६।।

व्रतसम्यक्त्व विशुद्धे पंचेद्रियसंयते निरपेक्षे।
स्नातु मुनिः तीर्थे दीक्षाशिक्षासुस्नानेन।। २६।।

अर्थ:--व्रत-सम्यक्त्व से विशुद्ध और पाँच इन्द्रियोंसे संयत अर्थात् संवर सहित तथा निरपेक्ष अर्थात् ख्याति, लाभ, पूजादिक इस लोकके फलकी तथा परलोकमें स्वर्गादिकके भोगोंकी अपेक्षासे रहित , ----ऐसे आत्मस्वरूप तीर्थ में दीक्षा-शिक्षारूप स्नानसे पवित्र होओ!

भावार्थ:--तत्वार्थ श्रद्धान लक्षण सहित, पाँच महाव्रतसे शुद्ध और पाँच इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त, इस लोक-परलोकमें विषय भोगों की वाँछासे रहित ऐसे निर्मल आत्माके स्वभावरूप तीर्थ में स्नान करनेसे पवित्र होते हैं--ऐसी प्रेरणा करते हैं।। २६।।

आगे फिर कहते हैं:--

व्रत-सुदृगनिर्मळ, इन्द्रियसंयमयुक्तने निरपेक्ष जे,
ते तीर्थमां दीक्षा-सुशिक्षारूप स्नान करो, मुने! २६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण।। २७।।

यत् निर्मलं सुधर्मं, सम्यक्त्वं संयमं तपः ज्ञानम्।
तत् तीर्थं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन।। २७।।

अर्थः––जिनमार्ग में वह तीर्थ है जो निर्मल उत्तम क्षमादिक धर्म तथा तत्त्वार्थ–श्रद्धानलक्षण, शंकादिमलरहित निर्मल सम्यक्त्व तथा इन्द्रिय–मनको वशमें करना, षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना, इसप्रकार जो निर्मल संयम, तथा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विवक्तशय्यासन, कायक्लेश, ऐसे बाह्य छह प्रकार के तप और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ऐसे छह प्रकार के अंतरंग तप––इसप्रकार बारह प्रकारके निर्मल तप और जीव–अजीव आदि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान ये 'तीर्थ' हैं, ये भी यदि शांतभाव सहित हों, कषायभाव न हों तब निर्मल तीर्थ हैं, क्योंकि यदि ये क्रोधादि भाव सहित हों तो मलिनता हो और निर्मलता न रहे।

भावार्थः––जिन मार्ग में तो इसप्रकार तीर्थ कहा है। लोग सागर–नदियों को तीर्थ मानकर स्नान करके पवित्र होना चाहते हैं; वहाँ शरीरका बाह्यमल इनसे कुछ उतरता है परन्तु शरीरके भीतरका धातु–उपधातुरूप अन्तमर्ल इनसे उतरता नहीं है, तथा ज्ञानावरण आदि कर्मरूप मल और अज्ञान राग–द्वेष–मोह आदि भाव कर्मरूप आत्मा के अन्तरमल हैं वह तो इनसे कुछ भी उतरते नहीं हैं, उलटा हिंसादिक से पापकर्मरूप मल लगता है; इसलिये सागर नदी आदिको तीर्थ मानना भ्रम है। जिससे तिरे सो 'तीर्थ' है, ––इसप्रकार जिनमार्ग में कहा है, उसे ही संसार समुद्र से तारने वाला जानना।। २७।।

इसप्रकार तीर्थ का स्वरूप कहा।

[१०] आगे अरहंत का स्वरूप कहते हैं:––

निर्मळ सुदर्शन–तपचरण–सद्धर्म–संयम–ज्ञानने,
जो शान्तभावे युक्त तो, तीरथ कह्युं जिनशासने। २७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया।
चउणागदि संपदिमे[1] भावा भावंति अरहंतं।। २८।।

नाम्नि संस्थापनायां हि च संद्रव्ये भावे च सगुणपर्याया:[2]।
च्यवनमागतिः संपत् इमे भावा भावयंति अर्हन्तम्।। २८।।

अर्थः––नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चार भाव अर्थात् पदार्थ हैं ये अरहंत को बतलाते हैं और सगुणपर्याया: अर्थात् अरहंत के गुण–पर्यायों सहित तथा चउणा अर्थात् च्यवण और आगति व सम्पदा ऐसे ये भाव अरहंत को बतलाते हैं।

भावार्थः––अरहंत शब्द से यद्यपि सामान्य अपेक्षा केवलज्ञानी हों वे सब ही अरहंत हैं तो भी यहाँ तीर्थंकर पदकी प्रधानता से कथन करते हैं इसलिये नामादिकसे बतलाना कहा। लोकव्यवहार में नाम आदि की प्रवृत्ति इसप्रकार है––जो जिस वस्तु का नाम हो वैसा गुण न हो उसको **नामनिक्षेप** कहते हैं। जिस वस्तुका जैसा आकार हो उस आकार की काष्ठ–पाषाणादिककी मूर्ति बनाकर उसका संकल्प करे उसको **स्थापना** कहते हैं। जिस वस्तुकी पहली अवस्था हो उसहीको आगे की अवस्था प्रधान करके कहें उसको **द्रव्य** कहते हैं। वर्तमान में जो अवस्था हो उसको **भाव** कहते हैं। ऐसे चार निक्षेपकी प्रवृत्ति है। उसका कथन शास्त्र में भी लोगोंको समझाने के लिये किया है। जो निक्षेप विधान द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्यको भाव न समझे; नाम को नाम समझे, स्थापना को स्थापना समझे, द्रव्य को द्रव्य समझे, भाव को भाव समझे, अन्य को अन्य समझे, अन्यथा तो 'व्यभिचार' नामक दोष आता है। उसे दूर करने के लिये लोगों को यथार्थ समझने को शास्त्र में कथन है। किन्तु यहाँ वैसा निक्षेपका कथन नहीं समझना। वहाँ तो निश्चय की प्रधानता से कथन है सो जैसा अरहंतका नाम है वैसा ही गुण सहित नाम जानना, जैसी उनकी देह सहित मूर्ति है वही स्थापना जानना, जैसा उनका द्रव्य है वैसा द्रव्य जानना और जैसा उनका भाव है वैसा ही भाव जानना ।। २८।।

इसप्रकार ही कथन आगे कहते हैं। प्रथम ही नाम को प्रधान करके कहते हैं:––

---

१ सं० प्रति में 'संपदिम' पाठ है।
२ 'सगुणपज्जया' इस पद की छाया में 'स्वगुण पर्यायः' स० प्रति मे है।

अभिधान–स्थापन–द्रव्य भावे, स्वीय गुणपर्यायथी,
अर्हंत जाणी शकाय छे आगति–च्यवन–संपत्तिथी। २८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण।
णिरुवमगुणमारुढो अरहंतो एरिसो होइ।। २९।।

दर्शनं[1] अनंतं ज्ञानं मोक्षः नष्टाष्टकर्मबंधेन।
निरूपमगुणमारूढः अर्हन् ईदृशो भवति।। २९।।

अर्थः––जिनके दर्शन और ज्ञान ये तो अनन्त हैं, धाति कर्मके नाश से सब ज्ञेय पदार्थोंको देखना व जानना है, अष्ट कर्मोंका बंध नष्ट होने से मोक्ष है। यहाँ सत्व की और उदय की विवक्षा न लेना, केवली के आठोंही कर्मका बंध नहीं है। यद्यपि साता वेदनीय का आस्रव मात्र बंध सिद्धांत में कहा है तथापि स्थिति– अनुभागरूप बंध नहीं है, इसलिये अबंध तुल्य ही हैं। इसप्रकार आठों ही कर्म बंधके अभाव की अपेक्षा भाव मोक्ष कहलाता है और उपमा रहित गुणोंसे आरूढ़ हैं–सहित हैं। इसप्रकार गुण छद्मस्थ में कहीं भी नहीं है, इसलिये जिनमें उपमारहित गुण हैं ऐसे अरहंत होते हैं।

भावार्थः–केवल नाम मात्र ही अरहंत हों उसको अतहंत नहीं कहते हैं। इसप्रकार के गुणों से सहित हों उनका नाम अरहंत कहते हैं।। २९।।

आगे फिर कहते हैं:––

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो।। ३०।।

जराव्याधिजन्म मरणं चतुर्गतिगमनं पुण्यपापं च।
हत्वा दोषकर्माणि भूतः ज्ञानमयश्चार्हन्।। ३०।।

---

१ सटीक सं० प्रति में 'दर्शन अनंत ज्ञाने' ऐसा सप्तमी अंत पाठ है।

निःसीम दर्शन–ज्ञान छे, वसुबंधलयथी मोक्ष छे,
निरूपम गुणे आरूढ छे–अर्हंत आवा होय छे। २९।

जे पुण्य–पाप, जरा–जनम–व्याधि–मरण, गतिभ्रमणने
वळी दोषकर्म हणी थया ज्ञानाद्र, ते अर्हंत छे। ३०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अर्थः––जरा–बुढ़ापा, व्याधि–रोग, जन्म–मरण, चारों गतियोंमें गमन, पुण्य–पाप और दोषोंको उत्पन्न करने वाले कर्मोंका नाश करके, केवलज्ञानमयी अरहंत हुआ हो वह 'अरहंत' हैं।

भावार्थः––पहिली गाथा में गुणोंके सद्भाव से अरहंत नाम कहा और इस गाथा में दोषोंके अभाव से अरहंत नाम कहा। राग, द्वेष, मद, मोह, अरति, चिंता, भय, निद्रा, विषाद, खेद और विस्मय ये ग्यारह दोष तो घातिकर्म के उदय से होते हैं और क्षुधा, तृशा, जन्म, जरा, मरण, रोग ओर स्वेद ये सात दोष अघाति कर्म के उदय से होते हैं। इस गाथा में जरा, रोग, जन्म, मरण और चार गतियों में गमन का अभाव कहने से तो अघातिकर्म से हुए दोषोंका अभाव जानना, क्योंकि अघातिकर्म में इन दोषोंको उत्पन्न करने वाली पापप्रकृतियोंके उदय का अरहंत को अभाव है और राग–द्वेषादिक दोषोंका घातिकर्म के अभाव से अभाव है। यहाँ कोई पूछे––––अरहंत को मरण का और पुण्य का अभाव कहा; मोक्षगमन होना यह 'मरण' अरहंत के है और पुण्य प्रकृतियों का उदय पाया जाता है, उनका अभाव कैसे? उसका समाधान–––यहाँ मरण होकर फिर संसार में जन्म हो इसप्रकार के 'मरण' की अपेक्षा यह कथन है, इसप्रकार मरण अरहंत के नहीं है; उसीप्रकार जो पुण्य प्रकृतिका उदय पाप प्रकृति सापेक्ष करे इसप्रकार पुण्य के उदयका अभाव जानना अथवा बंध – अपेक्षा पुण्यका भी बंध नहीं है। सातावेदनीय बंधे वह स्थिति–अनुभाग बिना अबंधतुल्य ही है।

प्रश्नः– केवली के असाता वेदनीय का उदय भी सिद्धांत में कहा है, उसकी प्रकृति कैसे है?

उत्तरः– इसप्रकार जो असाता का अत्यन्त मंद – बिलकुल मंद अनुभाग उदय है और साता का अति तीव्र अनुभाग उदय है, उसके वश से असाता कुछ बाह्य कार्य करने में समर्थ नहीं है, सूक्ष्म उदय देकर खिर जाता है तथा संक्रमणरूप होकर सातारूप हो जाता है इसप्रकार जानना। इसप्रकार अनंत चतुष्टय सहित सर्वदोष रहित सर्वज्ञ वीतराग हो उसको नाम से 'अरहंत' कहते हैं।। ३०।।

आगे स्थापना द्वारा अरहंत का वर्णन करते हैंः––

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स।। ३१।।

छे स्थापना अर्हंतनी कर्तव्य पांच प्रकारथी,
–गुण, मार्गणा, पर्याप्ति तेम ज प्राणने जीवस्थानथी। ३१।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गुणस्थानमार्गणाभि: च पर्याप्तिप्राणजीवस्थानै:।
स्थापना पंचविधै: प्रणेतव्या अर्हत्पुरुषस्य।। ३१।।

अर्थ:––गुणस्थान, मार्गणास्थान, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान इन पाँच प्रकार से अरहंत पुरुष की स्थापना प्राप्त करना अथवा उसको प्रणाम करना चाहिये।

भावार्थ:––स्थापनानिक्षेपमें काष्ठ – पाषाणादिक में संकल्प करना कहा है सो यहाँ प्रधान नहीं है। यहाँ निश्चय की प्रधानता से कथन है। यहाँ गुणस्थान आदिक से अरहंत का स्थापन कहा है।। ३१।।

आगे विशेष कहते हैं:––

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा।। ३२।।

त्रयोदशे गुणस्थाने सयोगकेवलिक: भवति अर्हन्।
चतुस्त्रिंशत् अतिशयगुणा भवंति स्फुटं तस्याष्टप्रातिहार्या।। ३२।।

अर्थ:––गुणस्थान चौदह कहे हैं, उनमें सयोगकेवली नाम तेरहवाँ गुणस्थान है। उसमें योगोंकी प्रवृत्तिसहित केवली सयोगकेवली अरहंत होता है। उनके चौंतीस अतिशय और आठ प्रारिहार्य होते हैं, ऐसे तो गुणस्थान द्वारा 'स्थापना' अरहंत कहलाते हैं।

भावार्थ:––यहाँ चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य कहने से तो समवशरण में विराजमान तथा विहार करते हुए अरहंत हैं और 'सयोग' कहने से विहारी प्रवृत्ति और वचन की प्रवृत्ति सिद्ध होती है। 'केवली' कहने से केवलज्ञान द्वारा सब तत्त्वोंका जानना सिद्ध होता है। चौंतीस अतिशय इसप्रकार हैं–––**जन्म से प्रकट होने वाले दस:**––१–मलमूत्र का अभाव, २–पसेवका अभाव, ३–धवल रुधिर होना, ४–समचतुरस्रसंस्थान, ५–वज्रवृषभनाराच संहनन, ६–सुन्दररूप, ७–सुगंध शरीर, ८–शुभलक्षण होना, ९–अनन्त बल, १०–मधुर वचन, इसप्रकार दस होते हैं।

અર્હત્ સયોગીકેવળીજિન તેરમે ગુણસ્થાન છે;
ચોત્રીશ અતિશયયુક્ત ને વસુ પ્રાતિહાર્યસમેત છે। ૩૨।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर दस होते हैं:--- १–उपसर्ग का अभाव, २–अदयाका अभाव, ३–शरीर की छाया न पड़ना, ४–चतुर्मख दिखना, ५–सब विद्याओं का स्वामित्व, ६–नेत्रोंके पलक न गिरना, ७–शतयोजन सुभिक्षता, ८–आकाशगमन, ९–कवलाहार नहीं होना, १०–नख–केशोंका नहीं बढ़ना, ऐसे दस होते हैं।

चौदह देवकृत होते हैं:---- १–सकलार्द्धमागधी भाषा, २–सब जीवोंमें मैत्री भाव, ३–सब ऋतुके फल फूल फलना, ४–दर्पण समान भूमि, ५–कंटक रहित भूमि, ६–मंद सुगंध पवन, ७–सबके आनंद होना, ८–गंधोदक वृष्टि, ९–पैरोंके नीचे कमल रचना, १०–सर्वधान्य निष्पत्ति, ११–दसों दिशाओं का निर्मल होना, १२–देवों के द्वारा आह्वानन, १३–धर्मचक्रका आगे चलना, १४–अष्टमंगलद्रव्योंका आगे चलना।

अष्ट मंगल द्रव्योंके नाम १–छत्र, २–ध्वजा, ३–दर्पण, ४–कलश, ५–चामर, ६–भृङ्गार (झारी), ७–ताल (ठवणा), और ८–स्वास्तिक (साँथिया) अर्थात् सुप्रतचिक ऐसे आठ होते हैं। चौंतीस अतिशय के नाम कहे।

आठ प्रातिहार्य होते हैं उनके नाम ये हैं – १–अशोक वृक्ष, २–पुष्पवृष्टि, ३–दिव्यध्वनि, ४–चामर, ५–सिंहासन, ६–भामण्डल, ७–दुन्दुभि वादित्र और ८–छत्र ऐसे आठ होते हैं। इसप्रकार गुणस्थान द्वारा अरहंत का स्थापन कहा।। ३२।।

अब आगे मार्गणा द्वारा कहते हैं:---

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेसा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे।। ३३।।

गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च।
संयमे दर्शने लेश्यायां भव्यत्वे सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे।। ३३।।

अर्थ:––गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार इसप्रकार चौदह मार्गणा होती है।

गति–इन्द्रि–काये, योग–वेद–कषाय–संयम–ज्ञानमां,
दग–भव्य–लेश्या–संज्ञी–समकित–आ ' रमां ओ स्थापवा। ३३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अरहंत सयोगकेवली को तेरहवाँ गुणस्थान है, इसमें 'मार्गणा' लगाते हैं। **गति**– चार में मनुष्यगति है, **इन्द्रियजाति**– पाँच में पँचेन्द्रिय जाति है, **काय**– छहमें त्रसकाय है, **योग**– पंद्रह में योग–मनोयोग तो सत्य और अनुभय इसप्रकार दो और ये ही वचन योग दो तथा काययोग औदारिक इसप्रकार पाँच योग हैं, जब समुद्घात करे तब औदारिकमिश्र और कार्माण ये दो मिलकर सात योग हैं; **वेद**– तीनों का ही अभाव है; **कषाय**– पच्चीस सबही का अभाव है; **ज्ञान**– आठ में केवलज्ञान है; **संयम**– सात में एक यथाख्यात है; **दर्शन**– चारमें एक केवलदर्शन है; **लेश्या**– छह में एक शुक्ल जो योग निमित्त है; **भव्य**– दो में एक भव्य है; **सम्यक्त्व**– छह में एक क्षायिक सम्यक्त्व है; **संज्ञी**– दो में संज्ञी है, वह द्रव्य से है और भाव से क्षयोपशनरूप भाव मन का अभाव है; **आहारक अनाहारक**– दो में 'आहारक' हैं वह भी नोकर्मवर्गणा अपेक्षा है किन्तु कवलाहार नहीं है और समुद्घात करे तो 'अनाहारक' भी है, इसप्रकार दोनों हैं। इसप्रकार मार्गणा अपेक्षा अरहंत का स्थापन जानना ।।३३।।

आगे पर्याप्ति द्वारा कहते हैं:---

आहारो य सरीरो इंदियमण आणपाणभासा य।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो।।३४।।

आहार: च शरीरं इन्द्रियमनआनप्राणभाषा: च।
पर्याप्ति गुणसमृद्ध: उत्तमदेव: भवति अर्हन्।।३४।।

अर्थ:––आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन, आनप्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास और भाषा–– इसप्रकार छह पर्याप्ति हैं, इस पर्याप्ति गुण द्वारा समृद्ध अर्थात् युक्त उत्तम देव अरहंत हैं।

भावार्थ:––पर्याप्ति का स्वरूप इप्रकार है––––जो जीव एक अन्य पर्याय को छोड़कर अन्य पर्याय में जावे तब विग्रह गति में तीन समय उत्कृष्ट बीच में रहे, पीछे सैनी पंचेन्द्रिय में उत्पन्न हो। वहाँ तीन जाति की वर्गणा का ग्रहण करे – आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, इसप्रकार ग्रहण करके 'आहार' जाति की वर्गणा से तो आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास इसप्रकार चार पर्याप्ति अंतर्मुहूर्त कालमें पूर्ण

आहार, काया, इन्द्रि, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन तणी,
अर्हंत उत्तम देव छे समृद्ध षट् पर्याप्तिथी। ३४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करे, तत्पश्चात् भाषाजाति मनोजातिकी वर्गणा से अन्तर्मुहूर्त मेह ही भाषा, मनःपर्याप्ति पूर्ण करे, इसप्रकार छहों पर्याप्ति अंतर्मुहूर्त में पूर्ण करता है, तत्पश्चात् आयुपर्यन्त पर्याप्त ही कहलाता है और नोकर्मवर्गणा का ग्रहण करता ही रहता है। यहाँ आहार नाम कवलाहार नहीं जानना। इसप्रकार तेरहवें गुणस्थान में भी अरहंतके पर्याप्त पूर्ण ही है, इसप्रकार पर्याप्ति द्वारा अरहंत की स्थापना है।। ३४।।

आगे प्राण द्वारा कहते हैं:---

पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा।। ३५।।

पंचापि इंद्रियप्राणा: मनोवचनकायै: त्रयो बलप्राणा:।
आनप्राणप्राणा: आयुष्कप्राणेन भवंति दशप्राणा:।। ३५।।

अर्थ:---पाँच इन्द्रियप्राण, मन–वचन–काय तीन बलप्राण, एक श्वासोच्छ्वास प्राण और एक आयुप्राण ये दस प्राण हैं।

भावार्थ:---इसप्रकार दस प्राण कहें उनमें तेरहवें गुणस्थान में भावइन्द्रिय और भावमन का क्षयोपशमभावरूप प्रवृत्ति नहीं है इस अपेक्षा से कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास, आयु ये चार प्राण हैं और द्रव्य अपेक्षा दसों ही हैं। इसप्रकार प्राण द्वारा अरहंत का स्थापन है।। ३५।।

आगे जीवस्थान द्वारा कहते हैं:---

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारुढो हवइ अरहो।। ३६।।

इन्द्रियप्राणो पांच, त्रण बळप्राण मन–वच–कायना,
बे आयु–श्वासोच्छ्वास प्राणो, –प्राण ए दस होय त्यां। ३५।

मानवभवे पंचेन्द्रि तेथी चौदमे क्रवस्थान छे;
पूर्वोक्त गुणगणयुक्त, 'गुण'–आरूढ श्री अर्हंत छे। ३६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मनुजभवे पंचेन्द्रियः जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशे।
एतद्गुणगणयुक्तः गुणमारूढो भवति अर्हन्।। ३६।।

अर्थः––मनुष्यभव में पंचेन्द्रिय नाम के चौदहवें जीवस्थान अर्थात् जीव समास, उसमें इतने गुणोंके समूहसे युक्त तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त अरहंत होते हैं।

भावार्थः––जीवसमास चौदह कहें हैं–––एकेन्द्रिय सूक्ष्म बादर २, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय ऐसे विकलत्रय –३, पंचेन्द्रिय असैनी सैनी २, ऐसे सात हुए; ये पर्याप्त अपर्याप्त के भेद से चौदह हुए। इनमें चौदहवाँ 'सैनी पंचेन्द्रिय जीवस्थान' अरहंत के है। गाथा में सैनी का नाम न लिया और मनुष्य का नाम लिया सो मनुष्य सैनी ही होते हैं, असैनी नहीं होते हैं इसलिये मनुष्य कहने में 'सैनी' ही जानना चाहिये ।।३६।।

इसप्रकार जीवस्थान द्वारा 'स्थापना अरहंत' का वर्णन किया।

आगे द्रव्य की प्रधानता से अरहंतका निरूपण करते हैं:––

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य।। ३७।।

दस पाणा पज्जती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया।
गोखीरसंखधवलं मंसं रूहिरं च सव्वंगे।। ३८।।

एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स।। ३९।।

वणव्याधि–दुःख–जरा, आहार–निहार वर्जित, विमळ छे,
अजुगुप्सिता, वणनासिकामळ–श्लेष्म–स्वेद, अदोष छे। ३७।

दस प्राण, षट् पर्याप्ति, अष्ट–सहस्र लक्षण युक्त छे,
सर्वांग गोक्षीर–शंखतुल्य सुधवल मांस रूधिर छे; ३८।

–आवा गुणे सर्वांग अतिशयवंत, परिमल म्हेकती,
औदारिकी काया अहो! अर्हत्पुरुषनी जाणवी। ३९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जराव्याधिदु:खरहित: आहारनीहार वर्जित: विमल:।
सिंहाण: खेल: स्वेद: नास्ति दुर्गन्ध: च दोष: च।। ३७।।

दश प्राणा: पर्याप्तय: अष्टसहस्राणि च लक्षणानि भणितानि।
गोक्षीरशंखधवलं मांसं रुधिरं च सर्वांगे।। ३८।।

ईदृशगुणै: सर्व: अतिशयवान सुपरिमलामोद:।
औदारिकश्च काय: अर्हत्पुरुषस्य ज्ञातव्य:।। ३९।।

अर्थ:––अरहंत पुरुष के औदारिक काय इसप्रकार होता है–––जो जरा, व्याधि और रोग इन संबंधी दु:ख उसमें नहीं है, आहार–नीहार से रहित है, विमल अर्थात् मलमूत्र रहित है; सिंहाण अर्थात् श्लेष्म, खेल अर्थात् थूक, पसेव और दुर्गंध अर्थात् जुगुप्सा, ग्लानि और दुर्गंधादि दोष उसमें नहीं है।। ३७।।

दस तो उसमें प्राण हैं वे द्रव्यप्राण हैं, पूर्ण पर्याप्ति है, एक हजार आठ लक्षण हैं और गोक्षीर अर्थात् कपूर अथवा चंदन तथा शंख जैसा उसमें सर्वांग धवल रुधिर और मांस है ।। ३८।।

इसप्रकार गुणोंसे संयुक्त सर्व ही देह अतिशयसहित निर्मल है, आमोद अर्थात् सुगंध जिसमें इसप्रकार औदारिक देह अरहंत पुरुष के है।। ३९।।

भावार्थ:––यहाँ द्रव्य निक्षेप नहीं समझना। आत्मासे भिन्न ही देहकी प्रधानता से 'द्रव्य अरहंतका' वर्णन है।। ३७ – ३८– ३९।।

इसप्रकार द्रव्य अरहंतका वर्णन किया।

आगे भाव की प्रधानता से वर्णन करते हैं:–––

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ व सुविसुद्धो।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो।। ४०।।

मदरागदोषरहित: कषायमलवर्जित: च सुविशुद्ध:।
चित्तपरिणामरहित: केवलभावे ज्ञातव्या:।। ४०।।

मदरागद्वेषविहीन, त्यक्तकषायमळ सुविशुद्ध छे,
मनपरिणमनपरिमुक्त, केवळभावस्थित अर्हंत छे। ४०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––केवलभाव अर्थात् केवलज्ञानरूप ही एक भाव होते हुए अरहंत होते हैं ऐसा जानना। मद अर्थात् मानकषाय से हुआ गर्व, राग–द्वेष अर्थात् कषायोंके तीव्र उदय से होने वाले प्रीति और अप्रीतिरूप परिणाम इनसे रहित हैं, पच्चीस कषायरूप मल उसका द्रव्य कर्म तथा उनके उदय से हुआ भावमल उससे रहित हैं, इसीलिये अत्यन्त विशुद्ध हैं––निर्मल हैं, चित्त परिणाम अर्थात् मन के परिणामरूप विकल्प रहित हैं, ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमरूप मन का विकल्प नहीं है, इसप्रकार केवल एक ज्ञानरूप वीतरागस्वरूप 'भाव अरहंत' जानना।। ४०।।

आगे भाव ही का विशेष कहते हैं:–––

सम्मद्दंसणि पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो।। ४१।।

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्।
सम्यक्त्वगुणविशुद्धः भावः अर्हतः ज्ञातव्यः।। ४१।।

अर्थः––'भाव अरहंत' सम्यग्दर्शनसे तो अपने को तथा सबको सत्तामात्र देखते हैं इसप्रकार जिनको केवलदर्शन है, ज्ञान से सब द्रव्य–पर्यायों को जानते हैं इसप्रकार जिनको केवलज्ञान है, जिनको सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है,––इसप्रकार अरहंत का भाव जानना।

भावार्थः––अरहंतपना घातीकर्मके नाश से होता है। मोहकर्म नाश से सम्यक्त्व और कषाय के अभाव से परम वीतरागता सर्वप्रकार निर्मलता होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के नाश से अनंतदर्शन–अनंतज्ञान प्रकट होता है, इनसे सब द्रव्य–पर्यायोंको एक समयमें प्रत्यक्ष देखते हैं और जानते हैं। द्रव्य छह हैं––उनमें जीव द्रव्य की संख्या अनंतानंत है, पुद्गलद्रव्य उससे अनंतानंत गुणे हैं, आकाशद्रव्य एक है वह अनंतानंत प्रदेशी है इसके मध्यमें सब जीव – पुद्गल असंख्यात प्रदेश में स्थित हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य ये दोनों असंख्यातप्रदेशी हैं इनसे लोक–आलोक का विभाग है, उसी लोकमें ही कालद्रव्य के असंख्यात कालाणु स्थित हैं। इन सब द्रव्योंके परिणामरूप पर्याय हैं वे एक–एक द्रव्यके अनंतानंत हैं, उनको कालद्रव्यका परिणाम निमित्त है, उसके निमित्त से क्रमरूप होता समयादिक 'व्यवहारकाल' कहलाता है। इसकी गणना अतीत, अनागत, वर्तमान द्रव्योंकी पर्यायें अनंतानंत हैं, इन सब द्रव्य–पर्यायोंको अरहंतका दर्शन–ज्ञान एकसमयमें देखता जानता है,

---

देखे दरशथी, ज्ञानथी जाणे दरव–पर्यायने,
सम्यक्त्वगुणसुविशुद्ध छे, –अर्हंतनो आ भाव छे। ४१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिये अरहंत को सर्वदर्शी–सर्वज्ञ कहते हैं।

भावार्थः––इसप्रकार अरहंतका निरूपण चौदह गाथाओंमें किया। प्रथम गाथामें नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, गुण, पर्याय सहित च्यन, आगति, संपत्ति ये भाव अरहंत को बतलाते हैं। इसका व्याख्यान नामादि कथनमें सर्व ही आ गया, उसका संक्षेप भावार्थ लिखते हैंः––

गर्भ-कलयाणकः––––प्रथम गर्भकलयाणक होता है; गर्भमें आनेके छह महीने पहिले इन्द्रका भेजा हुआ कुबेर जिस राजाकी राणी के गर्भ में तीर्थंकर आयेंगे उसके नगरकी शोभा करता है, रत्नमयी सुवर्णमयी मन्दिर बनाता है, नगर के कोट, खाई, दरवाजे, सुन्दर वन, उपवन की रचना करता है, सुन्दर भेषवाले नर–नारी नगर में बसाता है, नित्य राजमन्दिर पर रत्नों की वर्षा होती रहती है, तीर्थंकर का जीव जब माता के गर्भ में आता है तब माताको सोलह स्वप्न आते हैं, रुचकवरद्वीपमें रहनेवाली देवांगनायें माता की नित्य सेवा करती हैं, ऐसे नौ महीने पूरे होने पर प्रभुका तीन ज्ञान और दस अतिशय सहित जन्म होता है, तब तीन लोक में आनंदमय क्षोभ होता है, देव के बिना बजाये बाजे बजते हैं, इन्द्रका आसन कम्पायमान होता है, तब इन्द्र प्रभु का जन्म हुआ जान कर स्वगर से ऐरावत हाथी पर चढ़ कर आता है, सर्व चार प्रकार के देव–देवी एकत्र होकर आते है, शची (इन्द्राणी) माता के पास जाकर गुप्तरूपसे प्रभुको ले आती है, इन्द्र हर्षित होकर हजार नेत्रोंसे देखता है।

फिर सौधर्म इन्द्र, बालक शरीरी भगवान को अपनी गोदमें लेकर ऐरावत हाथी पर चढ़कर मेरुपर्वत पर जाता है, इशान इन्द्र छत्र धारण करता है, सनत्कुमार, महेन्द्र इन्द्र चँवर ढोरते हैं, मेरुके पाँडुक वन की पाँडुकशिला पर सिंहासन के ऊपर प्रभुको विराजमान करते हैं, सब देव क्षीर समुद्र से एक हजार आठ कलशोंमें जल लाकर देव–देवांगना गीत नृत्य वादित्र बड़े उत्साह सहित प्रभुके मस्तकपर कलश ढारकर जन्मकल्याणकका अभिषेक करते हैं, पीछे श्रृंगार, वस्त्र, आभूषण पहिनाकर माता के पास मंदिरमें लाकर माता के सौंप देते हैं, इन्द्रादिक देव अपने–अपने स्थान चले जाते हैं, कुबेर सेवा के लिये रहता है।

तदनन्तर कुमार – अवस्था तथा राज्य –अवस्था भोग भोगकर फिर वैरागय कारण पाकर संसार –देह– भोगोंके विरक्त हो जाते हैं। तब लौकान्तिक देव आकर, वैराग्य को बढ़ाने वाली प्रभु की स्तुति करते हैं, फिर इन्द्र आकर 'तप कल्याणक' करता है। पालकी में बैठाकर बड़े उत्सव से वन में ले जाता है, वहाँ प्रभु पवित्र शिला पर बैठ कर पंचमुष्टि से लोचकर पंच महाव्रत अंगीकार करते हैं, समस्त परिग्रह का त्याग कर दिगम्बररूप धारण कर ध्यान करते है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसी समय मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। फिर कुछ समय व्यतीत होने पर तपके बलसे घातिकर्म की प्रकृति ४७ तथा अघाति कर्मप्रकृति १६———इसप्रकार त्रेसठ प्रकृति का सत्तामें से नाश कर केवलज्ञान उत्पन्न कर अनन्तचतुष्टयरूप होकर क्षुधादिक दोषोंसे रहित अरहंत होते हैं।

फिर इन्द्र आकर समवसरणकी रचना करता है सो आगमोक्त अनेक शोभा सहित मणि–सुवर्णमयी कोट, खाई, वेदी चारों दिशाओंमें चार दरवाजे, मानस्तंभ, नाट्यशाला, वन आदि अनेक रचना करता है। उसके बीच सभामण्डपमें बारह सभाएँ उनमें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, देव, देवी, तिर्यंच बैठते हैं। प्रभुके अनेक अतिशय प्रकट होते हैं। सभामण्डपके बीच तीन पीठपर गंधकुटीके बीच सिंहासन पर कमलके ऊपर अंतरीक्ष प्रभु बिराजते हैं और आठ प्रातिहार्य युक्त होते हैं। वाणी खिरती है, उसको सुनकर गणधर द्वादशांग शास्त्र रचते हैं। ऐसे केवलकल्याणका उत्सव इन्द्र करता है। फिर प्रभु विहार करते हैं। उसका बड़ा उत्सव देव करते हैं। कुछ समय बाद आयु के दिन थोड़े रहने पर योगनिरोध कर अधातिकर्मका नाशकर मुक्ति पधारते हैं, तत्पश्चात् शरीरका अग्नि–संस्कार कर इन्द्र उत्सवसहित 'निर्वाण कल्याणक' महोत्सव करता है। इसप्रकार तीर्थंकर पंच कल्याणककी पूजा प्राप्त कर, अरहंत होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं ऐसा जानना।। ४१।।

आगे (११) – **प्रवज्या** निरूपण करते हैं, उसको दीक्षा कहते हैं। प्रथम दीक्षा ही के योग्य स्थान विशेष को तथा दीक्षासहित मुनि जहाँ तिष्ठते हैं, उसका स्वरूप कहते हैं:––

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा।। ४२।।

[१]सवसासत्तं तित्थं [२]वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं।
जिणभवणं अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति।। ४३।।

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति।। ४४।।

---

१ सं० प्रति मे 'सवसा" सतं' ऐसे दो पद किये है जिनकी सं० सववशा 'सत्त्वं' लिखा है।
२ 'वचचइदालत्तयं' इसके भी दो ही पद किये है 'वचः' 'चैत्यालयं'।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शून्यगृहे तरुमूले उद्याने तथा श्मसानवासे वा।
गिरिगुहायां गिरिशिखरे वा, भीमवने अथवा वसतौ वा।। ४२।।

स्ववशासक्तं तीर्थं वचश्चैत्यालयत्रिकं च उक्तैः।
जिनभवनं अथ वेध्यं जिनमार्गे जिनवरा विदन्ति।। ४३।।

पंचमहाव्रतयुक्ताः पंचेन्द्रियसंयताः निरपेक्षाः।
स्वाध्यायध्यानयुक्ताः मुनिवरवृषभाः नीच्छन्ति।। ४४।।

अर्थः––सूना घर, वृक्षका मूल, कोटर, उद्यान वन, श्मशानभूमि, पर्वतकी गुफा, पर्वतका शिखर, भयानक वन और वस्तिका इनमें दीक्षासहित मुनि ठहरें। ये दीक्षायोग्य स्थान हैं।

स्ववशासक्त अर्थात् स्वाधीन मुनियोंसे आसक्त जो क्षेत्र उन क्षेत्रोंमें मुनि ठहरे। तथा जहाँ से मोक्ष पधारें इसप्रकार के तीर्थस्थान और वच, चैत्य, आलय इसप्रकार त्रिक जो पहिले कहा गया है अर्थात् आयतन आदिक; परमार्थरूप संयमी मुनि, अरहंत, सिद्ध स्वरूप उनके नामके अक्षररूप मंत्र तथा उनकी आज्ञारूप वाणीको '**वच**' कहते हैं तथा उनके आकार धातु – पाषाण की प्रतिमा स्थापनको '**चैत्य**' कहते हैं और जब प्रतिमा तथा अक्षर मंत्र वाणी जिसमें सथापित किये जाते हैं इसप्रकार '**आलय**' – मंदिर, यंत्र या पुस्तकरूप ऐसा वच, चैत्य तथा आलयका त्रिक है अथवा जिनभवन अर्थात् अकृत्रिम चैत्यालय मंदिर इसप्रकार आयतनादिक उनके समान ही उनका व्यवहार, उसे जिनमार्ग में जिनवर देव 'बेध्य' अर्थात् दीक्षासहित मुनियोंके ध्यान करने योग्य, चिन्तन करने योग्य कहते हैं।

मुनि शून्यगृह, तरूतल वसे, उद्यान वा समशानमां,
गिरिकंदरे, गिरिशिखर पर, विकराळ वन वा वसतिमां। ४२।

निजवश श्रमणना वास, तीरथ, शास्त्र चैत्यालय अने
जिनभवन मुनिनां लक्ष्य छे–जिनवर कहे जिनशासने। ४३।

पंचेन्द्रियसंयमवंत, पंचमहाव्रती, निरपेक्ष ने
स्वाध्याय–ध्याने युक्त मुनिवरवृषभ इच्छे तेमने। ४४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो मुनिवृषभ अर्थात् मुनियोंमें प्रधान हैं उनके कहे हुए शून्यगृहादिक तथा तीर्थ, नाम मंत्र, स्थापनरूप मूर्ति और उनका आलय – मन्दिर, पुस्तक और अकृत्रिम जिनमन्दिर उनको 'णिइच्छति' अर्थात् निश्चयसे इष्ट करते हैं। सूने घर आदि में रहते हैं और तीर्थ आदि का ध्यान चिंतवन करते हैं तथा दूसरोंको वहाँ दीक्षा देते हैं। यहाँ 'णिइच्छति' पाठान्तर 'णिइच्छंति' इसप्रकार भी है उसका कालोक्ति द्वारा तो इसप्रकार अर्थ होता है कि 'जो क्या इष्ट नहीं करते हैं? अर्थात् करते ही हैं।' एक टिप्पणी में ऐसा अर्थ किया है कि––ऐसे शून्यगृहादिक तथा तीर्थादिकको स्ववशासक्त अर्थात् स्वेच्छाचारी भ्रष्टाचारियों द्वारा आसक्त हो (युक्त हो) तो वे मुनिप्रधान इष्ट न करें, वहाँ न रहें। कैसे हैं वे मुनि प्रधान? पाँच महाव्रत संयुक्त हैं, पाँच इन्द्रियोंको भले प्रकार जीतने वाले हैं, निरपेक्ष हैं – किसी प्रकारकी वांच्छासे मुनि नहीं हुए हैं, स्वाध्याय और ध्यानयुक्त हैं, कई तो शास्त्र पढ़ते– पढ़ाते हैं, कई धर्म – शुक्लध्यान करते हैं।

भावार्थः––यहाँ दीक्षा योग्य स्थान तथा दीक्षासहित दीक्षा देनेवाले मुनिका तथा उनके चिंतनयोग्य व्यवहार स्वरूप कहा है ।। ४२ – ४३ – ४४।।

[११] आगे प्रवज्याका स्वरूप कहते हैं:––

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकषाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४५।।

गृहग्रंथमोहमुक्ता द्वविंशतिपरीषहा जितकषाया।
पापारंभविमुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता।। ४५।।

अर्थः––गृह (घर) और ग्रंथ (परिग्रह) इन दोनोंसे मुनि ममत्व, इष्ट –अनिष्ट बुद्धिसे रहित ही है, जिसमें बाईस परीषहोंका सहना होता है, कषायोंको जीतते हैं और पापरूप आरंभ से रहित हैं–––इसप्रकार प्रवज्या जिनेश्वरदेवने कही है।

गृह–ग्रंथ–मोहविमुक्त छे, परिषहजयी, अकषाय छे,
छे मुक्त पापारंभथी, –दीक्षा कही आवी जिने। ४५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

भावार्थ:––जैन दीक्षामें कुछ भी परीग्रह नहीं, सर्व संसार का मोह नहीं, जिसमें बाईस परीषहोंका सहना तथा कषायोंका जीतना पाया जाता हैं और पापारंभ का अभाव होता है। इसप्रकार दीक्षा अन्यमत में नहीं है।। ४५।।

आगे फिर कहते हैं:–––

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४६।।

धनधान्यवस्त्रदानं हिरण्यशयनासनादि छत्रादि।
कुदानविरहरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता।। ४६।।

अर्थ:––धन, धान्य, वस्त्र इनका दान, हिरण्य अर्थात् रूपा, सोना आदिक, शय्या, आसन आदि शब्दसे छत्र, चामरादिक और क्षेत्र आदि कुदानोंसे रहित प्रवज्या कही है।

भावार्थ:––अन्यमती बहुत से इसप्रकार प्रवज्या कहते हैं:–––––गौ, धन, धान्य, वस्त्र, सोना, रूपा (चाँदी), शयन, आसन, छत्र, चँवर और भूमि आदि का दान करना प्रवज्या है। इसका इस गाथा में निषेध किया है–––प्रवज्या तो निर्ग्रंथ स्वरूप है, जो धन, धान्य आदि रख कर दान करे उसके काहे की प्रवज्या? यह तो गृहस्थका कर्म है, गृहस्थके भी इन वस्तुओंके दान से विशेष पुण्य तो होता नहीं है, क्योंकि पाप बहुत है और पुण्य अल्प है, वह बहुत पापकार्य गृहस्थको करने में लाभ नहीं है। जिसमें बहुत लाभ हो वही काम करना योग्य है। दीक्षा तो इन वस्तुओं से रहित है।। ४६।।

आगे फिर कहते हैं:––

धन–धान्य–पट, कंचन–रजत, आसन–शयन, छत्रादिनां
सर्वे कुदान विहीन छे, –दीक्षा कही आवी जिने। ४६।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४७।।

शत्रौ मित्रे च समा प्रशंसानिन्दाऽलब्धिलब्धिसमा।
तृणे कनके समभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता।। ४७।।

अर्थः––जिसमें शत्रु–मित्र में समभाव है, प्रशंसा–निन्दामें, लाभ–अलाभमें और तृण–कंचन में समभाव है। इसप्रकार प्रवज्या कही है।

भावार्थः––जैनदीक्षा में राग–द्वेषका अभाव है। शत्रु–मित्र, निन्दा–प्रशंसा, लाभ–अलाभ और तृण–कंचन में समभाव है। जैन मुनियों की दीक्षा इसप्रकार ही होती है।। ४७।।

आगे फिर कहते हैं:––

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४८।।

उत्तममध्यमगेहे दरिद्रे ईश्वरे निरपेक्षा।
सर्वत्र गृहितपिंडा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता।। ४८।।

अर्थः––उत्तम गेह अर्थात् शोभा सहित राजभवनादि और मध्यगेह अर्थात् जिसमें अपेक्षा नहीं है। शोभारहित सामान्य लोगोंका घर इनमें तथा दारिद्र–धनवान् इनमें निरपेक्ष अर्थात् इच्छारहित हैं, सब ही योग्य जगह पर आहार ग्रहण किया जाता है। इसप्रकार प्रवज्या कही है।

भावार्थः––मुनि दीक्षा सहित होते हैं और आहार लेने को जाते हैं तब इसप्रकार विचार नहीं करते हैं कि बड़े घर जाना अथवा छोटे घर वा दारिद्री के घर या धनवान के घर जाना, इसप्रकार वांछारहित निर्दोष आहारकी योग्यता हो वहाँ सब ही जगहसे योग्य आहार ले लेते हैं, इसप्रकार दीक्षा है।। ४८।।

निंदा–प्रशंसा, शत्रु–मित्र, अलब्धिने लब्धि विषे,
तृण–कंचने समभाव छे, –दीक्षा कही आवी जिने। ४७।

निर्धन–सधन ने उच्च–मध्यम सदन अनपेक्षितपणे
सर्वत्र पिंड ग्रहाय छे, –दीक्षा कही आवी जिने। ४८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

आगे फिर कहते हैं:--

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ४९।।

निर्ग्रंथा नि:संगा निर्मानाशा अरागा निर्द्वेषा।
निर्ममा निरहंकारा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता।। ४९।।

अर्थ:--कैसी है प्रवज्या? निर्ग्रंथअवरूप है, परिग्रह से रहित है, नि:संग अर्थात् जिसमें स्त्री परद्रव्यका संग-मिलाप नहीं है, जिसमें निर्माना अर्थात् मान कषाय भी नहीं नहीं है, मदरहित है, जिसमें आशा नहीं है, संसारभोग की आशारहित है, जिसमें अराग अर्थात् राग का अभाव है, संसार-देह-भोगों से प्रीति नहीं है, निर्देषा अर्थात् किसी से द्वेष नहीं है, निर्ममा अर्थात् किसी से ममत्व भाव नहीं है, निरहंकारा अर्थात् अहंकार रहित है, जो कुछ कर्मका उदय होता है वही होता है---इसप्रकार जानने से परद्रव्यमें कर्तृत्वका अहंकार नहीं रहता है और अपने स्वरूपका ही उसमें साधन है, इसप्रकार प्रवज्या कही है।

भावार्थ:--अन्यमती भेष पहिनकर उसी मात्रको दीक्षा मानते हैं वह दीक्षा नहीं है, जैन दीक्षा इसप्रकार कही है।। ४९।।

आगे फिर कहते हैं:--

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५०।।

निर्ग्रंथ ने नि:संग, निर्मानाश, निरहंकार छे,
निर्मम, अराग, अद्वेष छे, -दीक्षा कही आवी जिने। ४९।

नि: स्नेह, निर्भय, निर्विकार, अकलुष ने निर्मोह छे,
आशारहित, निर्लोभ छे, -दीक्षा कही आवी जिने। ५०।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निःस्नेहा निर्लोभा निर्मोहा निर्विकारा निःकलुषा।
निर्भया निराशभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता।। ५०।।

अर्थः––प्रवज्या कैसी है––निःस्नेहा अर्थात् जिसमें किसीसे स्नेह नहीं, जिसमें परद्रव्यसे रागादिरूप सच्चिक्कणभाव नहीं है, जिसमें निर्लोभा अर्थात् कुछ परद्रव्य के लेने की वांछा नहीं है, जिसमें निर्मोहा अर्थात् किसी परद्रव्य से मोह नहीं है, भूलकर भी परद्रव्य में आत्मबुद्धि नहीं होती है, निर्विकारा अर्थात् बाह्य–अभ्यंतर विकार से रहित है, जिसमें बाह्य शरीर की चेष्टा तथा वस्त्राभूषणादिकका अंग–उपांग विकार नहीं है, जिसमें अंतरंग काम – क्रोधादिकका विकार नहीं है। निःकलुषा अर्थात् मलिन भाव रहित हैं। आत्मा को कषाय मलिन करते हैं अतः कषाय जिसमें नहीं है। निर्भया अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का भय नहीं है, अपने स्वरूपको अविनाशी जाने उसको किसी का भय हो, जिसमें निराशभावा अर्थात् किसी प्रकार के परद्रव्य की आशा का भाव नहीं है, आशा तो किसी वस्तु की प्राप्ति न हो उसकी लगी रहती है परन्तु जहाँ परद्रव्य को अपना जाना ही नहीं और अपने स्वरूप की प्राप्ति हो गई तब कुछ प्राप्त करना शेष न रहा, फिर किसकी आशा हो? प्रवज्या इसप्रकार कही है।

भावार्थः––जैन दीक्षा ऐसी है। अन्यमत में स्व–पर द्रव्यका भेदविज्ञान नहीं है, उनके इसप्रकार दीक्षा कहाँ से हो।। ५०।।

आगे दीक्षा का बाह्य स्वरूप कहते हैं:–––

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५१।।

यथाजातरूपसदृशी अवलंबितभुजा निरायुधा शांता।
परकृतनिलयनिवासा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता।। ५१।।

अर्थः–– कैसी है प्रवज्या? यथाजातरूपसदृशी अर्थात् जैसा जन्म होते ही बालकका नग्नरूप होता है वैसा ही नग्न उसमें है। अवलंबिताभुजा अर्थात् जिसमें भुजा लंबायमान की है, जिसमें बाहुल्य अपेक्षा कायोत्सर्ग रहना होता है, निरायुध अर्थात् आयुधोंसे रहित है, शांता अर्थात् जिसमें अंग–उपांग के विकार रहित शांतमुद्रा होती

जन्म्या प्रमाणे रूप, लंबितभुज, निरायुध, शांत छे,
परकृत निलयमां वास छे, –दीक्षा कही आवी जिने। ५१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। परकृतनिलयनिवास अर्थात् जिसमें दूसरे का बनाया निलय जो वास्तिका आदि उसमें निवास होता है, जिसमें अपने को कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन, काय द्वारा दोष न लगा हो ऐसी दूसरे की बनाई हुई वास्तिका आदि में रहना होता है––ऐसी प्रवज्या कही है।

भावार्थः––अन्यमती कई लोग बाह्य में वस्त्रादिक रखते हैं, कई अयुध रखते हैं, कई सुखके लिये आसन चलाचल रखते हैं, कई उपाश्रय आदि रहने का निवास बना कर उसमें रहते हैं और अपने को दीक्षा सहित मानते हैं, उनके भेष मात्र है, जैन दीक्षा तो जैसी कही वैसी ही है।। ५१।।

आगे फिर कहते हैं:––

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसंकार वज्जिया रुक्खा।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५२।।

उपशमक्षमदमयुक्ता शरीर संस्कार वर्जिता रूक्षा।
मदरागदोषरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता।। ५२।।

अर्थः––कैसी है प्रवज्या? उपशमक्षमदमयुक्ता अर्थात् उपशम तो मोहकर्मके उदयका अभावरूप शांतपरिणाम और क्षमा अर्थात् क्रोधका अभावरूप उत्तमक्षमा तथा दम अर्थात् इन्द्रियोंको विषयों में नहीं प्रवर्ताना–––इन भावोंसे युक्त है, शरीर संस्कार वर्जिता अर्थात् स्नानादि द्वारा शरीर को सजाना इससे रहित है, जिसमें रूक्ष अर्थात् तेल आदिका मर्दन शरीरके नहीं है। मद, राग, द्वेष रहित है, इसप्रकार प्रवज्या कही है।

भावार्थः––अन्यमतके भेषी क्रोधादिरूप परिणमते हैं, शरीरको सजाकर सुन्दर रखते हैं, इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करते हैं और अपने को दीक्षासहित मानते हैं, वे तो गृहस्थके समान हैं, अतीत (यति) कहलाकर उलटे मिथ्यात्वको दृढ़ करते हैं; जैन दीक्षा इसप्रकार है वही सत्यार्थ है, इसको अंगीकार करते हैं वे ही सच्चे अतीत (यति) हैं।। ५२।।

आगे फिर कहते हैं:––

उपशम–क्षमा–दमयुक्त, तनसंस्कारवर्जित रूक्ष छे,
मद–राग–द्वेषविहीन छे, –दीक्षा कही आवी जिने। ५२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५३।।

विपरीतमूढभावा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा।
सम्यक्त्वगुणविशुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता।। ५३।।

अर्थ:––कैसी है प्रवज्या?––––कि जिसके मूढ़भाव, अज्ञानभाव विपरीत हुआ है अर्थात् दूर हुआ है। अन्यमती आत्मा का स्वरूप सर्वथा एकांतसे अनेकप्रकार भिन्न–भिन्न कहकर वाद करते हैं, उनके आत्मा के स्वरूप में मूढ़भाव है। जैन मुनियोंके अनेकांतसे सिद्ध किया हुआ यथार्थ ज्ञान है इसलिये मूढ़भाव नहीं है। जिसमें आठ कर्म और मिथ्यात्वादि प्रणष्ट हो गये हैं, जैनदीक्षामें अतत्त्वार्थश्रद्धानरूप मिथ्यात्वका अभाव है, इसलिये सम्यक्त्व नामक गुण द्वारा विशुद्ध हैं, निर्मल हैं, सम्यक्त्वसहित दीक्षा में दोष नहीं रहता; इसप्रकार प्रवज्या कहीं है।। ५३।।

आगे फिर कहते हैं:––

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंहणणेसु भणिय णिग्गंथा।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया।। ५४।।

जिनमार्गे प्रव्रज्या षट्संहननेषु भणिता निर्ग्रंथा।
भावयंति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता।। ५४।।

अर्थ:––प्रवज्या जिनमार्ग में छह संहननवाले जीवके होना कहा है, निर्ग्रन्थ स्वरूप है, सब परिग्रहसे रहित यथाजातस्वरूप है। इसकी भव्यपुरुष ही भावना करते हैं। इसप्रकारकी प्रवज्या कर्मके क्षयका कारण कही है।

भावार्थ:––वज्रऋषभनाराच आदि छह शरीरके संहनन कहें हैं, उनमें सब में ही दीक्षा होना कहा है, जो भव्य पुरुष हैं वे कर्मक्षयका कारण जानकर इसको अंगीकार करो। इसप्रकार नहीं है कि दृढ़ संहनन वज्रऋषभ आदि हैं उनमें ही दीक्षा हो और असंसृपाटिक संहननमें न हो, इसप्रकार निर्ग्रंथरूप दीक्षा तो असंप्राप्तासृपाटिका

ज्यां मूढता–मिथ्यात्व नहि, ज्यां कर्म अष्ट विनष्ट छे,
सम्यक्त्वगुणथी शुद्ध छे, –दीक्षा कही आवी जिने। ५३।

निर्ग्रंथ दीक्षा छे कही षट् संहननमां जिनवरे;
भवि पुरुष भावे तेहने; ते कर्मक्षयनो हेतु छे। ५४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संहनन में भी होती है।। ४४।।

आगे फिर कहते हैं:---

तिलतुसमत्तणिमित्तसम बाहिरग्गंथसंगहो णत्थि।
पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहिं।। ५५।।

तिलतुषमात्रनिमित्तसमः बाह्यग्रंथसंग्रहः नास्ति।
प्रव्रज्या भवति एषा यथा भणिता सर्वदर्शिभिः।। ५५।।

अर्थः---जिस प्रवज्या में तिलके तुष मात्रके संग्रह का कारण---ऐसे भावरूप इच्छा अर्थात् अंतरंग परिग्रह और उस तिलके तुषमात्र बाह्य परिग्रहका संग्रह नहीं है इस प्रकार की प्रवज्या जिसप्रकार सर्वज्ञदेव ने कही है उसीप्रकार है, अन्यप्रकार प्रवज्या नहीं है ऐसा नियम जानना चाहिये। श्वेताम्बर आदि कहते हैं कि अपवादमार्ग में वस्त्रादिकका संग्रह साधु को कहा है वह सर्वज्ञके सूत्र में तो नहीं कहा है। उन्होंने कल्पित सूत्र बनाये हैं उनमें कहा है वह कालदोष है।। ५५।।

आगे फिर कहते हैं:---

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च [१]अत्थइ।
सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ।। ५६।।

उपसर्गपरीषहसहा निर्जनदेशे हि नित्यं तिष्ठति।
शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति सर्वत्र।। ५६।।

---

१ पाठान्तर – अच्छेइ।

तलतुषप्रमाण न बाह्य परिग्रह, राग तत्सम छे नहीं;
–आवी प्रव्रज्या होय छे सर्वज्ञजिनदेवे कही। ५५।

उपसर्ग–परिषह मुनि सहे, निर्जन स्थळे नित्ये रहे,
सर्वत्र काष्ठ, शिला अने भूतल उपर स्थिति ते करे। ५६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ:––उपसर्ग अथवा देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत उपद्रव और परीषह अर्थात् दैव–कर्मयोगसे आये हुए बाईस परीषहोंको समभावोंसे सहना इसप्रकार प्रवज्यासहित मुनि हैं, वे जहाँ अन्य जन नहीं रहते ऐसे निर्जन वनादि प्रदेशोंमें सदा रहते हैं, वहाँ भी शिलातल, काष्ठ, भूमितलमें रहते हैं, इन सब ही प्रदेशोंमें बैठते हैं , सोते हैं, 'सर्वत्र' कहने से वन में रहें और किंचित्कालनगर में रहें तो ऐसे ही स्थान पर रहें।

भावार्थ:––जैनदीक्षा वाले मुनि उपसर्ग–परीषहों में समभाव रखते हैं, और जहाँ सोते हैं, बैठते हैं, वहाँ निर्जन प्रदेश में शिला, काष्ठ, भूमिमें ही बैठते हैं, इसप्रकार नहीं है कि अन्यमन भेषीवत् स्वच्छन्दी प्रमादी रहें, इसप्रकार जानना चाहिये।। ५६ ।।

आगे अन्य विशेष कहते हैं:––

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५७।।

पशुमहिलाषंढसंगं कुशीलसंगं न करोति विकथा:।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता प्रव्रश्या ईदृशी भणिता।। ५७।।

अर्थ:––जिस प्रवज्या में पशु–तिर्यंच, महिला (स्त्री), षंढ (नपुन्सक), इनका संग तथा कुशील (व्यभिचारी) पुरुष का संग नहीं करते हैं; स्त्री कथा, राजा कथा, भोजन कथा और चोर इत्यादि की कथा जो विकथा है उनको नहीं करते हैं, तो क्या करते हैं? स्वाध्याय अर्थात् शास्त्र – जिनवचनोंका पठन–पाठन और ध्यान अर्थात् धर्म – शुक्ल ध्यान इनसे युक्त रहते हैं। इसप्रकार प्रवज्या जिनदेवने कही है।

भावार्थ:––जिनदीक्षा लेकर कुसंगति करे, विकथादिक करे और प्रमादी रहे तो दीक्षा का अभाव हो जाये, इसलिये कुसंगति निषिद्ध है। अन्य भेषकी तरह यह भेष नहीं है। यह मोक्ष मार्ग है, अन्य संसारमार्ग हैं।। ५७।।

आगे फिर विशेष कहते हैं:–––

स्त्री–षंढ–पशु–दु:शीलनो नहि संग, नहि विकथा करे,
स्वाध्याय–ध्याने युक्त छे, –दीक्षा कही आवी जिने। ५७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।। ५८।।

तपोव्रतगुणैः शुद्धा संयमसम्यक्त्वगुणविशुद्धा च।
शुद्धा गुणैः शुद्धा प्रव्रज्या ईदशी भणिताः।। ५८।।

अर्थः––जिनदेव ने प्रवज्या इसप्रकार कही है कि–––तप अर्थात् बाह्य – अभ्यंतर बारह प्रकार के तप तथा व्रत अर्थात् पाँच महाव्रत और गुण अर्थात् इनके भेदरूप उत्तरगुणोंसे शुद्ध है। 'संयम' अर्थात् इन्द्रिय – मनका निरोध, छहकायके जीवोंकी रक्षा, 'सम्यक्त्व' अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण निश्चय–व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन तथा इनके 'गुण' अर्थात् मूलगुणों से शुद्धा, अतिचार रहित निर्मल है और जो प्रवज्या के गुण कहे उनसे शुद्ध है, भेषमात्र ही नहीं है; इसप्रकार शुद्ध प्रवज्या कही जाती है। इन गुणोंके बिना प्रवज्या शुद्ध नहीं है।

भावार्थः––तप व्रत सम्यक्त्व इन सहित और जिनमें इनके मूलगुण तथा अतिचारोंका शोधन होता है इसप्रकार दीक्षा शुद्ध है। अन्यवादी तथा श्वेताम्बर आदि चाहे – जैसे कहते हैं वह दीक्षा शुद्ध नहीं है।। ५८।।

आगे प्रवज्या के कथन का संकोच करेत हैं:–––

एवं [१]आयत्तणगुणपज्जंत्ता बहुविसुद्ध सम्मत्ते।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहारवादं।। ५९।।

एवं [२]आयतनगुणपर्याप्ता बहुविशुद्धसम्यक्त्वे।
निर्ग्रंथे जिनमार्गे संक्षेपेण यथाख्यातम्।। ५९।।

---

१ पाठान्तरः ––आयात्तणगुणपव्वज्जंता।
२ संस्कृत सटीक प्रति में 'आयतन' इसकी सं० 'आत्मत्व' इसप्रकार है।

तपव्रतगुणोथी शुद्ध, संयम–सुदृगगुणसुविशुद्ध छे,
छे गुणविशुद्ध, –सुनिर्मळा दीक्षा कही आवी जिने। ५८।

संक्षेपमां आयतनथी दीक्षांत भाव अहीं कह्या,
ज्यम शुद्ध सम्यग्दरशयुत निर्ग्रंथ जनपथ वर्णव्या। ५९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––इसप्रकार पूर्वोक्त प्रकार से आयतन अर्थात् दीक्षा का स्थान जो निर्ग्रंथ मुनि उसके गुण जितने हैं उनसे पज्जता अर्थात् परिपूर्ण अन्य भी जो बहुतसे गुण दीक्षामें होने चाहिये वे गुण जिसमें हों इसप्रकार की प्रवज्या जिनमार्ग में प्रसिद्ध है। उसीप्रकार संक्षेपसे कही है। कैसा है जिनमार्ग? जिसमें सम्यक्त्व विशुद्ध है, जिसमें अतीचार रहित सम्यक्त्व पाया जाता है और निर्ग्रंथरूप है अर्थात् जिसमें बाह्य अंतरंग –परिग्रह नहीं है।

भावार्थः––इसप्रकार पूर्वोक्त प्रवज्या निर्मल सम्यक्त्वसहित निर्ग्रंथरूप जिनमार्गमें कही है। अन्य नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, मीमांसक, पातंजलि और बौद्ध आदिक मतमें नहीं है। कालदोषसे भ्रष्ट हो गये और जैन कहलाते हैं इसप्रकारके श्वेताम्बरादिकोंमें भी नहीं है।। ५९।।

इसप्रकार प्रवज्याके स्वरूपका वर्णन किया।

आगे बोधपाहुडको संकोचते हुए आचार्य कहते हैं:––

रुवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
भव्वजणबोहणत्थं छक्काय हियंकरं उत्तं।। ६०।।

रूपस्थं शुद्धयर्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितम्।
भव्यजन बोधनार्थं षट्कायहितंकरं उक्तम्।। ६०।।

अर्थः––जिसमें अंतरंग भावरूप अर्थ शुद्ध है और ऐसा ही रूपस्थ अर्थात् बाह्यस्वरूप मोक्षमार्ग जैसा जिनमार्गमें जिनदेवने कहा है वैसा छहकायके जीवोंका हित करने वाला मार्ग भव्यजीवोंके संबोधनके लिये कहा है। इसप्रकार आचार्य ने अपना अभिप्राय प्रकट किया है।

भावार्थः––इस बोधपाहुड में आयतन आदि से लेकर प्रवज्यापर्यन्त ग्यारह स्थल कहे। इनका बाह्य–अन्तरंग स्वरूप जैसे जिनदेवने जिनमार्गमें कहा वैसे ही कहा है। कैसा है यह रूप – छहकायके जीवोंका हित करने वाला है, जिसमें एकेन्द्रिय आदि असैनी पर्यन्त जीवोंकी रक्षाका अधिकार है, सैनी पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा भी कराता है

रूपस्थ सुविशुद्धार्थ वर्णन जिनपथे ज्यम जिन कर्युं,
त्यम भव्यजनबोधन अरथ षट्कायहितकर अहीं कह्युं। ६०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और मोक्षमार्गका उपदेश करके संसारका दुःख मेटकर मोक्षको प्राप्त कराता है, इसप्रकारका मार्ग (–उपाय) भव्यजीवों के संबोधनेके लिये कहा है। जगत के प्राणी अनादि से लगाकर मिथ्यामार्गमें प्रवर्तनकर संसारमें भ्रमण करते हैं, इसलिये दुःख दूर करने के लिये आयतन आदि ग्यारह स्थान धर्मके ठिकानेका आश्रय लेते हैं; अज्ञानी जीव इस स्थान पर अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनसे सुख लेना चाहते हैं, किन्तु यथार्थ के बिना सुख कहाँ? इसलिये आचार्य दयालु होकर जैसे सर्वज्ञने कहे वैसे ही आयतन आदिका स्वरूप संक्षेपसे यथार्थ कहा है? इसको बाँचों, पढ़ो, धारण करो और इसकी श्रद्धा करो। इसके अनुसार तद्रूप प्रवृत्ति करो। इसप्रकार करने से वर्तमानमेह सुखी रहो और आगामी संसारदुःख से छूट कर परमानन्दस्वरूप मोक्षको प्राप्त करो। इसप्रकार आचार्य का कहने का अभिप्राय है।

यहाँ कोई पूछे ––इस बोधपाहुड में व्यवहारधर्म की प्रवृत्तिके ग्यारह स्थान कहे। इनका विशलेषण किया कि–––ये छहकायके जीवों के हित करने वाले हैं। किन्तु अन्यमती इनको अन्यथा स्थापित कर प्रवृत्त करते हैं वे हिंसा रूप हैं और जीवोंके हित करने वाले नहीं हैं। ये ग्यारह ही स्थान संयमी मुनि और अरहन्त, सिद्ध को ही कहें हैं। ये तो छह कायके जीवोंके हित करने वाले ही हैं इसलिये पूज्य हैं। यह तो सत्य है, और जहाँ रहते हैं इसप्रकार आकाश के प्रदेशरूप क्षेत्र तथा पर्वतकी गुफा, वनादिक तथा अकृत्रिम चैत्यालय ये स्वयमेव बनें हुए हैं, उनको भी प्रयोजन और निमित्त विचार कर उपचारमात्र से छहकाय के जीवों के हित करने वाले कहें तो विरोध नहीं हैं, क्योंकि ये प्रदेश जड़ हैं, ये बुद्धिपूर्वक किसी का भला बुरा नहीं करते हैं तथा जड़ को सुख–दुःख आदि फलका अनुभव नहीं है, इसलिये ये भी व्यवहार से पूज्य हैं, क्योंकि अरहंतादिक जहाँ रहते हैं वे क्षेत्र–निवास आदिक प्रशस्त हैं, इसलिये उन अरहंतादिके आश्रय से ये क्षेत्रादिक भी पूज्य हैं; परन्तु प्रश्न –गृहस्थ जिनमंदिर बनावे, वस्तिका, प्रतिमा बनावे और प्रतिष्ठा पूजा करे उसमें तो छहकायके जीवोंकी विराधना होती है, यह उपदेश और प्रवृत्ति की बाहुल्यता कैसे है?

इसका समाधान इसप्रकार है कि–––गृहस्थ अरहन्त, सिद्ध, मुनियोंका उपासक है; ये जहाँ साक्षात् हों वहाँ तो उनकी वंदना, पूजन करता ही है। जहाँ ये साक्षात् न हों वहाँ परोक्ष संकल्प कर वंदना – पूजन करता है तथा उनके रहनेका क्षेत्र तथा ये मुक्त हुए क्षेत्र में तथा अकृत्रिम चैत्यालय में उनका संकल्प कर वंदना व पूजन करता है। इसमें अनुरागविशेष सूचित होता है; फिर उनकी मुद्रा, प्रतिमा तदाकार बनावे और उसको मंदिर बनाकर प्रतिष्ठा कर स्थापित करे तथा नित्य पूजन करे इसमें अत्यन्त अनुराग सूचित होता है, उस अनुरागसे विशिष्ट पुण्यबन्ध होता है और उस मन्दिरमें छहकायके जीवोंके हितकी रक्षाका उपदेश होता है तथा निरन्तर सुनने वाले और धारण करने वाले अहिंसा धर्म की श्रद्धा दृढ़ होती है, तथा उनकी तदाकार प्रतिमा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखने वाले के शांत भाव होते हैं, ध्यानकी मुद्राका स्वरूप जाना जाता है और वीतरागधर्मसे अनुराग विशेष होनेसे पुण्यबन्ध होता है, इसलिये इनको भी छहकायके जीवोंका हित करनेवाले उपचारसे कहते हैं।

जिनमन्दिर वस्तिका प्रतिमा बनाने में तथा पूजा–प्रतिष्ठा करने में आरम्भ होता है, उसमें कुछ हिंसा भी होती है। ऐसा आरम्भ तो गृहस्थका कार्य है, इसमें गृहस्थको अल्प पाप कहा, पुण्य बहुत कहा है, क्योंकि गृहस्थके पदमें न्यायकार्य करके न्यायपूर्वक धन उपार्जन करना, रहनेके लिये मकान बनवाना, विवाहादिक करना और बलपूर्वल आरम्भ कर अहारादिक स्वयं बनाना तथा खाना इत्यादिक यद्यपि हिंसा होती है तो भी गृहस्थको इसका महापाप नहीं कहा जाता है। गृहस्थके तो महापाप मिथ्यात्वका सेवन करना, अन्याय, चोरी आदिमें धन उपार्जन करना, त्रस जीवोंको मारकर मांस खाना और परस्त्री–सेवन करना ये महापाप हैं।

गृहस्थाचार छोड़कर मुनि हो जावे तब गृहस्थके न्यायकार्य भी अन्याय ही हैं। मुनिके भी आहार आदिकी प्रवृत्तिमें कुछ हिंसा होती है उससे मुनि को हिंसक नहीं कहा जाता है, वैसे ही गृहस्थके न्यायपूर्वक अपने पदके योग्य आरंभके कार्योंमें अल्प पाप ही कहा जाता है, इसलिये जिनमंदिर, वस्तिका और पूजा–प्रतिष्ठा के कार्योंमें आरम्भका अल्प पाप है; मोक्षमार्ग में प्रवर्तने वालोंसे अति अनुराग होता है और उनकी प्रभावना करते हैं, उनको आहारदानादिक देते हैं और उनका वैयावृत्यादि करते हैं। ये सम्यक्त्वके अंग हैं और महान पूण्य के कारण हैं, इसलिये गृहस्थको सदा ही करना योग्य है। और गृहस्थ होकर ये कार्य न करे तो ज्ञात होता है कि इसके धर्म अनुराग विषेश नहीं है।

प्रश्नः———गृहस्थको जिसके बिना चले नहीं इसप्रकार के कार्य तो करना ही पड़े और धर्मपद्धति में आरम्भका कार्य करके पाप क्यों मिलावे, सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रौषध आदि करके पुण्य उपजावे। उसको कहते हैं———यदि तुम इसप्रकार कहो तो तुम्हारे परिणाम तो इस जाति के हैं नहीं, केवल **बाह्यक्रिया मात्र में ही पुण्य समझते हो**। बाह्य में बहु आरम्भी परिग्रही का मन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि निरारंभ कार्यों में विशेषरूपसे लगता नहीं है यह अनुभवगम्य है, तुम्हारे अपने भावोंका अनुभव नहीं है; केवल बाह्य सामायिकादि निरारंभ कार्योंका भेष धारण कर बैठो तो कुछ विशिष्ट पुण्य नहीं है, शरीरादिक बाह्य वस्तु तो जड़ हैं, केवल जड़ की क्रियाका फल तो आत्मा को मिलता नहीं है। अपने भाव जितने अंश में बाह्यक्रिया में लगें उतने अंश में शुभाशुभ फल अपने को लगता है; इसप्रकार विशिष्ट पुण्य तो भावोंके अनुसार है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आरंभी – परिग्रही के भाव तो पूजा, प्रतिष्ठादिक बड़े अरंभ में ही विशेष अनुराग सहित लगते हैं। जो गृहस्थाचार के बड़े अरम्भ से विरक्त होगा सो उसे त्यागकर अपना पद बढ़ावेगा, जब गृहस्थाचार के बड़े आरंभ छोड़ेगा तब उसी तरह धर्मप्रवृत्तिके बड़े आरम्भ पद के अनुसार घटावेगा। मुनि होगा तब आरम्भ क्यों करेगा? अतः तब तो सर्वथा आरम्भ नहीं करेगा, इसलिये मिथ्यादृष्टि बाह्यबुद्धि जो बाह्य कार्यमात्र ही को पुण्य – पाप मोक्षमार्ग समझते हैं उनका उपदेश सुन कर अपने को अज्ञानी नहीं होना चाहिये। पुण्य – पापके बंधमें शुभाशुभ ही प्रधान हैं और पुण्य–पापरहित मोक्षमार्ग है, उसमें सम्यग्दर्शनादिकरूप आत्मपरिणाम प्रधान है। [हेयबुद्धि सहित] धर्मानुराग मोक्षमार्ग का सहकारी है और (आंशिक वीतराग भाव सहित) धर्मानुराग के तीव्र – मंदके भेद बहुत हैं, इसलिये अपने भावोंको यथार्थ पहिचानकर अपनी पदवी, सामर्थ्य पहिचान – समझकर श्रद्धान–ज्ञान और उसमें प्रवृत्ति करना; **अपना भला - बुरा अपने भावों के आधीन है**, बाह्य परद्रव्य तो निमित्त मात्र है, उपादान कारण हो तो निमित्त भी सहकारी हो और उपादान न हो तो निमित्त कुछ भी नहीं करता है, इसप्रकार इस बोधपाहुड का आशय जानना चाहिये।

इसको अच्छी तरह समझकर आयतनादिक जैसे कहे वैसे और इनका व्यवहार भी बाह्य वैसी ही तथा चैत्यगृह, प्रतिमा, जिनबिंब, जिनमुद्रा आदि धातु – पाषाणादिकका भी व्यवहार वैसा ही जानकर श्रद्धान और प्रवृत्ति करनी। अन्यमति अनेक प्रकार स्वरूप बिगाड़ कर प्रवृत्ति करते हैं उनकी बुद्धि कल्पित जानकर उपासना नहीं करनी। इस द्रव्यव्यवहार का प्ररूपण प्रवज्या के स्थल में आदि से दूसरी गाथा में बिंब[१] चैत्यालयत्रिक और जिनभवन ये भी मुनियोंके ध्यान करने योग्य हैं इसप्रकार कहा है सो गृहस्थ जब इसकी प्रवृत्ति करते हैं यह ये मुनियोंके ध्यान करने योग्य होते हैं; इसलिये जो जिनमन्दिर, प्रतिमा, पूजा, प्रतिष्ठा आदिक के सर्वथा निषेध करने वाले वह सर्वथा एकान्तीकी तरह मिथ्यादृष्टि हैं, उनकी संगति नहीं करना। [मूलाचार पृ० ४९२ अ० १० गाथा ९६ में कहा है कि '' श्रद्धा भ्रष्टोंके संपर्ककी अपेक्षा (गृह में) प्रवेच करना अच्छा है क्योंकि विवाह में मिथ्यात्व नहीं होगा, परन्तु ऐसे गण तो सर्व दोषोंके आकर हैं उसमें मिथ्यात्वादि दोष उत्पन्न होते हैं अतः इनसे अलग रहना ही अच्छा है '' ऐसा उपदेश है]

---

१ गाथा २ में बिंबकी जगह 'वच' ऐसा पाठ है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे आचार्य इस बोधपाहुड का वर्णन अपनी बुद्धि कल्पित नहीं है, किन्तु पूर्वाचार्यों के अनुसार कहा है इसप्रकार कहते हैं:—

सद्दविचारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कह्यिं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स।। ६१।।

शब्दविकारो भूतः भाषासूत्रेषु यज्जिनेन कथितम्।
तत् तथा कथितं ज्ञातं शिष्येण च भद्रबाहोः।। ६१।।

अर्थः—शब्दके विकार से उत्पन्न हुए इसप्रकार अक्षररूप परिणाम से भाषा सूत्रों में जिनदेवने कहा, वही श्रवण में आक्षररूप आया और जैसा जिनदेव ने कहा वैसा ही परम्परासे भद्रबाहुनामक पंचम श्रुतकेवली ने जाना और अपने शिष्य विशाखाचायर आदि को कहा। वह उन्होंने जाना वही अर्थरूप विशाखाचार्य की परम्परा से चला आया। वही अर्थ आचार्य कहते हैं, हमने कहा है, वह हमारी बुद्धि से कल्पित करके नहीं कहा गया है, इसप्रकार अभिप्राय है ।। ६१।।

---

२ विशाखाचार्य——मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के दीक्षाकाल में दिया हुआ नाम है।

जिनकथन भाषासूत्रमय शाब्दिक–विकाररूपे थयुं;
ते जाण्युं शिष्ये भद्रबाहु तणा अने अेम ज कह्युं। ६१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे भद्रबाहु स्वामी की स्तुतिरूप वचन कहते हैं:---

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ।। ६२।।

द्वादशांगविज्ञानः चतुर्दशपूर्वांग विपुलविस्तरणः।
श्रुतज्ञानिभद्रबाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु।। ६२।।

अर्थः---भद्रबाहु नाम आचार्य जयवंत होवें, कैसे हैं? जिनको बारह अंगोंका विशेष ज्ञान हैं, जिनको चौदह पूर्वोंका विपुल विस्तार है इसीलिये श्रुतज्ञानी हैं। पूर्व भावज्ञान सहित अक्षरात्मक श्रुतज्ञान उनके था, 'गमक गुरु' हैं, जो सूत्र के अर्थ को प्राप्त कर उसी प्रकार वाक्यार्थ करे उसको 'गमक' कहते हैं, उनके भी गुरुओं में प्रधान हैं, भगवान हैं------ सुरासुरों से पूज्य हैं, वे जयवंत होंवें। इसप्रकार कहने में उनको स्तुतिरूप नमस्कार सूचित है। 'जयति' धातु सर्वोत्कृष्ट अर्थ में है वह सर्वोत्कृष्ट कहेन से ही नमस्कार आता है।

भावार्थः---भद्रबाहुस्वामी पंचम श्रुतकेवली हुए। उनकी परम्परा से शास्त्रका अर्थ जानकर यह बोधपाहुड ग्रन्थ रचा गया है, इसलिये उनको अंतिम मंगल के लिये आचार्य ने स्तुतिरूप नमस्कार किया है। इसप्रकार बोधपाहुड समाप्त किया है।। ६२।।

जय बोध द्वादश अंगनो, चउदशपूरव-विस्तारनो,
जय हो श्रुतंधर भद्रबाहु गमकगुरु भगवाननो। ६२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

छप्पय

प्रथम आयतन[१] दुतिय चैत्यगृह[२] तीक्ष प्रतिमा[३]।
दर्शन[४] अर जिनबिंब[५] छठो जिनमुद्रा[६] यतिमा।।
ज्ञान[७] सातमूं देव[८] आठमूं नवमूं तीरथ[९]।
दसमूं है अरहंत[१०] ग्यारमूं दीक्षा[११] श्रीपथ।।
इम परमारथ मुनिरूप सति अन्यभेष सब निंद्य है।
व्यवहार धातुपाषाणमय आकृति इनिकी वंद्य है।।१।।

दोहा

भयो वीर जिनबोध यहु, गौतमगणधर धारि।
वरतायो *पंचमगुरु[१], नमुं तिनहिं मद छारि।। २।।

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामी विरचित बोधपाहुडकी
जयपुरानिवासी पं० जयचन्द्रछाबड़ा कृत
देशभाषामयवचनिका समाप्त ।। ४।।

---

* पंचमगुरु – पांचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 भावपाहुड 卐

卐 --५-- 卐

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

आगे भावपाहुड की वचनिका लिखते हैं:---

दोहा

परमात्मकूं वंदिकरि शुद्धभावकरतार।
करूँ भावपाहुडतणीं देशवचनिका सार।। १।।

इसप्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत भावपाहुडकी गाथाबद्ध देशभाषा वचनिका लिखते हैं। प्रथम आचार्य नमस्काररूप मंगल करके ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा का सूत्र कहते हैं:----

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे।
वोच्छामि भावपाहुडमयसेसे संजदे सिरसा।। १।।

नमस्कृत्य जिनवरेन्द्रान् नरसुरभवनेन्द्रवंदितान् सिद्धान्।
वक्ष्यामि भायप्राभृतमवशेषान् संयतान् शिरसा।। १।।

अर्थ:---आचार्य कहते हैं कि मैं भावपाहुड नामक ग्रन्थको कहूँगा। पहिले क्या करके? **जिनवरेन्द्र** अर्थात् तीर्थंकर परमदेव तथा **सिद्ध** अर्थात् अष्टकर्मका नाश करके सिद्धपद को प्राप्त हुए और **अवशेष संयत** अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इसप्रकार पंचपरमेष्ठी को मस्तक से वंदना करके कहूँगा। कैसे हैं पंचपरमेष्ठी? नर अर्थात् मनुष्य, सुर अर्थात् स्वगरवासीदेव, भवनेन्द्र अर्थात् पातालवासी देव, --इनके इन्द्रोंके द्वारा वंदने योग्य हैं।

सुर--असुर--नरपतिवंद्य जिनवर--इन्द्रने, श्री सिद्धने,
मुनि शेषने शिरसा नमी कहुं भावप्राभृत--शास्त्रने। १।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––आचार्य 'भावपाहुड' ग्रन्थ बनाते हैं; वह भावप्रधान पंचपरमेष्ठी हैं, उनको आदि में नमस्कार युक्त है, क्योंकि **जिनवरेन्द्र** तो इसप्रकार हैं–––**जिन** अर्थात् गुण श्रेणी निर्जरा युक्त इसप्रकार के अविरत सम्यग्दृष्टि आदिको में **वर** अर्थात् श्रेष्ठ ऐसे गणधरादिकोंमें **इन्द्र** तीर्थंकर परमदेव हैं, वह गुणश्रेणी निर्जरा शुभभाव से ही होती है। वे तीर्थंकरभावके फलको प्राप्त हुए, घातिकर्मका नाश कर केवलज्ञानको प्राप्त किया, उसीप्रकार सर्व कर्मोंका नाश कर, परमशुद्धभावको प्राप्त कर सिद्ध हुए, आचार्य, उपाध्याय शुद्धभावके एकदेशको प्राप्त कर पूर्णताको स्वयं साधते हैं तथा अन्यको शुद्धभावकी दीक्षा–शिक्षा देते हैं, इसीप्रकार साधु हैं वे भी शुद्धभावको स्वयं साधते हैं और शुद्धभावकी महिमा से तीनलोकके प्राणियों द्वारा पूजने योग्य वंदने योग्य हैं, इसलिये 'भावप्राभृत' के आदिमें इनको नमस्कार युक्त है। मस्तक द्वारा नमस्कार करनेमें सब अंग आ गये, क्योंकि मस्तक सब अंगों में उत्तम है। स्वयं नमस्कार किया तब अपने भावपूर्वक ही हुआ, तब 'मन–वचन–काय' तीनों ही आ गये, इसप्रकार जानना चाहिये ।। १।।

आगे कहते हैं कि लिंग द्रव्य–भावके भेद से दो प्रकार का है, इनमें भावलिंग परमार्थ है:––

भावो हि पढमलिंग ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं।
भावो कारण भूदो गुणदोसाणं जिणा [१]बेन्ति।। २।।

भावः हि प्रथमलिंगं न द्रव्यलिंग च जानीहि परमार्थम्।
भावो कारणभूतः गुणदोषाणां जिना [२]ब्रुवन्ति।। २।।

अर्थः––भाव प्रथम लिंग है, इसलिये हे भव्य! तू द्रव्यलिंग है उसको परमार्थरूप मत जान, क्योंकि गुण और दोषोंका कारणभूत भाव ही है, इसप्रकार जिन भगवान कहते हैं।

---

१ पाठान्तरः ––विन्ति।
२ पाठान्तरः ––विदन्ति।

छे भाव परथम लिंग, द्रवमय लिंग नहि परमार्थ छे;
गुणदोषनुं कारण कह्यो छे भावने श्री जिनवरे। २।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––गुण जो स्वर्ग–मोक्षका होना और दोष अर्थात् नरकादिक संसार का होना इनका कारण भगवानने भावोंको ही कहा है, क्योंकि कारण कार्यके पहिले होता है। यहाँ मुनि – श्रावकले द्रव्यलिंगके पहिले भावलिंग अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव हो तो सच्चा मुनि – श्रावक होता है, इसलिये भावलिंग ही प्रधान है वही परमार्थ है, इसलिये द्रव्यलिंगको परमार्थ न जानना, इसप्रकार उपदेश किया है।

यहाँ कोई पूछे–––भावस्वरूप क्या है? इसका समाधान–––भावका स्वरूप तो आचार्य आगे कहेंगे तो भी यहाँ भी कुछ कहते हैं–––इस लोक में छह द्रव्य हैं, इनमें जीव पुद्गलका वर्तन प्रकट देखने में आता है–––जीव चेतनास्वरूप है और पुद्गल स्पर्श, रस, गंध और वर्णरूप जड़ है। इनकी अवस्था से अवस्थान्तररूप होना ऐसे परिणाम को 'भाव' कहते हैं। जीव का स्वभाव – परिणामरूप भाव तो दर्शन–ज्ञान है और पुद्गल कर्मके निमित्त से ज्ञान में मोह–राग–द्वेष होना 'विभाव भाव' हैं। पुद्गल के स्पर्श से स्पर्शान्तर, रससे रसांतर इत्यादि गुणोंसे गुणांतर होना 'स्वभावभाव' है और परमाणुसे स्कंध होना तथा स्कंधसे अन्य स्कंध होना और जीवके भावके निमित्त से कर्मरूप होना ये 'विभावभाव' हैं। इसप्रकार इनके परस्पर निमित्त–नैमित्तिक भाव होते हैं।

पुद्गल तो जड़ है, इसके नैमित्तिक भाव से कुछ सुख–दुःख आदि नहीं हैं और जीव चेतन है, इसके निमित्त से भाव होते हैं अतः जीव को स्वभाव भावरूप रहनेका और नैमित्तिक भावरूप न प्रवर्तने का उपदेश है। जीवके पुद्गल कर्मके संयोग से देहादिक द्रव्यका सम्बन्ध है, –––इस बाह्यरूप को द्रव्य कहते हैं, और 'भाव' से द्रव्य की प्रवृत्ति होती है, इसप्रकार द्रव्य की प्रवृत्ति होती है। इसप्रकार द्रव्य – भाव का स्वरूप जानकर स्वभाव में प्रवर्ते विभाव में न प्रवर्ते उसके परमानन्द सुख होता है; और विभाव राग – द्वेष – मोहरूप प्रवर्ते, उसके संसार संबन्धी दुःख होता है।

द्रव्यरूप पुद्गल का विभाव है, इस सम्बन्धी जीव को दुःख–सुख नहीं होता अतः भाव ही प्रधान है, ऐसा न हो तो केवली भगवान को भी सांसारिक सुख–दुःख की प्राप्ति हो परन्तु ऐसा नहीं है। इसप्रकार जीव के ज्ञान–दर्शन तो स्वभाव है और राग–द्वेष– मोह ये स्वभाव विभाव हैं और पुद्गल के स्पर्शादिक तथा स्कन्धादिक स्वभाव विभाव हैं। उनमें जीव का हित–अहित भाव प्रधान है, पुद्गलद्रव्य संबन्धी प्रधान नहीं है। यह तो सामान्यरूप से स्वभाव का स्वरूप है और इसी का विशेष सम्यग्दर्शन – ज्ञान –चारित्र तो जीवका स्वभाव भाव है, इसमें सम्यग्दर्शन भाव प्रधान है। इसके बिना सब बाह्य क्रिया मिथ्यादर्शन – ज्ञान –चारित्र हैं ये विभाव हैं और संसार के कारण हैं, इसप्रकार जानना चाहिये।। २।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं क बाह्यद्रव्य निमित्तमात्र है इसका 'अभाव' जीवके भाव की विशुद्धताका निमित्त जान बाह्यद्रव्य का त्याग करते हैं:--

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स।। ३।।

भावविशुद्धिनिमित्तं बाह्यग्रंथस्य क्रियते त्यागः।
बाह्यत्यागः विफलः अभ्यन्तरग्रंथयुक्तस्थ।। ३।।

अर्थः--बाह्य परिग्रह त्याग भावोंकी विशुद्धिके लिये किया जाता है, परन्तु अभ्यन्तर परिग्रह जो रागागिक हैं, उनसे युक्त बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है।

भावार्थः--अन्तरंग भाव बिना बाह्य त्यागादिककी प्रवृत्ति निष्फल है, यह प्रसिद्ध है।। ३।।

आगे कहते हैं कि करोड़ों भवोंमें तप करे तो भी भाव बिना सिद्धि नहीं है:--

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो।। ४।।

भावरहितः न सिद्धयति यद्यपि तपश्चरति कोटिकोटी।
जन्मान्तराणि बहुशः लंबितहस्तः गलितवस्त्रः।। ४।।

अर्थः--यदि कई जन्मान्तरों तक कोड़ाकोड़ि संख्या काल तक हाथ लम्बे लटकाकर, वस्त्रादिकका त्याग करके तपश्चरण करे, तो भी भावरहित को सिद्धि नहीं होती है।

रे! भावशुद्धिनिमित्त बाहिर-ग्रंथ त्याग कराय छे;
छे विफळ बाहिर-त्याग आंतर-ग्रंथथी संयुक्तने। ३।

छो कोटिकोटि भवो विषे निर्वस्त्र लंबितकर रही,
पुष्कळ करे तप, तोय भावविहीनने सिद्धि नहीं। ४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––भाव में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप विभाव रहित सम्यग्दर्शन – ज्ञान –चारित्ररूप स्वभाव में प्रवृत्ति न हो, तो कोड़ाकोड़ि भव तक कायोत्सर्गपूर्वक नग्नमुद्रा धारणकर तपश्चरण करे तो भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती है, इसप्रकार भावोंमें सम्यग्दर्शन – ज्ञान – चारित्ररूप भाव प्रधान है, और इनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है, क्योंकि इसके बिना ज्ञान – चारित्र मिथ्या कहे हैं, इसप्रकार जानना चाहिये।। ४।।

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं:––

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुञ्चेइ बाहिरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ।। ५।।

परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् च यदि।
बाह्यग्रन्थत्यागः भावविहीनस्य किं करोति।। ५।।

अर्थः––यदि मुनि बन कर परिणाम अशुद्ध होते हुए बाह्य परिग्रह को छोड़े तो बाह्य परिग्रह का त्याग उस भावरहित मुनिको क्या करे? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं करता है।

भावार्थः––जो बाह्य परिग्रह को छोड़कर मुनि बन जावे और परिणाम परिग्रहरूप अशुद्ध हों, अभ्यन्तर परिग्रह न छोड़े तो बाह्य त्याग कुछ कल्याणरूप फल नहीं कर सकता। सम्यग्दर्शनादि भाव बिना कर्मनिर्जरारूप कार्य नहीं होता हैं।। ५।।

पहली गाथा से इसमें यह विशेषता है कि यदि मुनिपद भी लेवे और परिणाम उज्जवल न रहे, आत्मज्ञान की भावना न रहे, तो कर्म नहीं कटते हैं।

परिणाम होय अशुद्ध ने जो बाह्य ग्रंथ परित्यजे,
तो शुं करे अे बाह्यनो परित्याग भावविहीनने? ५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

आगे उपदेश करते हैं कि––भावको परमार्थ जानकर इसीको अंगीकार करो:––

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंपिंय सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण।। ६।।

जानीहि भावं प्रथमं किं ते लिंगेन भावरहितेन।
पथिक शिवपुरी पंथा: जिनोपदिष्ट: प्रयत्नेन।। ६।।

अर्थ:––हे शिवपुरी के पथिक! प्रथम भावको जान, भाव रहित लिंगसे तुझे क्या प्रयोजन है? शिवपुरीका पंथ जिनभगवंतोंने प्रयत्न साध्य कहा है।

भावार्थ:––मोक्षमार्ग जिनवर देवने सम्यग्दर्शन – ज्ञान –चारित्र आत्मभाव स्वरूप परमार्थसे कहा है, इसलिये इसीको परमार्थ जानकर सर्व उद्यमसे अंगीकार करो, केवल द्रव्यमात्र लिंग से क्या साध्य है? इसप्रकार उपदेश है।। ६।।

आगे कहते हैं कि द्रव्यलिंग आदि तुने बहुत धारण किये, परन्तु उससे कुछ भी सिद्धि नहीं हुई:–––

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहिउज्झियाइं वहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं।। ७।।

भावरहितेन सत्पुरुष! अनादिकालं अनंतसंसारे।
गृहीतोज्झितानि बहुश: बाह्यनिर्ग्रंथ रूपाणि।। ७।।

अर्थ:––हे सत्पुरुष! अनादिकाल से लगाकर इस अनन्त संसार में तुने भावरहित निर्ग्रन्थ रूप बहुत बार ग्रहण किये और छोड़े।

છે ભાવ પરથમ, ભાવવિરહિત લિંગથી શું કાર્ય છે?
હે પથિક! શિવનગરી તણો પથ યત્નપ્રાપ્ય કહ્યો જિને। ૬।

સત્પુરુષ! કાળ અનાદિથી નિ:સીમ આ સંસારમાં,
બહુ વાર ભાવ વિના બહિર્નિર્ગ્રંથરૂપ ગ્રહ્યાં–તજ્યાં। ૭।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––भाव जो निश्चय सम्यग्दर्शन – ज्ञान –चारित्र उनके बिना बाह्य निर्ग्रंथरूप द्रव्यलिंग संसार में अनन्तकालसे लगाकर बहुत बार धारण किये और छोड़े तो भी कुछ सिद्धि न हुई। चारों गतियोंमें भ्रमण ही करता रहा।। ७।।

वही कहते हैं:––

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए।
पत्तो सि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीवः।। ८।।

भीषण नरक गतौ तिर्यग्गतौ कुदेव मनुष्य गत्योः।
प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं भावय जिनभावना जीवः।। ८।।

अर्थः––हे जीव! तूने भीषण (भयंकर) नरकगति तथा तिर्यंचगतिमें और कुदेव, कुमनुष्यगतिमें तीव्र दुःख पाये हैं, अतः अब तू जिनभावना अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना भा इससे तेरे संसार का भ्रमण मिटेगा।

भावार्थः––आत्माकी भावना बिना चार गतिके दुःख अनादि कालसे संसारमें प्राप्त किये, इसलिये अब हे जीव! तू जिनेश्वर देव की शरण ले और शुद्ध स्वरूप का बारबार अभ्यास कर, इससे संसारके भ्रमण से रहित मोक्षको प्राप्त करेगा, यह उपदेश है।। ८।।

आगे चार गतिके दुःखोंको विशेषरूप से कहते हैं, पहिले नरकगति के दुःखोंको कहते हैं:––

सत्तसु णरयावासे दारुण भीमाइं असहणीयाइं।
भुत्ताई सुइरकालं दुःकरवाइं णिरंतरं सहियं।। ९।।

भीषण नरक, तिर्यंच तेम कुदेव–मानवजन्ममां,
तें जीव,! तीव्र दुःखो सह्यां; तुं भाव रे! जिनभावना। ८।

भीषण सुतीव्र असह्य दुःखो सप्त नरकावासमां
बहु दीर्घ काळप्रमाण तें वेद्यां, अछिन्नपणे सह्यां। ९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

[1]सप्तसु नरकावासेषु दारुणभीषणानि असहनीयानि।
भुक्तानि सुचिरकालं दुःखानि निरंतरं सोढानि[2]।। ९।।

अर्थः––हे जीव! तुने सात नरकभूमियोंके नरक–आवास बिलोंमें दारुण अर्थात् तीव्र तथा भयानक और असहनीय अर्थात् सहे न जावें इसप्रकारके दुःखोंको बहुत दीर्घ कालतक निरन्तर ही भोगे और सहे।

भावार्थः––नरक की पृथ्वी सात है, उनमें बिल बहुत हैं, उनमें दस हजार वर्षोंसे लगाकर तथा एक सागर से कगाकर तेतीस सागर तक आयु है जहाँ आयुपर्यंत अति ही तीव्र दुःख यह जीव अनन्तकालसे सहता आया है।। ९।।

आगे तिर्यंच गति के दुःखोंको कहते हैं:––

खणणुत्तावणवालण वेयणविच्छेयणाणिरोहं च।
पत्तो सि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं।। १०।।

खननोत्तापनज्वालन [3]वेदनविच्छेदनानिरोधं च।
प्राप्तोऽसि भावरहितः तिर्यग्गतौ चिरं कालं।। १०।।

अर्थः––हे जीव! तुने तिर्यंच गति में खनन, उत्तापन, ज्वलन, वेदन, व्युच्छेदन, निरोधन इत्यादि दुःख सम्यग्दर्शन आदि भावरहित होकर बहुत कालपर्यंत प्राप्त किये।

भावार्थः––इस जीवने सम्यग्दर्शनादि भाव किये बिना तिर्यंच गति में चिरकाल तक दुःख पाये – पृथ्वीकाय में कुदाल आदि खोदने द्वारा दुःख पाये, जलकायमें अग्निसे तपना, ढोलना इत्यादि द्वारा दुःख पाये, अग्निकाय में जलाना, बुझाना आदि द्वारा दुःख पाये, पवनकाय में भारे से हलका चलना, फटना आदि द्वारा दुःख पाये, वनस्पतिकाय में फाड़ना, छेदना, राँधना आदि द्वारा दुःख पाये, विकलत्रय में दूसरे से रुकना, अल्प आयुसे मरना इत्यादि द्वारा दुःख पाये,

---

१ मुद्रित संस्कृत प्रतिमें 'सप्तसु नरकावासे' ऐसा पाठ है।
२ मुद्रित संस्कृत प्रतिमें 'स्वहित' ऐसा पाठ है। 'सहिय' इसकी छाया मे।
३ मुद्रित संस्कृत प्रतिमें 'वेयण' इसकी संस्कृत 'व्यंजन' है।

रे! खनन–उत्तापन–प्रजालन–वीजन–छेद–निरोधनां
चिरकाळ पाम्यो दुःख भावविहीन तुं तिर्यंचमां। १०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पंचेन्द्रिय पशु – पक्षी – जलचर आदिमें परस्पर घात तथा मनुष्यादि द्वारा वेदना, भूख, तृषा, रोकना, बध–बंधन इत्यादि द्वारा दुःख पाये। इसप्रकार तिर्यंचगति में असंख्यात अनन्तकालपर्यंत दुःख पाये* ।। १०।।

आगे मनुष्यगति के दुःखोंको कहते हैं:––

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तो सि अणंतयं कालं।। ११।।

आगंतुकं मानसिकं सहजं शारीरिकं च चत्वारि।
दुःखानि मनुजजन्मनि प्राप्तोऽसि अनन्तकं कालं।। ११।।

अर्थः––हे जीव! तुने मनुष्यगति में अनंतकाल तक **आगंतुक** अर्थात् अकस्मात् वज्रपातादिकका आ–गिरना, **मानसिक** अर्थात् मन में ही होने वाले विषयों की वांछा होना और तदनुसार न मिलना, **सहज** अर्थात् माता, पितादि द्वारा **सहजसे** ही उत्पन्न हुआ तथा राग–द्वेषादिक से वस्तुके इष्ट–अनिष्ट मानने के दुःखका होना, **शारीरिक** अर्थात् व्याधि, रोगादिक तथा परकृत छेदन, भेदन आदिसे हुए दुःख ये चार प्रकार के और चार से इनको आदि लेकर अनेक प्रकार के दुःख पाये ।। ११।।

आगे देवगति के दुःखों को कहते हैं:––

सुरणिलयेसु सुरच्छरवि ओयकाले य माणसं तिव्वं।
संपत्तो सि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ।। १२।।

सुरनिलयेषु सुराप्सरावियोगकाले च मानसं तीव्रम्।
संप्राप्तोऽसि महायश! दुःखं शुभभावनारहितः।। १२।।

[* देहादिमें या बाह्य संयोगोंमें दुःख नहीं है किन्तु अपनी मूलरूप मिथ्यात्व रागादि दोषसे ही दुःख होता है, यहाँ निमित्त द्वारा उपादानका–योग्यताका ज्ञान करानेके लिये यह उपचरित व्यवहार से कथन है।]

तें सहज, कायिक, मानसिक, आगंतु–चार प्रकारनां,
दुःखो लह्यां निःसीम काळ मनुष्य करो जन्ममां। ११।

सुर–अप्सराना विरहकाळे हे महायश! स्वर्गमां,
शुभभावनाविरहितपणे तें तीव्र मानस दुःख सह्यां। १२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––हे महाशय! तुने सुरनिलयेषु अर्थात् देवलोक में सुरप्सरा अर्थात् प्यारे देव तथा प्यारी अप्सरा के वियोगकाल में उसके वियोग संबन्धी दुःख तथा इन्द्रादिक बड़े ऋद्धिधारियोंको देख कर अपने को हीन मानने के मानसिक तीव्र दुःखोंको शुभभावना से रहित होकर पाये हैं।

भावार्थः––यहाँ 'महाशय' इसप्रकार सम्बोधन किया। उसका आशय यह है कि जो मुनि निर्ग्रंथलिंग धारण करे और द्रव्यलिंगी मुनिकी समस्त क्रिया करे, परन्तु आत्मा के स्वरूप शुद्धोपयोग के सन्मुख न हो उसको प्रधानतया उपदेश है कि मुनि हुआ वह तो बड़ा कार्य किया, तेरा यश लोकमें प्रसिद्ध हुआ, परन्तु भली भावना अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वका अभ्यास उसके बिना तपश्चरणादि करके स्वर्गमें देव भी हुआ तो वहाँ भी विषयोंका लोभी होकर मानसिक दुःखसे ही तप्तायमान हुआ।। १२।।

आगे शुभभावना से रहित अशुभ भावना का निरूपण करते हैं:––

कंदप्प माइयाओ पंच वि असुहादि भावणाई य।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ।। १३।।

कांदर्पीत्यादीः पंचापि अशुभादिभावनाः च।
भावयित्वा द्रव्यलिंगी प्रहीणदेवः दिवि जातः।। १३।।

अर्थः––हे जीव! तू द्रव्यलिंगी मुनि होकर कान्दर्पी आदि पाँच अशुभ भावना भाकर प्रहीणदेव अर्थात् नीच देव होकर स्वर्ग में उत्पन्न हुआ।

भावार्थः––कान्दर्पी, किल्विषिकी, संमोही, दानवी और अभियोगिकी––––ये पाँच अशुभ भावना हैं। निर्ग्रंथ मुनि होकर समयक्त्व भावना बिना इन अशुभ भावनाओं को भावे तब किल्विष आदि नीच देव होकर मानसिक दुःख को प्राप्त होता है।। १३।।

आगे द्रव्यलिंगी पार्श्वस्थ आदि होते हैं उनको कहते हैं:––

तुं स्वर्गलोके हीन देव थयो, दरवलिंगीपणे,
कांदर्पी–आदिक पांच बूरी भावनाने भावीने। १३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ।
भाउण दुहं पत्तो कु भावणा भाव बीएहिं।। १४।।

पार्श्वस्थभावना: अनादिकालं अनेकवारान्।
भावयित्वा दु:खं प्राप्त: कुभावना भाव बीजै:।। १४।।

अर्थ:––हे जीव! तू पार्श्वस्थ भावना से अनादिकालसे लेकर अनन्तबार भाकर दु:खको प्राप्त हुआ। किससे दु:ख पाया? कुभावना अर्थात् खोटी भावना, उसका भाव वे ही हुए दु:खके बीज, उनसे दु:ख पाया।

भावार्थ:––जो मुनि कहलावे और वास्तिका बाँधकर आजीविका करे उसे '**पार्श्वस्थ**' वेशधारी कहते हैं। जो कषायी होकर व्रतादिकसे भ्रष्ट रहें, संघका अविनय करें, इस प्रकार के वेषधारी को '**कुशील**' कहते हैं। जो वैद्यक ज्योतिषविद्या मंत्रकी आजिविका करे, राजादिकका सेवक होवे इसप्रकार के वेषधारीको '**संसक्त**' कहते हैं। जो जिनसूत्र से प्रतिकूल, चारित्र से भ्रष्ट आलसी, इसप्रकार वेषधारी को '**अवसन्न**' कहते हैं। गुरुका आश्रय छोड़कर एकाकी स्वच्छन्द प्रवर्ते, जिन आज्ञाका लोप करे, ऐसे वेषधारीको '**मृगचारी**' कहते हैं। इसकी भावना भावे वह दु:ख ही को प्राप्त होता है।। १४।।

ऐसे देव होकर मानसिक दु:ख पाये इसप्रकार कहते हैं:––

देवाण गुण विहई इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठुं।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहु माणसं दुक्खं।। १५।।

देवानां गुणान् विभूती: ऋद्धी: माहात्म्यं बहुविधं दृष्ट्वा।
भूत्वा हीनदेव: प्राप्त: बहु मानसं दु:खम्।। १५।।

अर्थ:––हे जीव! तू हीन देव होकर अन्य महद्धिक देवोंके गुण, विभूति और ऋद्धि का अनेक प्रकारका महात्म्य देखकर बहुत मानसिक दु:खोंको प्राप्त हुआ।

बहु वार काळ अनादिथी पार्श्वस्थ–आदिक रूभावना,
ते भावीने दुर्भावनाद्रक बीजथी दु:खो लह्यां। १४।

रे! हीन देव थई तुं पाम्यो तीव्र मानस दु:खने,
देवो तणा गुण विभव, ऋद्धि, महात्म्य बहुविध देखीने। १५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––स्वर्गमें हीन देव होकर बड़े ऋद्धिधारी देवके अणिमादि गुणकी विभूति देखे तथा देवांगना आदि का बहुत परिवार देखे और आज्ञा, ऐश्वर्य आदिका महात्म्य देखे तब मनमें इसप्रकार विचारे कि मैं पुण्यरहित हूँ, ये बड़े पुण्यवान् हैं, इनके ऐसी विभूति महात्म्य ऋद्धि है, इसप्रकार विचार करनेसे मानसिक दुःख होता है।। १५।।

आगे कहते हैं कि अशुभ भावनासे नीच देव होकर ऐसे दुःख पाते हैं, ऐसा कह कर इस कथनका संकोच करते हैं:––

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो।
होऊण कुदेवत्तं पत्तो सि अणेयवाराओ।। १६।।

चतुर्विधविकथासक्तः मदमत्तः अशुभभावप्रकटार्थः।
भूत्वा कुदेवत्वं प्राप्तः असि अनेकवारान्।। १६।।

अर्थः––हे जीव! तू चार प्रकार की विकथा में आसक्त होकर, मद से मत्त और जिसके अशुभ भावना का ही प्रकट प्रयोजन है इसप्रकार अनेकबार कुदेवपने को प्राप्त हुआ।

भावार्थः––स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा और राजकथा इन चार विकाथाओंमें आसक्त होकर वहाँ परिणामको लगाया तथा जाति आदि आठ मदोंसे उन्मत्त हुआ, ऐसी अशुभ भावना ही का प्रयोजन धारण कर अनेकबार नीच देवपनेको प्राप्त हुआ, वहाँ मानसिक दुःख पाया।

यहाँ यह विशेष जानने योग्य है कि विकथादिकसे नीच देव भी नहीं होता है, परन्तु यहाँ मुनिको उपदेश है, वह मुनिपद धारणकर कुछ तपश्चरणादिक भी करे और वेषमें विकथादिकमें रक्त हो तब नीच देव होता है, इसप्रकार जानना चाहिये।। १६।।

आगे कहते हैं कि ऐसी कुदेवयोनि पाकर वहाँ से चय जो मनुष्य तिर्यंच होवे, वहाँ गर्भमें आवे उसकी इसप्रकार व्यवस्था है:––

मदमत्त ने आसक्त चार प्रकारनी विकथा महीं,
बहुशः कुदेवपणुं लह्युं तें, अशुभ भावे परिणमी। १६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

असुईबीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि।
वसिओ सि चिरं कालं अणेयजणणीय मुणिवयर।। १७।।

अशुचिबीभत्सासु य कलिमलबहुलासु गर्भवसतिषु।
उषितोऽसि चिरं कालं अनेकजननीनां मुनिप्रवर!।। १७।।

अर्थः––हे मुनिप्रवर! तू कुदेवयोनि से चयकर अनेक माताओं की गर्भ की वस्तीमें बहुकाल रहा। कैसे है वह वस्ती? अशुचि अर्थात् अपवित्र है, वीभत्स (घिनवानी) है और उसमें कलिमल बहुत है अर्थात् पापरूप मलिन मल की अधिकता है।

भावार्थः––यहाँ 'मुनिप्रवर' ऐसा सम्बोधन है सो प्रधानरूप से मुनियोंको उपदेश है। जो मुनिपद लेकर मनियोंमें प्रधान कहलावें और शुद्धात्मरूप निश्चयचारित्रके सन्मुख न हो, उसको कहते हैं कि बाह्य द्रव्यलिंग तो बहुतबार धारणकर चार गतियोंमें ही भ्रमण किया, देव भी हुआ तो वहाँ से चयकर इसप्रकारके मलिन गर्भवासमें आया, वहाँ भी बहुतबार रहा।। १७।।

आगे फिर कहते हैं कि इसप्रकारके गर्भवास से निकलकर जन्म लेकर माताओं का दूध पिया:––

पीओ सि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइ जणणीणं।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं।। १८।।

पीप्तोऽसि स्तनक्षीरं अनंतजन्मांतराणि जननीनाम्।
अन्यासामन्यासां महायश! सागरसलिलात् अधिकतरम्।। १८।।

अर्थः–– हे महाशय! उस पूर्वोक्त गर्भवास में अन्य–अन्य जन्ममें अन्य–अन्य माता के स्तन दूध तूने समूद्रके जलसे भी अतिशयकर अधिक पिया है।

हे मुनिप्रवर! तुं चिर वस्यो बहु जननीना गर्भोपणे,
निकृष्टमळभरपूर, अशूचि, बीभत्स गर्भाशय विषे। १७।

जन्मो अनंत विषे अरे! जननी अनेरी अनेरीनुं
स्तनदूध तें पीधुं महायश! उदधिजळथी अति घणुं। १८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ:–– जन्म–जन्ममें अन्य–अन्य माता के स्तनका दूध इतना पिया कि उसको एकत्र करें तो समुद्र के जलसे भी अतिशयकर अधिक हो जावे। यहाँ अतिशयका अर्थ अनन्तगुणा जानना, क्योंकि अनन्तकाल का एकत्र किया हुआ दूध अनन्तगुणा हो जाता है।। १८।।

आगे फिर कहते हैं कि जन्म लेकर मरण किया तब माताके रोने के अश्रुपातका जल भी इतना हुआ:––

तुह मरणे दुक्श्येणं अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं।। १९।।

तव मरणे दु:खेन अन्यासामन्यासां अनेकजननीनाम्।
रुदितानां नयननीरं सागरसलिलात् अधिकतरम्।। १९।।

अर्थ:–– हे मुने! तूने माताके गर्भमें रहकर जन्म लेकर मरण किया, वह तेरे मरणसे अन्य–अन्य जन्ममें अन्य–अन्य माताके रुदनके नयनोंका नीर एकत्र करें तब समुद्रके जलसे भी अतिशयकर अधिकगुणा हो जावे अर्थात् अनन्तगुणा हो जावे।

आगे फिर कहते हैं कि जितने संसार में जन्म लिये, उनमें केश, नख, नाल कटे, उनका पुंज करें तो मेरु से भी अधिक राशि हो जाय:––

भयसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठी।
पुंजइ जइ को वि जए हयदि य गिरिसमधिया रासी।। २०।।

भवसागरे अनन्ते छिन्नोज्झितानि केशनखरनालास्थीनि।
पुञ्जयति यदि कोऽपि देव: भवति च गिरिसमाधिक: राशि:।। २०।।

अर्थ:––हे मुने! इस अनन्त संसारसागरमें तूने जन्म लिये उनमें केश, नख, नाल और अस्थि कटे, टूटे उनका यदि देव पुंज करे तो मेरू पर्वतसे भी अधिक राशि हो जाये, अनन्तगुणा हो जावे।। २०।।

तुज मरणथी दु:खार्त बहु जननी अनेरी अनेरीनां
नयनो थकी जळ जे वह्यां ते उदधिजळथी अति घणां। १९।

नि:सीम भवमां त्यक्त तुज नख–नाळ–अस्थि–केशने
सुर कोई एकत्रित करे तो गिरिअधिक राशि बने। २०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि हे आत्मन्! तू जल थल आदि स्थानोंमें सब जगह रहा है:--

जलथलसिहिपवणंवरगिरिसरिदरितरुवणाइ* सवत्थ।
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पयसो।। २१।।

जलस्थलशिखिपवनांबरगिरिसरिद्दरीतरुवनादिषु सर्वत्र।
उषितोऽसि चिरं कालं त्रिभुवनमध्ये अनात्मवशः।। २१।।

अर्थ:--हे जीव! तू जलमें, थल अर्थात् भूमिमें, शिखि अर्थात् अग्निमें, पवन में, अम्बर अर्थात् आकाश में, गिरि अर्थात् पर्वतमें, सरित् अर्थात् नदीमें, दरी पर्वतकी गुफा में, तरु अर्थात् वृक्षोंमें, वनोंमें और अधिक क्या कहें सब ही स्थानोंमें, तीन लोकमें अनात्मवश अर्थात् पराधीन होकर बहुत काल तक रहा अर्थात् निवास किया।

भावार्थ:-- निज शुद्धात्माकी भावना बिना कर्म के आधीन होकर तीन लोकमें सर्व दु:ख सहित सर्वत्र निवास किया।। २१।।

आगे कहते हैं कि हे जीव! तूने इस लोकमें सर्व पुद्गल भक्षण किये तो भी तृप्त नहीं हुआ:--

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं।
पत्तो सि तो ण तितिं [१]पुणरुत्तं ताइं भुजंतो।। २२।।

ग्रसिताः पुद्गलाः भुवनोदरवर्तिनः सर्वे।
प्राप्तोऽसि तन्न तृप्तिं पुनरुक्तान् तान भुंजानः।। २२।।

---

* पाठान्तर 'वणाइं', 'वणाई'।
१ मुद्रित संस्कृत प्रति में 'पुणरूवं' पाठ है जिसकी संस्कृतमें 'पुनरूप' छाया है।

जल-थल-अनल-पवने, नदी-गिरि-आभ-वन-वृक्षादिमां
वण आत्मवशता चिर वस्यो सर्वत्र तुं त्रण भुवनमां। २१।

भक्षण कर्यां तें लोकवर्ती पुद्गलोने सर्वने,
फरी फरी कर्यां भक्षण छतां पाम्यो नहीं तुं तृप्तिने। २२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––हे जीव! तूने इस लोकके उदय में वर्तते जो पुद्गल स्कन्ध, उन सबको ग्रसे अर्थात् ग्रहण किये और उनही को पुनरुक्त अर्थात् बारबार भोगता हुआ भी तृप्ति को प्राप्त न हुआ।

फिर कहते हैंः––

तिहुवणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं।। २३।।

त्रिभुवनसलिलं सकलं पीतं तृष्णाया पीडितेन त्वया।
तदपि न तृष्णाछेदः जातः चिन्तय भवमथनम्।। २३।।

अर्थः––हे जीव! तूने इस लोक में तृष्णासे पीड़ित होकर तीन लोकका समस्त जल पिया, तो भी तृषाका व्युच्छेद न हुआ अर्थात् प्यास न बुझी, इसलिये तू इस संसारका मथन अर्थात् तेरे संसारका नाश हो, इसप्रकार निश्चय रत्नत्रयका चिन्तन कर।

भावार्थः––संसारमें किसी भी तरह तृप्ति नहीं है, जैसे अपने संसारक अभाव हो वैसे चिन्तन करना, अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रको धारण करना, सेवन करना, यह उपदेश है।। २३।।

आगे फिर कहते हैंः––

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं।
ताणं णत्थि पमाणं अणंत भवसायरे धीर।। २४।।

गृहीतोज्झितानि मुनिवर कलेयराणि त्वया अनेकानि।
तेषां नास्ति प्रमाणं अनन्तभवसागरे धीर!।। २४।।

अर्थः–– हे मुनिवर! हे धीर! तूने इस अनन्त भवसागरमें कलेवर अर्थात् शरीर

पीडित तृषाथी तें पीधा छे सर्व त्रिभुवननीरने,
तोपण तृषा छेदाई ना; चिंतव अरे! भवछेदने। २३।

हे धीर! हे मुनिवर! ग्रह्यां–छोड्यां शरीर अनेक तें,
तेनुं नथी परिमाण कंई निःसीम भवसागर विषे। २४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनेक ग्रहण किये और छोड़े, उनका परिमाण नहीं है।

भावार्थः––हे मुनिप्रधान! तू इस शरीरसे कुछ स्नेह करना चाहता है तो इस संसारमें इतने शरीर छोड़े और ग्रहण किये कि उनका कुछ परिमाण भी नहीं किया जा सकता है।

आगे कहते हैं कि जो पर्याय स्थिर नहीं है, आयुकर्मके आधीन है वह अनेक प्रकार क्षीण हो जाती हैः––

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेण।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ।। २५।।

हिमजलण सलिल गुरुवरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं।। २६।।

इय तिरियमणुय जम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तो सि तं मित्त।। २७।।

विषवेदना रक्तक्षय भयशस्त्रग्रहण संक्लेशैः।
आहारोच्छ्वासानां निरोधनात् क्षीयते आयु।। २५।।

हिमज्वलनसलिल गुरुतर पर्वततरु रोहणपतनभङ्गैः।
रसविद्यायोगधारणानय प्रसंगैः विविधैः।। २६।।

इति तिर्यग्मनुष्यजन्मनि सुचिरं उत्पद्य बहुवारम्
अपमृत्यु महादुःखं तीव्रं प्राप्तोऽसि त्वं मित्र?।। २७।।

विष–वेदनाथी, रक्तक्षय–भय–शस्त्रथी, संक्लेशथी,
आयुष्यनो क्षय थाय छे आहार–श्वासनिरोधथी। २५।

हिम–अग्नि–जळथी, उच्च–पर्वत वृक्षरोहणपतनथी,
अन्याय–रसविज्ञान–योगप्रधारणादि प्रसंगथी। २६।

हे मित्र! अे रीत जन्मीने चिरकाळ नर–तिर्यंचमां,
बहु वार तुं पाम्यो महादुःख आकरां अपमृत्युनां। २७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––विषभक्षणसे, वेदना की पीड़ा के निमित्तसे, रक्त अर्थात् रुधिरके क्षय से, भयसे, शस्त्रके घात से, संक्लेश परिणामसे, आहार तथा श्वासके निरोधसे इन कारणोंसे आयुका क्षय होता है।

हिम अर्थात् शीत पालेसे, अग्निसे, जलसे, बड़े पर्वत पर चढ़कर पड़नेसे, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरनेसे, शरीरका भंग होनेसे, रस अर्थात् पारा आदिकी विद्या उसके संयोग से धारण करके भक्षण करे इससे, और अन्याय कार्य, चोरी, व्यभिचार आदिके निमित्तसे ––––इसप्रकार अनेकप्रकारके कारणोंसे आयुका व्युच्छेद (नाश) होकर कुमरण होता है।

इसलिये कहते हैं कि हे मित्र! इसप्रकार तिर्यंच मनुष्य जन्ममें बहुतकाल बहुतबार उत्पन्न होकर अपमृत्यु अर्थात् कुमरण सम्बन्धी तीव्र महादुःखको प्राप्त हुआ।

भावार्थः––इस लोकमें प्राणीकी आयु (जहाँ सोपक्रम आयु बंधी है उसी नियम के अनुसार) तिर्यंच–मनुष्य पर्यायमें अनेक कारणोंसे छिदती है, इससे कुमरण होता है। इससे मरते समय तीव्र दुःख होता है तथा खोटे परिणामोंसे मरण कर फिर दुर्गतिही में पड़ता है; इसप्रकार यह जीव संसार में महादुःख पाता है। इसलिये आचार्य दयालु होकर बारबार दिखाते हैं और संसारसे मुक्त होनेका उपदेश करते हैं, इसप्रकार जानना चाहिये।। २५–२६–२७।।

आगे निगोद के दुःख को कहते हैं:––––

छत्तीस तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवार मरणाणि।
अतोमुहुत्तममज्झे पत्तो सि निगोयवासम्मि।। २८।।

षट्त्रिंशत त्रीणि शतानि षट्षष्टि सहस्रवारमरणानि।
अन्तर्मुहूर्त्तमध्ये प्राप्तोऽसि निकोतवासे।। २८।।

अर्थः––हे आत्मन! तू निगोद के वास में एक अंतर्मुहूर्त्त में छियासठ हजार तीनसौ छत्तीस बार मरणको प्राप्त हुआ।

छासठ हुर त्रिशत अधिक छत्रीश तें मरणो कर्यां,
अंतर्मुहूर्त प्रमाण काल विषे निगोदनिवासमां। २८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

भावार्थः––निगोद में एक श्वास में अठारहवें भाग प्रमाण आयु पाता है। वहाँ एक मुहूर्त्तके सैंतीससौ तिहत्तर श्वासोच्छ्वास गिनते हैं। उनमें छत्तीससौ पिच्यासी श्वासोच्छ्वास और एक श्वासके तीसरे भागके छ्यासठ हजार तीनसौ छत्तीस बार निगोद में जन्म–मरण होता है। इसका दुःख यह प्राणी सम्यग्दर्शनभाव पाये बिना मिथ्यात्वके उदयके वशीभूत होकर सहता है। भावार्थः––अंतर्मुहूर्त्तमें छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म–मरण कहा, वह अठ्यासी श्वास कम मुहूर्त्त इसप्रकार अंतर्मुहूर्त्त जानना चाहिये।। २८।।

[विशेषार्थः–––गाथामें आये हुए 'निगोद वासम्मि' शब्द की संस्कृत छाया में 'निगोत वासे' है। निगोद एकेन्द्रिय वनस्पति कायिक जीवोंके साधारण भेदमें रूढ़ है, जब कि निगोत शब्द पांचों इन्द्रियोंके सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाले लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके लिये प्रयुक्त होता है। अतः यहाँ जो ६६३३६ बार मरण की संख्या है वह पांचों इन्द्रियों को सम्मिलित समझाना चाहिये।। २८।।]

इसही अंतर्मुहूर्त्तके जन्म–मरण में क्षुद्रभवका विशेष कहते हैं:–––

वियलिंदए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स।। २९।।

विकलेंद्रियाणामशीति षष्टिं चत्वारिंशतमेव जानीहि।
पंचेन्द्रियाणां चतुर्विंशति क्षुद्रभवान् अन्तर्मुहूर्त्तस्य।। २९।।

अर्थः––इस अंतर्मुहूर्त्तके भवोंमें दो इन्दियके क्षुद्रभव अस्सी, तेइन्द्रियके साठ, चौइन्द्रिय के चालीस और पंचेन्द्रियके चौबीस, इसप्रकार हे आत्मन्! तू क्षुद्रभव जान।

भावार्थः––क्षुद्रभव अन्य शास्त्रों में इसप्रकार गने हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और साधारण निगोदके सूक्ष्म बादर से दस और सप्रतिष्ठित वनस्पति एक, इसप्रकार ग्यारह स्थानोंके भव तो एक––एकके छह हजार बार उसके छ्यासठ हजार एकसौ बत्तीस हुए और इस गाथा में कहे वे भव दो इन्द्रिय आदिके दो सौ बार, ऐसे ६६३३६ एक अंतर्मुहूर्त्तमें क्षुद्रभव हैं।। २९।।

रे! त्रण अेंशी साठ चालीश क्षुद्र भव विकलेंद्रिना,
अंतर्मुहूर्ते क्षुद्रभव चोवीश पंचेन्द्रिय तणा। २९।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि हे आत्मन्! तूने इस दीर्घसंसार में पूर्वोक्त प्रकार सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयकी प्राप्ति बिना भ्रमण किया, इसलिये अब रत्नत्रय धारण कर:--

रयणत्तये अलद्धे एवं भमिओ सि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तय समायरह।। ३०।।

रत्नत्रये अलब्धे एवं भ्रमितोऽसि दीर्घसंसारे।
इति जिनवरैर्भणितं तत् रत्नत्रयं समाचर।। ३०।।

अर्थ:--हे जीव! तूने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को नहीं पाया, इसलिये इस दीर्घकालसे - अनादि संसारमें पहिले कहे अनुसार भ्रमण किया, इसप्रकार जानकर अब तू उस रत्नत्रयका आचरण कर, इसप्रकार जिनेश्वरदेव ने कहा है।

भावार्थ:--निश्चय रत्नत्रय पाये बिना यह जीव मिथ्यात्वके उदयसे संसार में भ्रमण करता है, इसलिये रत्नत्रय के आचरणका उपदेश है।। ३०।।

आगे शिष्य पूछता है कि वह रत्नत्रय कैसा है? उसका समाधान करते हैं कि रत्नत्रय इसप्रकार है:--

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिहं चारित्त मग्गो त्ति।। ३१।।

आत्मा आत्मनि रत: सम्यग्दृष्टि: भवति स्फुटं जीव:।
जानाति तत् संज्ञानं चरतीह चारित्रं मार्ग इति।। ३१।।

अर्थ:--जो आत्मा आत्मा में रत होकर यथार्थरूपका अनुभव कर तद्रुप होकर श्रद्धान करे वह प्रगट सम्यग्दृष्टि होता है, उस आत्माको जानना सम्यग्ज्ञान है,

---

वण रत्नत्रयप्राप्ति तुं अे रीत दीर्घसंसारे भम्यो,
भाख्युं जिनोअे आम; तेथी रत्नत्रयने आचरो। ३०।

निज आद्रमां रत क्रव जे ते प्रगट सम्यग्दृष्टि छे,
तद्बोध छे सुज्ञान, त्यां चरवुं चरण छे; -मार्ग अे। ३१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उस आत्मामें आचरण करके रागद्वेषरूप न परिणमना सम्यक्चारित्र है। इसप्रकार यह निश्चयरत्नत्रय है, मोक्षमार्ग है।

भावार्थः––आत्माका श्रद्धान–ज्ञान–आचरण निश्चयरत्नत्रय है और बाह्यमें इसका व्यवहार – जीव अजीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान, तथा जानना और परद्रव्य परभावका त्याग करना इसप्रकार निश्चय–व्यवहारस्वरूप रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है। वहाँ निश्चय तो प्रधान है, इसके बिना व्यवहार संसार स्वरूप ही है। *व्यवहार है वह निश्चय का साधनस्वरूप है, इसके बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं है और निश्चय की प्राप्ति हो जाने के बाद व्यवहार कुछ नहीं है इसप्रकार जानना चाहिये।। ३१।।

आगे संसार में इस जीव ने जन्म मरण किये हैं वे कुमरण किये, अब सुमरण का उपदेश कते हैं:–––

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओ सि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव!।। ३२।।

अन्यस्मिन् कुमरणमरणं अनेकजन्मान्तरेषु मृतः असि।
भावय सुमरणमरणं जन्ममरणविनाशनं जीव!।। ३२।।

अर्थः––हे जीव! इस संसार में अनेक जन्मान्तरोंमें अन्य कुमरण मरण जैसे होते हैं वैसे तू मरा। अब तू जिस मरण का नाश हो जाय इसप्रकार सुमरण भा अर्थात् समाधिमरण की भावना कर।

भावार्थः––मरण संक्षेपसे अन्य शास्त्रोंमें सत्रह प्रकार के कहे हैं। वे इसप्रकार हैं––१ आविचिकामरण, २––तद्भवमरण, ३––अवधिमरण, ४––आद्यानतमरण, ५––बालमरण, पंडितमरण, ७––आसन्नमरण, ८––बालपंडितमरण, ९––सशल्यमरण, १०––पलायमरण, ११––वर्शात्तमरण, १२––विप्राणमरण, १३––गृध्रपृष्ठमरण, १४––भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५––इंगिनीमरण, १६––प्रायोपगमनमरण और १७––केवलिमरण, इसप्रकार सत्रह हैं।

[नोंध––––* यहाँ ऐसा नहीं समझना कि प्रथम व्यवहार हो और पश्चात् निश्चय हो – किन्तु भूमिकानुसार प्रारम्भ से ही निश्चय–व्यवहार साथमें होते है। निमित्तके बिना अर्थ शास्त्रमें जो कहा है उससे विरूद्ध निमित्त नहीं होता ऐसा समझना।]

हे जीव! कुमरण मरणथी तुं मर्यो अनेक भवो विषे;
तुं भाव सुमरणमरणने जर–मरणना हरनारने। ३२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इनका स्वरूप इसप्रकार है – आयुकर्मका उदय समय–समयमें घटता है वह समय–समय मरण है, यह **आवीचिकामरण** है।। १।।

वर्तमान पर्यायका अभाव **तद्भवमरण** है।। २।।

जैसा मरण वर्तमान पर्यायका हो वैसा ही अगली पर्यायका होगा वह **अवधिमरण** है। इसके दो भेद हैं–––जैसा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग वर्तमानका उदय आया वैसा ही अगली का उदय आवे वह [१] सर्वावधिमरण है और एकदेश बंध–उदय हो तो [२] देशावधिमरण कहलाता है।। ३।।

वर्तमान पर्याय का स्थिति आदि जैसा उदय था वैसा अगलीका सर्वतो वा देशतो बंध–उदय न हो वह **आद्यन्तमरण** है।। ४।।

पाँचवाँ **बालमरण** है, वह पाँच प्रकार का है–––१ अव्यक्तबाल, २ व्यवहारबाल, ३ ज्ञानबाल, ४ दर्शनबाल, ५ चारित्रबाल। जो धर्म, अर्थ, काम इन कामोंको न जाने, जिसका शरीर इनके आचरण के लिये समर्थ न हो वह '**अव्यक्तबाल**' है। जो लोकके और शास्त्रके व्यवहार को न जाने तथा बालक अवस्था हो वह '**व्यवहारबाल**' है। वस्तुके यथार्थज्ञान रहित '**ज्ञानबाल**' है। तत्त्वश्रद्धानरहित मिथ्यादृष्टि '**दर्शनबाल**' है। चारित्ररहित प्राणी '**चारित्रबाल**' है। इनका मरना सो बाल मरण है। यहाँ प्रधानरूपसे दर्शनबाल का ही ग्रहण है क्योंकि सम्यक्दृष्टि को अन्यबालपना होते हुए भी दर्शनपंडितता के सद्भावसे पंडितमरण में ही गिनते हैं। दर्शनबालका मरण संक्षेपमें दो प्रकारका कहा है––इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त। अग्निसे, धूमसे, शस्त्रसे, विषसे, जलसे, पर्वतके किनारेपर से गिर ने से, अति शीत–उष्णकी बाधा से, बंधनसे, क्षुधा–तृषाके रोकनेसे, जीभ उखाड़ने से और विरूद्ध आहार करने से बाल (अज्ञानी) इच्छापूर्वक मरे सो 'इच्छाप्रवृत्त' है तथा जीने का इच्छुक हो और मर जावे सो 'अनिच्छाप्रवृत्त' है।। ५।।

पंडितमरण चार प्रकार का है–––१ व्यवहार पंडित, २ सम्यक्त्वपंडित, ३ ज्ञानपंडित, ४ चारित्रपंडित। लोकशास्त्र के व्यवहार में प्रवीण हो वह 'व्यवहार पंडित' है। सम्यक्त्व सहित हो 'सम्यक्त्वपंडित' है। सम्यग्ज्ञान सहित हो 'ज्ञानपंडित' है। सम्यक्चारित्र सहित हो 'चारित्रपंडित' है। यहाँ दर्शन–ज्ञान–चारित्र सहित पंडितका ग्रहण है, क्योंकि व्यवहार–पंडित मिथ्यादृष्टि बालमरण में आ गया।। ६।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्षमार्गमें प्रवर्तने वाला साधु संघसे छूटा उसको 'आसन्न' कहते हैं। इसमें पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त भी लेने; इसप्रकार के पंचप्रकार भ्रष्ट साधुओंका मरण '**आसन्नमरण**' है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक का मरण '**बालपंडित मरण**' है।। ८।।

सशल्यमरण दो प्रकार का है-----मिथ्यादर्शन, माया, निदान ये तीन शल्य तो '**भावशल्य**' है और पंच स्थावर तथा त्रस में असैनी ये '**द्रव्यशल्य**' सहित हैं, इसप्रकार '**सशल्यमरण**' है।। ९।।

जो प्रशस्तक्रियामें आलसी हो, व्रतादिकमें शक्ति को छिपावे, ध्यानादिक से दूर भागे, इसप्रकार मरण '**पलायमरण**' है।। १०।।

वशार्त्तमरण चार प्रकार का है----वह आर्त्त – रौद्र ध्यानसहित मरण है, पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें राग–द्वेष सहित मरण '**इन्द्रियवशार्त्तमरण**' है। साता – असाता की वेदना सहित मरे '**वेदनावशार्त्तमरण**' है। क्रोध, मान, माया, लोभ, कषायके वश से मरे '**कषायवशार्त्तमरण**' है। हास्य विनोद कषाय के वश से मरे 'नोकषायवशार्त्तमरण' है ।। ११।।

जो अपने व्रत क्रिया चारित्र में उपसर्ग आवे वह सहा भी न जावे और भ्रष्ट होने का भय आवे तब अशक्त होकर अन्न–पानी का त्याग कर मरे '**विप्राणसमरण**' है।। १२।।

शस्त्र ग्रहणका मरण हो '**गृध्रपृष्ठमरण**' है।। १३।।

अनुक्रमसे अन्न–पानीका यथाविधि त्याग कर मरे '**भक्तप्रत्याख्यानमरण**' है।। १४।।

संन्यास करे और अन्यसे वैयावृत्त करावे '**इंगिनीमरण**' है।। १५।।

प्रायोपगमन संन्यास करे और किसी से वैयावृत्त न करावे, तथा अपने आप भी न करे, प्रतिमायोग रहे '**प्रायोपगमनमरण**' है।। १६।।

केवली मुक्ति प्राप्त हो '**केवलीमरण**' है।। १७।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार सत्रह प्रकार कहे। इनका संक्षेप इसप्रकार है---मरण पाँच प्रकार के हैं--१ पंडितपंडित, २ पंडित, ३ बालपंडित, ४ बाल, ५ बालबाल। जो दर्शन ज्ञान चारित्र के अतिशय सहित हो वह पंडितपंडित है और इनकी प्रकर्षता जिनके न हो वह पंडित है, सम्यग्दृष्टि श्रावक वह बालपंडित और पहिले चार प्रकारके पंडित कहे उनमेह से एक भी भाव जिसके नहीं है वह बाल है तथा जो सबसे न्यून हो वह बालबाल है। इनमें पंडितपंडितमरण, पंडितमरण और बालपंडितमरण ये तीन प्रशस्त सुमरण कहे हैं, अन्य रीति होवे वह कुमरण है। इसप्रकार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एकदेश सहित मरे वह 'सुमरण' है; इसप्रकार सुमरण करने का उपदेश है।। ३२।।

आगे यह जीव संसारमें भ्रमण करता है, उस भ्रमणके परावर्तन का स्वरूप मनमें धारणकर निरूपण करते हैं। प्रथम ही सामान्यरूप लोकके प्रदेशों की अपेक्षासे कहते हैं:---

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो।। ३३।।

सः नास्ति द्रव्यश्रमणः परमाणुप्रमाणमात्रोनिलयः।
यत्र न जातः न मृतः त्रिलोकप्रमाणकः सर्वः।। ३३।।

अर्थः--यह जीव द्रव्यलिंग का धारक मुनिपना होते हुए भी जो तीनलोक प्रमाण सर्व स्थान हैं उनमें एक परमाणु परिमाण एक प्रदेशमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहाँ जन्म-मरण न किया हो।

भावार्थः--द्रव्यलिंग धारण करके भी इस जीवने सर्व लोकमें अनन्तबार जन्म और मरण किये, किन्तु ऐसा कोई प्रदेश शेष न रहा कि जिसमें जन्म और मरण न किये हों। इसप्रकार भावलिंग के बिना द्रव्यलिंग से मोक्ष की (--निजपरमात्मदशा की) प्राप्ति नहीं हुई--ऐसा जानना।। ३३।।

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिये भावलिंग को प्रधान कर कहते हैं:---

---

त्रण लोकमां परमाणु सरखुं स्थान कोई रह्युं नथी,
ज्यां द्रव्यश्रमण थयेल जीव मर्यो नथी, जन्म्यो नथी। ३३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण।। ३४।।

कालमनंतं जीवः जन्मजरामरणपीडितः दुःखम्।
जिनलिंगेन अपि प्राप्तः परम्पराभावरहितेन।। ३४।।

अर्थः––यह जीव इस संसार में जिसमें परम्परा भावलिंग न होने से अनंतकाल पर्यन्त जन्म–जरा–मरण से पीड़ित दुःख को ही प्राप्त हुआ।

भावार्थः––द्रव्यलिंग धारण किया और उसमें परम्परासे भी भावलिंग की प्राप्ति न हुई इसलिये द्रव्यलिंग निष्फल गया, मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई, संसार में भ्रमण किया।

यहाँ आशय इसप्रकार है कि–––द्रव्यलिंग है वह भावलिंग का साधन है, परन्तु [१]काललब्धि बिना द्रव्यलिंग धारण करने पर भी भावलिंगकी प्राप्ति नहीं होती है, इसलिये द्रव्यलिंग निष्फल जाता है। इसप्रकार मोक्षमार्ग में प्रधान भावलिंग ही है। यहाँ कोई कहे कि इसप्रकार है तो द्रव्यलिंग पहले क्यों धारण करें? उसको कहते हैं कि–––इसप्रकार माने तो व्यवहार का लोप होता है, इसलिये इसप्रकार मानना जो द्रव्यलिंग पहिले धारण करना, इसप्रकार न जानना कि इसी से सिद्धि है। भावलिंगी को प्रधान मानकर उसके सन्मुख उपयोग रखना, द्रव्यलिंगको यत्नपूर्वक साधना, इसप्रकार का श्रद्धान भला है।। ३४।।

---

१ (१) काललब्धि– स्वसमय – निजस्वरूप परिणाम की प्राप्ति। (आत्मावलोकन गाथा० ९) (२) काललब्धि का अर्थ स्वकाल की प्राप्ति है। (३) 'यदायं जीवःआगमभाषाया कालादि लब्धिरूपमध्यात्मभाषाया शुद्धात्मभिमुखं परिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभंते....

अर्थ – जब यह जीव आगम भाषा से कालादि लब्धिको प्राप्त करता है तथा अध्यात्म भाषा से शुद्धात्माके सन्मुख परिणामरूप स्वसंवेदनज्ञान को प्राप्त करता है।' (पंचास्तिकाय गा० १५०–१५१ जयसेनाचार्य टीका) (४) विशेष देखो मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ९।।

जीव जनि–जरा–मृततप्त काळ अनंत पाम्यो दुःखने,
जिनलिंगने पण धारी पारंपर्यभावविहीनने। ३४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे पुद्गल द्रव्य को प्रधान कर भ्रमण कहते हैं:--

पडिदेससमयपुग्गल आउग परिणामणामकालट्ठं।
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे [१]जीव।। ३५।।

प्रतिदेशसमयपुद्गलायुः परिणामनामकालस्थम्।
गृहीतोज्झितानि बहुशः अनन्तभवसागरे जीवः।। ३५।।

अर्थः--इस जीवने इस अनन्त अपार भवसमुद्रमें लोककाशके जितने प्रदेश हैं उन प्रति समय समय और पर्याय के आयुप्रमाण काल और जैसा योगकषाय के परिणमनस्वरूप परिणाम और जैसा गति जाति आदि नाम कर्मके उदयसे हुआ नाम और काल जैसा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी उनमें पुद्गलके परमाणुरूप स्कन्ध, उनको बहुतबार अनन्तबार ग्रहण किये और छोड़े।

भावार्थः--भावलिंग बिना लोकमें जितने पुद्गल स्कन्ध हैं उन सबको ही ग्रहण किये और छोड़े तो भी मुक्त न हुआ।। ३५।।

आगे क्षेत्रको प्रधान कर कहते हैं:---

तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं लोयखेत्त परिमाणं।
मुत्तूणट्ठ पएसा जत्थण दुरुदुल्लिओ जीयो।। ३६।।

त्रिचत्त्वारिंशत् त्रीणि शतानि रज्जूनां लोकक्षेत्र परिमाणं।
मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् यत्र न भ्रमितः जीवः।। ३६।।

अर्थः--यह लोक तीनसौ तेतालीस राजू प्रमाण क्षेत्र है, उसके बीच मेरूके नीचे गोस्तनाकार आठ प्रदेश हैं, उनको छोड़कर अन्य प्रदेश ऐसा न रहा जिसमें यह जीव नहीं जन्मा -- मरा हो।

---

१ पाठान्तरः -- जीवो।

प्रतिदेश-पुद्गल-काळ-आयुष-नाम-परिणामस्थ तें
बहुशः शरीर ग्रह्यां-तज्यां निःसीम भवसागर विषे। ३५।

त्रणशत-अधिक चाळीश-त्रण रज्जुप्रमित आ लोकमां
तजी आठ कोई प्रदेश ना, परिभ्रमित नहि आ जीव ज्यां। ३६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः—'ढुरुढुल्लिओ' इसप्रकार प्राकृत में भ्रमण अर्थके धातुका आदेश है और क्षेत्रपरावर्तन में मेरूके नीचे आठ लोकके मध्यमें हैं उनको जीव अपने शरीरके अष्टमध्य प्रदेश बना कर मध्यदेश उपजता है, वहाँ से क्षेत्रपरावर्तन का प्रारंभ किया जाता है, इसलिये उनको पुनरुक्त भ्रमण में नहीं गिनते हैं।। ३६।। [देखो गो० जी० काण्ड गाथा ५६० पृ० २६६ मूलाचार अ० ९ गाथा १४ पृ० ४२८]

आगे यह जीव शरीर सहित उत्पन्न होता है और मरता है, उस शरीरमें रोग होते हैं, उनकी संख्या दिखाते हैं:—

एक्केक्कंगुलि बाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया।। ३७।।

एकैकांगुलौ व्याधयः षण्णयतिः भवंति जानीहि मनुष्यानां।
अवशेषे च शरीरे रोगाः भण कियन्तः भणिताः।। ३७।।

अर्थः—इस मनुष्य के शरीर में एक एक अंगुलमें छ्यानवे छ्यानवे रोग होते हैं, तब कहो, अवशेष समस्त शरीर में कितने रोग कहें।। ३७।।

आगे कहते हैं कि जीव! उन रोगोंका दुःख तूने सहा:—

ते रोया वि य सयला सह्या ते परवसेण पुव्वभवे।
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं।। ३८।।

ते रोगा अपि च सकलाः सढास्त्वया परवशेण पूर्वभवे।
एवं सहसे महायशः। किं वा बहुभिः लपितैः।। ३८।।

अर्थः—हे महाशय! हे मुने! तूने पूर्वोक्त रोगोंको पूर्वभवोंमें तो परवश सहे, इसप्रकार ही फिर सहेगा, बहुत कहने से क्या?

प्रत्येक अंगुल छन्नुं जाणो रोग मानव देहमां;
तो केटला रोगो, कहो, आ अखिल देह विषे, भला! ३७।

अे रोग पण सघळा सह्या तें पूर्वभवमां परवशे;
तुं सही रह्यो छे आम, यशधर; अधिक शुं कहीअे तने? ३८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ:––यह जीव पराधीन होकर सब दुःख सहता है। यदि ज्ञानभावना करे और दुःख आने पर उससे चलायमान न हो, इस तरह स्ववश होकर सहे तो कर्मका नाश कर मुक्त हो जावे, इसप्रकार जानना चाहिये।। ३८।।

आगे कहते हैं कि अपवित्र गर्भवास में भी रहा:––

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले।
उयरे वसिओ सि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं।। ३९।।

पित्तांत्रमूत्रफेफसयकृद्रुधिरखरिसकृमिजाले।
उदरे उषितोऽसि चिरं नवदशमासैः प्राप्तैः।। ३९।।

अर्थ:––हे मुने! तूने इसप्रकार के मलिन अपवित्र उदर में नव मास तथा दस मास प्राप्त कर रहा। कैसा है उदर? जिसमें पित्त और आंतोंसे वेष्टित, मूत्रका स्रवण, फेफस अर्थात् जो रुधिर बिना मेद फूल जावे, कालिज्ज अर्थात् कलेजा, खून, खरिस अर्थात् अपक्व मलसे मिला हुआ रुधिर श्लेष्म और कृमिजाल अर्थात् लट आदि जीवोंके समूह ये सब पाये जाते हैं––इसप्रकार स्त्री के उदर में बहुत बार रहा।। ३९।।

फिर इसी को कहते है:–––

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्त मण्णांते।
छद्दिखरिसाण मज्झे जढरे वसिओ सि जणणीए।। ४०।।

द्विजसंगस्थितमशनं आहृत्य मातृभुक्तमन्नान्ते।
छर्दिखरिसयोर्मध्ये जठरे उषितोऽसि जनन्याः।। ४०।।

अर्थ:––हे जीव! तू जननी (माता) के उदर (गर्भ) में रहा, वहाँ माताके और पिताके भोगके अन्त, छर्दि (वमन) का अन्न, खरिस (रुधिरसे मिला हुआ अपक्व मल

मळ–मूत्र–शोणित–पित्त–करम, बरोळ, यकृत, आंत्र ज्यां,
त्यां मास नव–दश तुं वस्यो बहु वार जननी–उदरमां ३९।

जननी तणुं चावेल ने खाधेल अेतुं खाईने,
तुं जननी केरा जठरमां वमनादिमध्य वस्यो अरे! ४०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के बीच में रहा, कैसा रहा? माता के दाँतोंसे चबाया हुआ और दाँतोंके लगा हुआ (रुका हुआ) झूठा भोजन के खाने के पीछे जो उदर में गया उसके रस रूपी आहार से रहा।। ४०।।

आगे कहते हैं कि गर्भ से निकल कर इसप्रकार बालकपन भोगा:--

सिसुकाले य अयाणे असूईमज्झम्मि लोलिओ सि तुमं।
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण।। ४१।।

शिशुकाले च अज्ञाने अशुचिमध्ये लोलितोऽसि त्वम्।
अशुचिः अशिता बहुशः मुनिवर! बालत्वप्राप्तेन।। ४१।।

अर्थः--हे मुनिवर! तू बचपन के समयमें अज्ञान अवस्थामें अशुचि [अपवित्र] स्थानोंमें अशुचिके बीच लेटा और बहुत बार अशुचि वस्तु ही खाई, बचपन को पाकर इसप्रकार चेष्टायें की।

भावार्थः--यहाँ 'मुनिवर' इसप्रकार सम्बोधन है वह पहलेके समान जानना; बाह्य आचरण सहित मुनि हो उसी को यहाँ प्रधानरूप से उपदेश है कि बाह्य आचरण किया वह तो बड़ा कार्य किया, परन्तु भावोंके बिना वह निष्फल है इसलिये भावके सन्मुख रहना, भावोंके बिना ही यह अपवित्र स्थान मिले हैं।। ४१।।

आगे कहते है कि यह देह इस प्रकार है उसका विचार करो:--

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं।
खरिसवसापूय [१]रिवब्भिस भरियं चिंतेहि देहउडं।। ४२।।

मांसास्थिशुक्र श्रोणितपित्तांत्रस्रयवत्कुणिमदुर्गन्धम्।
खरिसवसापूयकिल्विषभरितं चिन्तय देहकुटम्।। ४२।।

---

१ पाठान्तरः -- 'खिब्भिस'

तुं अशुचिमां लोट्यो घणुं शिशुकाळमां अणसमजमां,
मुनिवर! अशुचि आरोगी छे बहु वार तें बालत्वमां। ४१।

पल-पित्त-शोणित-आंइथी दुर्गंध शव सम ज्यां स्रवे,
चिंतव तुं [२]पीप-वसादि-अशुचि भरेल कायाकुंभने। ४२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ:––हे मुने! तू देहरूप घटको इसप्रकार विचार, कैसा है देह घट? मास, हाड, शुक्र (वीर्य), श्रोणित (रुधिर), पित्त (उष्ण विकार) और (आँतड़ियाँ) आदि द्वारा तत्काल मृतककी तरह दुर्गंध है तथा खरिस (रुधिरसे मिला अपक्वमल), वसा (मेद), पूय (खराब खून) और राध, इन सब मलिन वस्तुओं से पूरा भरा है, इसप्रकार देहरूप घट का विचार करो।

भावार्थ:––यह जीव तो पवित्र है, शुद्धज्ञानमयी है और यह देह इसप्रकार है, इसमें रहना अयोग्य है–––ऐसा बताया है।। ४२।।

आगे कहते हैं कि जो कुटुम्ब से छूटा वह नहीं छूटा, भाव से छूटे हुएको ही छूटा कहते हैं:–––

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण।
इय भाविऊण उज्झसु गंधं अब्भंतरं धीर।। ४३।।

भावविमुक्तः मुक्तः न च मुक्तः बांधवादिमित्रेण।
इति भावयित्वा उज्झय ग्रन्थमाभ्यंन्तरं धीर!।। ४३।।

अर्थ:––जो मुनि भावों से मुक्त हुआ उसी को मुक्त कहते हैं और बांधव आदि कुटुम्ब तथा मित्र आदि से मुक्त हुआ उसको मुक्त नहीं कहते हैं, इसलिये हे धीर मुनि! तू इसप्रकार जानकर अभ्यन्तर की वासना को छोड़।

भावार्थ:––जो बाह्य बांधव, कुटुम्ब तथा मित्र इनको छोड़कर निर्ग्रंथ हुआ और अभ्यंतर की ममत्वभावरूप वासना तथा इष्ट अनिष्ट में रागद्वेष वासना न छूटी तो उसको निर्ग्रंथ नहीं कहते हैं। अभ्यन्तर वासना छूटने पर निर्ग्रंथ होता है, इसलिये यह उपदेश है कि अभ्यन्तर मिथ्यात्व कषाय छोड़कर भावमुनि बनना चाहिये।। ४३।।

आगे कहते हैं कि जो पहिले मुनि हुए उन्होंने भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं पाई है। उनका उदाहरणमात्र नाम कहते हैं। प्रथम ही बाहुबली का उदाहरण कहते हैं:–––

रे! भावमुक्त विमुक्त छे, स्वजनादिमुक्त न मुक्त छे,
ईम भावीने हे धीर! तुं परित्याग आंतरग्रंथने। ४३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देहादिवत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं[१] कालं।। ४४।।

देहादित्यक्तसंग: मानकषायेन कलुषित: धीर।
आतापनेन जात: बाहुबली कियन्तं कालम्।। ४४।।

अर्थ:––देखो, बाहुबली श्री ऋषभदेवका पुत्र देहादिक परिग्रहको छोड़कर निर्ग्रंथ मुनि बन गया, तो भी मानकषाय से कलुष कुछ समय तक आतापन योग धारणकर स्थित हो गया, फिर भी सिद्धि नहीं पाई।

भावार्थ:––बाहुबली से भरतचक्रवर्ती ने विरोध कर युद्ध आरम्भ किया, भरत का अपमान हुआ। उसके बाद बाहुबली विरक्त होकर निर्ग्रंथ मुनि बन गये, परन्तु कुछ मान–कषाय की कलुषता रही कि भरत की भूमि पर मैं केसे रहूँ? तब कायोत्सर्ग योगसे एक वर्ष तक खड़े रहे परन्तु केवलज्ञान नहीं पाया। पीछे कलुषता मिटी तब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इसलिये कहते हैं कि ऐसे महान पुरुष बड़ी शक्ति के धारकके भी भाव शुद्धि के बिना सिद्धि नहीं पाई तब अन्य की क्या बात? इसलिये भावोंको शुद्ध करना चाहिये, यह उपदेश है।। ४४।।

आगे मधुपिंगल मुनि का उदाहरण देते हैं:–––

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो।
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय।। ४५।।

---

१ –'कित्तियं' पाठान्तर 'कितियं'

देहादि संग तज्यो अहो पण मलिन मानकषायथी
आतापना करता रह्या बाहुबल मुनि क्यां लगी? ४४।

तन–भोजनादि प्रवृत्तिना तजनार मुनि मधुपिंगले,
हे भव्यनूत! निदानथी ज लह्युं नहीं श्रमणत्वने। ४५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मधुपिंगो नाम मुनिः देहाहारादित्यक्तव्यापारः।
श्रमणत्वं न प्राप्तः निदानमात्रेण भव्यनुत!।। ४५।।

अर्थः——मधुपिंगल नाम का मुनि कैसा हुआ? देह आहारादि में व्यापार छोड़कर भी निदानमात्रसे भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ, उसको भव्य जीवोंसे नमने योग्य मुनि, तू देख।

भावार्थः——मधुपिंगल नामके मुनिकी कथा पुराण में है उसका संक्षेप ऐसे है———इस भरतक्षेत्रके सुरम्यदेशमें पोदानापुरका राजा तृणपिंगलका पुत्र मधुपिंगल था। वह चारणयुगलनगर के राजा सुयोधनकी पुत्री सुलसाके स्वयंवरमें आया था। वहीं साकेतपुरी का राजा सगर आया था। सगर के मंत्री ने मधुपिंगलको कपटसे नया सामुद्रिक शास्त्र बनाकर दोषी बताया कि इसके नेत्र पिंगल हैं (माँजरा हैं) जो कन्या इसको वरे वह मरण को प्राप्त हो। तब कन्याने सगरके गले में वरमाला पहिना दी। मधुपिंगलका वरण नहीं किया, तब मधुपिंगलने विरक्त होकर दीक्षा ले ली।

फिर कारण पाकर सगरके मंत्रीके कपटको जानकर क्रोधसे निदान किया कि मेरे तपका फल यह हो———'अगले जन्म में सगरके कुलको निर्मूल करूँ,' उसके पीछे मुनिपिंगल मरकर महाकालासुर नामका असुरदेव हुआ, तब सगरको मंत्री सहित मारने का उपाय सोचने लगा। इसको क्षीरकदम्ब ब्राह्मणका पुत्र पापी पर्वत मिला, तब उसको पशुओं की हिंसारूप यज्ञका सहायक बन ऐसा कहा। सगर राजा को यज्ञ का उपदेश करके यज्ञ कराया, तेरे यज्ञ में सहायक बनूँगा। तब पर्वत ने सगर से यज्ञ कराया———पशु होमे। उस पापसे सगर सातवें नरक गया और कालासुर सहायक बना सो यज्ञ करनेवालों को स्वर्ग जाते दिखाये। ऐसे मधुपिंगल नामक मुनिने निदानसे महाकालासुर बनकर महापाप कमाया, इसलिये आचार्य कहते हैं कि मुनि बन जाने पर भी भाव बिगड़ जावें तो सिद्धिको नहीं पाता है। इसकी कथा पुराणोंसे विस्तारसे जानो।। ४५।।

आगे विशिष्ठ मुनिका उदाहरण कहते हैं:———

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो।। ४६।।

अन्यश्च वसिष्ठमुनिः प्राप्तः दुखं निदानदोषेण।
तन्नास्ति वासस्थानं यत्र न भ्रमितः जीव!।। ४६।।

अर्थः––अन्य और एक विशिष्ठ नामक मुनि निदान के दोषसे दुःखको प्राप्त हुआ, इसलिये लोकमें ऐसा वासस्थान नहीं है जिसमें यह जीव–मरणसहित भ्रमणको प्राप्त नहीं हुआ।

भावार्थः––विशिष्ठ मुनिकी कथा ऐसे है–––गंगा और गंधवती दोनों नदियोंका जहाँ संगम हुआ है वहाँ जठरकौशिक नामकी तापसीकी पल्ली थी। वहाँ एक वशिष्ठ नामका तपस्वी पंचाग्निसे तप करता था। वहाँ गुणभद्र वीरभद्र नामके दो चारण मुनि आये। उस वशिष्ठ तपस्वी को कहा––जो तू अज्ञान तप करता है इसमें जीवोंकी हिंसा होती है, तब तपस्वी ने प्रत्यक्ष हिंसा देख और विरक्त होकर जैनदीक्षा ले ली, मासोपवाससहित आतापन योग स्थापित किया, उस तप के माहात्म्यसे सात व्यन्तर देवोंने आकर कहा, हमको आज्ञा दो सो ही करें, तब वशिष्ठने कहा, 'अभी तो मेरे कुछ प्रयोजन नहीं है, जन्मांतरमें तुम्हें याद करूँगा'। फिर वशिष्ठने मथुरापुरी में आकर मासोपवाससहित आतापन योग स्थापित किया।

उसको मथुरापुरी के राजा उग्रसेनने देखकर भक्तिवश यह विचार किया कि मैं इनको पारणा कराऊँगा। नगर में घोषणा करा दी की इन मुनिको और कोई आहार न दे। पीछे पारणा के दिन नगर में आये, वहाँ अग्निका उपद्रव देखकर अंतराय जानकर वापिस चले गये। फिर मासोपवास किया, फिर पारणा दिन नगर में आये तब हाथी का क्षोभदेख अंतराय जानकर वापिस चले गये। फिर मासोपवास किया, फिर पीछे पारणाके दिन फिर नगर में आये। तब राजा जरासिंधका पत्र आया, उसके निमित्त से राजाका चित्त व्यग्र था इसलिये मुनिको पडगाहा नहीं, तब अंतराय मान वापिस वनमें जाते हुए लोगोंके वचन सुने–राजा मुनिको आहार दे नहीं और अन्य देने वालों को मना कर दिया; ऐसे वचन सुन राजापर क्रोध कर निदान किया कि––इस राजाका पुत्र होकर राजाका निग्रह कर मैं राज करूँ, इस तपका मेरे यह फल हो, इसप्रकार निदान से मरा।

बीजाय साधु वसिष्ठ पाम्या दुःखने निदानथी;
अेवुं नथी को स्थान के जे स्थान जीव भम्यो नथी। ४६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

राजा उग्रसेनकी रानी पद्मावती के गर्भमें आया, मास पुरे होने पर जन्म लिया तब इसको क्रूर दृष्टि देखकर काँसीके संदूक में रक्खा और वृत्तान्तके लेख सहित यमुना नदीमें बहा दिया। कौशाम्बीपुर में मंदोदरी नामकी कलाली ने उसको लेकर पुत्रबुद्धिसे पालन किया, कंस नाम रखा। जब वह बड़ा हुआ तो बालकोंके साथ खेलते समय सबको दुःख देने लगा, तब मंदोदरी ने उलाहनोंके दुःख से इसको निकाल दिया। फिर यह कंस शौर्यपुर गया वहाँ वसुदेव राजा के पयादा (सेवक) बनकर रहा। पीछे जरासिंध प्रतिनारायण का पत्र आया कि जो पोदनपुर के राजा सिंहरथको बाँध लावे उसको आधे राज्य सहित पुत्री विवाहित कर दूँ। तब वसुदेव वहाँ कंस सहित जाकर युद्ध करके उस सिंहरथ को बाँध लाया, जरासिंधको सौंप दिया। फिर जरासिंधने जीवंशया पुत्री सहित आधा राज्य दिया, तब वसुदेव ने कहा– सिंहरथको कंस बाँधकर लाया है, इसको दो। फिर जरासिंध ने इसका कुल जानने के लिये मंदोदरी को बुला कर कुलका निश्चय करके इसको जीवंशया ब्याह दी; तब कंस ने मथुरा का राज्य लेकर पिता उग्रसेन राजा को और पद्मावती माता को बंदीखाने में डाल दिया, पीछे कृष्ण नारायणसे मृत्युको प्राप्त हुआ। इसकी कथा विस्तार पूर्वक उत्तर पुराणादि से जानिये। इसप्रकार विशष्ठ मुनिने निदानसे सिद्धिको नहीं पाई, इसलिये भावलिंगहीसे सिद्धि है।। ४६।।

आगे कहते हैं कि भावरहित चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता है:––

सो णत्थि तप्पएसो चउरासी लक्ख जोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीव।। ४७।।

सः नास्ति तं प्रदेशः चतुरशीतिलक्षयोनिवासे।
भावविरतः अपि श्रमणः यत्र न भ्रमितः [१]जीवः।। ४७।।

अर्थः–इस संसारमें चौरासीलाख योनि, उनके निवास में ऐसा कोई देश नहीं है जिसमें इस जीवने द्रव्यलिंगी मुनि होकर भी भावरहित होता हुआ भ्रमण नहीं किया हो।

---

१ पाठान्तर : –जीवो।

अेवो न कोई प्रदेश लख चोराशी योनिनिवासमां,
रे! भावविरहित श्रमण पण परिभ्रमणने पाम्यो न ज्यां। ४७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––द्रव्यलिंग धारण कर निर्ग्रन्थ मुनि बनकर शुद्ध स्वरूपके अनुभवरूप भाव बिना यह जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण ही करता रहा, ऐसा स्थान नहीं रहा जिसमें मरण नहीं हुआ हो।

आगे चौरासी लाख योनिके भेद कहते हैं–––पृथ्वी, अप, तेज, वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोद ये तो सात–सात लाख हैं, सब ब्यालीस लाख हुए, वनस्पति दस लाख हैं, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय दो – दो लाख हैं, पंचेन्द्रिय तिर्यंच चार लाख, देव चार लाख, मनुष्य चौदह लाख। इसप्रकार चौरासी लाख हैं। ये जीवोंके उत्पन्न होने के स्थान हैं।। ४७।।

आगे कहते हैं कि द्रव्यमात्रसे लिंगी नहीं होता है भावेसे होता है:–––

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण।। ४८।।

भावेन भवति लिंगी न हि भवति लिंगी द्रव्यमात्रेण।
तस्मात् कुर्याः भावं किं क्रियते द्रव्यलिंगेन।। ४८।।

अर्थः–– लिंगी होता है सो भावलिंग ही से होता है, द्रव्यलिंगसे लिंगी नहीं होता है यह प्रकट है; इसलिये भावलिंग ही धारण कराना, द्रव्यलिंगसे क्या सिद्ध होता है?

भावार्थः––आचार्य कहते हैं कि–––इससे अधिक क्या कहा जावे, भावलिंग बिना 'लिंगी' नाम ही नहीं होता है, क्योंकि यह प्रगट है कि भाव शुद्ध न देखें तब लोग ही कहें कि काहे का मुनि है? कपटी है। द्रव्यलिंग से कुछ सिद्धि नहीं है, इसलिये भावलिंग ही धारण करने योग्य है।। ४८।।

आगे इसीको दृढ़ करने के लिये द्रव्यलिंगधारकको उलटा उपद्रव हुआ, उदाहरण कहते हैं:–––

छे भावथी लिंगी, न लिंगी द्रव्यलिंगथी होय छे;
तेथी धरो रे! भावने, द्रव्यलिंगथी शुं साध्य छे? ४८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरए।। ४९।।

दण्डक नगरं सकलं दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण।
जिनलिंगेनापि बाहुः पतितः सः रौरवे नरके।। ४९।।

अर्थः––देखो, बाहु नामक मुनि बाह्य जिनलिंग सहित था तो भी अभ्यन्तर के दोषसे समस्त दंडक नामक नगर को दग्ध कर किया और सप्तम पृथ्वीके रौरव नामक बिल में गिरा।

भावार्थः––द्रव्यलिंग धारण कर कुछ तप करे, उससे कुछ सामर्थ्य बढ़े, तब कुछ कारण पाकर क्रोधसे अपना और दूसरेका उपद्रव करने का कारण बनावे, इसलिये द्रव्यलिंग भावसहित धारण करना श्रेष्ठ है और केवल द्रव्यलिंग तो उपद्रव का कारण होता है। इसका उदाहरण बाहु मुनि का बताया। उसकी कथा ऐसे है––––

दक्षिण दिशामें कुम्भकारकटक नगरमें दण्डक नामका राजा था। उसके बालक नामका मंत्री था। वहाँ अभिनन्दन आदि पाँचसौ मुनि आये, उनमें एक खंडक नामके मुनि थे। उन्होंने बालक नामके मंत्री को वादमें जीत लिया, तब मंत्रीने क्रोध करके एक भाँडको मुनिका रूप कराकर राजाकी रानी सुव्रताके साथ क्रीड़ा करते हुए राजा को दिखा दिया और कहा कि देखो! राजाके ऐसी भक्ति है जो अपनी स्त्री भी दिगम्बरको क्रीड़ा करनेके लिये दे दी है। तब राजाने दिगम्बरों पर क्रोध करके पाँचसौ मुनियोंको घानी में पिलवाया। वे मुनि उपसर्ग सहकर परमसमाधिसे सिद्धि को प्राप्त हुए।

फिर उस नगर में बाहु नामके एक मुनि आये। उनको लोगोंने मना किया कि यहाँ का राजा दुष्ट है इसलिये आप नगर में प्रवेश मत करो। पहिले पाँचसौ मुनियोंको घानी में पेल दिया है, वह आपका भी वही हाल करेगा। तब लोगोंके वचनों से बाहु मुनिको क्रोध उत्पन्न हुआ, अशुभ तैजससमुद्घातसे राजाको मंत्री सहित और सब नगर को भस्म कर दिया। राजा और मंत्री सातवें नरक रौरव नामक बिलमें गिरे, वह बाहु मुनि भी मरकर रौरव बिल में गिरे। इसप्रकार द्रव्यलिंग में भावके दोष से उपद्रव होते हैं, इसलिये भावलिंग का प्रधान उपदेश है।। ४९।।

दंडकनगर करी दग्ध सघळुं दोष अभ्यंतर वडे,
जिनलिंगथी पण बाहु अे उपज्या नरक रौरव विषे। ४९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे इस ही अर्थपर दीपायन मुनिका उदाहरण कहते हैं:---

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपठभट्ठो।
दीवावणो त्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ।।५०।।

अपर: अपि द्रव्यश्रमण: दर्शनवरज्ञान चरणप्रभ्रष्ट:।
दीपायन इति नाम अनन्तसांसारिक: जात:।।५०।।

अर्थ:--आचार्य कहते हैं कि जैसे पहिले बाहु मुनि कहा वैसे ही और भी दीपायन नामका द्रव्यश्रमण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्तसंसारी हुआ है।

भावार्थ:--पहिले की तरह इसकी कथा संक्षेपसे इसप्रकार है---नौंवें बलभद्र ने श्रीनेमीनाथ तीर्थंकर से पूछा कि हे स्वामिन्! यह द्वारकापुरी समुद्र में है इसकी स्थिति कितने समय तक है? तब भगवान ने कहा कि रोहिणी का भाई दीपायन तेरा मामा बारह वर्ष पीछे मद्य के निमित्त से क्रोध करके इस पुरीको दग्ध करगा। इसप्रकार भगवानके वचन सुन निश्चयकर दीपायन दीक्षा लेकर पूर्वदेशमें चला गया। बारह वर्ष व्यतीत करनेके लिये तप करना शुरु किया और बलभद्र नारायण ने द्वारिका में मद्य निषेध की घोषणा करा दी। मद्यके बरतन तथा उसकी सामग्री मद्य बनाने वालोंने बाहर पर्वतादि में फेंक दी। तब बरतनोंकी मदिरा तथा मद्य की सामग्री जलके गर्तोंमें फैल गई।

फिर बारह वर्ष बीते जानकर दीपायन द्वारिका आकर नगर के बाहर आतापनयोग धारणकर स्थित हुए। भगवानके वचन की प्रतीति न रखी। पीछे शंभवकुमारादि क्रीड़ा करते हुए प्यासे होकर कुंडोंमें जल जानकर पी गये। इस मद्यके निमित्तसे कुमार उन्मत्त हो गये। वहाँ दीपायन मुनिको खड़ा देखकर कहने लगे---'यह द्वारिका को भस्म करने वाला दीपायन है;' इसप्रकार कहकर उसको पाषाणादिक से मारने लगे। तब दीपायन भूमिपर गिर पड़ा, उसको क्रोध उत्पन्न हो गया, उसके निमित्त से द्वारिका जलकर भस्म हो गई। इसप्रकार भावशुद्धि के बिना अनन्तसंसारी हुआ।। ५०।।

वळी अे रीते बीजा दरवसाधु द्वीपायन नामना
वरज्ञानदर्शनचरणभ्रष्ट, अनंत संसारी थया। ५०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे भावशुद्धिसहित मुनि हुए उन्होंने सिद्धि पाई, उसका उदाहरण कहते हैं:--

भावसमणो य धीरो जुवईजणवेढिओ विसुध्धमई।
णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जाहो।। ५१।।

भावश्रमणश्च धीरः युवतिजनवेष्टितः विशुद्धमतिः।
नामना शिवकुमारः परित्यक्तसांसारिकः जातः।। ५१।।

अर्थः--शिवकुमार नामक भावश्रमण स्त्रीजनोंसे वेष्टित होते हुए भी विशुद्ध बुद्धिका धारक धीर संसार को त्यागने वाला हुआ।

भावार्थः--शिवकुमार ने भावकी शुद्धता से ब्रह्मस्वर्ग में विद्युन्माली देव होकर वहाँ से चय जंबूस्वामी केवली होकर मोक्ष प्राप्त किया। उसकी कथा इसप्रकार है:--

इस जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह में पुष्कलावती देशके वीतशोकपुरमें महापद्म राजा वनमाला रानी के शिवकुमार नामक पुत्र हुआ। वह एक दिन मित्र सहित वन क्रीड़ा करके नगर में आ रहा था। उसने मार्ग में लोगोंको पूजा की सामग्री ले जाते देखा। तब मित्र को पूछा---ये कहाँ जा रहे हैं? मित्र ने कहा, ये सागरदत्त नामक ऋद्धिधारी मुनिको पूजने के लिये वन में जा रहें हैं। तब शिवकुमारने मुनि के पास जाकर अपना पूर्व भव सुन संसार से विरक्त हो दीक्षा ले ली और दृढ़धर नामक श्रावकके घर प्रासुक आहार लिया। उसके बाद स्त्रियोंके निकट असिधाराव्रत परम ब्रह्मचर्य पालते हुए बारह वर्ष तक तप कर अन्त में संन्यासमरण करके ब्रह्मकल्पमें विद्युन्माली देव हुआ। वहाँ से चय कर जम्बुकुमार हुआ सो दीक्षा ले केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गया। इसप्रकार शिवकुमार भावमुनिने मोक्ष प्राप्त किया। इसकी विस्तार सहित कथा जम्बूचारित्र में हैं, वहाँ जानिये। इसप्रकार भावलिंग प्रधान है।। ५१।।

आगे शास्त्र भी पढ़ें और सम्यग्दर्शनादिरूप भाव विशुद्धि न हो तो सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता, उसका उदाहरण अभव्यसेनका कहते हैं:--

---

बहुयुवतिजनवेष्टितर छतां पण धीर शुद्धमति अहा!
अे भावसाधु शिवकुमार परीतसंसारी थया। ५१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलिजिणपण्णत्तं [१] एयादसअंग सयलसुयणाणं।
पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो।। ५२।।

केवलिजिनप्रज्ञप्तं एकादशांगं सकलश्रुतज्ञानम्।
पठितः अभव्यसेनः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः।। ५२।।

अर्थः––अभव्यसेन नामके द्रव्यलिंगी मुनिने केवली भगवान से उपदिष्ट ग्यारह अंग पढ़े और ग्यारह अंग को 'पूर्ण श्रुतज्ञान' भी कहते हैं, क्योंकि इतने पढ़े हुए को अर्थ अपेक्षा 'पूर्ण श्रृतज्ञान' भी हो जाता है। अभव्यसेन इतना पढ़ा तो भी भावश्रमणपने को प्राप्त न हुआ।

भावार्थः––यहाँ ऐसा आशय है कि कोई जानेगा बाह्यक्रिया मात्र से तो सिद्धि नहीं है और शास्त्र के पढ़ने से तो सिद्धि है तो इसप्रकार जानना भी सत्य नहीं है, क्योंकि शास्त्र पढ़ने मात्र से भी सिद्धि नहीं है–––अभव्यसेन द्रव्यमुनि भी हुआ और ग्यारह अंग भी पढ़े तो भी जिनवचन की प्राप्ति न हुई, इसलिये भावलिंग नहीं पाया। अभव्यसेन की कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है, वहाँसे जानिये।। ५२।।

आगे शास्त्र पढ़े बिना शिवभूति मुनिने तुषमाष भिन्न को घोखते ही भावकी विशुद्धि को पाकर मोक्ष प्राप्त किया। उसका उदाहरण कहते हैं:––

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुंड जाओ।। ५३।।

---

१ मुद्रित संस्कृत सटीक प्रति में यह गाथा इसप्रकार है:––––

अंगाइं दस य दुण्णि य चउदसपुव्वाई सयलसुयणाणं।
पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो।। ५२।।
अंगानि दश च द्वे च चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम्।
पठितश्च अभव्यसेनः न भाश्रमणत्वं प्रापतः।। ५२।।

जिनवरकथित अेकादशांगमयी सकल श्रुतज्ञानने
भणवा छतांय अभव्यसेन न प्राप्त भावमुनित्वने। ५२।

शिवभूतिनामक भावशुद्ध महानुभाव मुनिवरा
'तुषमाष' पदने गोखता पाम्या प्रगट सर्वज्ञता। ५३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तुषमांष घोषयन् भावविशुद्धः महानुभावश्च।
नाम्ना च शिवभूतिः केवलज्ञानी स्फुटं जातः।। ५३।।

अर्थः——आचार्य कहते हैं कि शिवभूति मुनिने शास्त्र नहीं पढ़े थे, परन्तु तुष माष ऐसे शब्दको रटते हुए भावोंकी विशुद्धतासे महानुभव होकर केवलज्ञान पाया, यह प्रकट है।

भावार्थः——कोई जानेगा कि शास्त्र पढ़नेसे ही सिद्धि है तो इसप्रकार भी नहीं है। शिवभूति मुनिने तुष माष ऐसा शब्दमात्र रटनेसे ही भावोंकी विशुद्धता से केवलज्ञान पाया। इसकी इसप्रकार है———कोई शिवभूति नामक मुनि था। उसने गुरुके पास शास्त्र पढ़े परन्तु धारणा नहीं हुई। तब गुरु ने यह शब्द पढ़ाया कि 'मा रुष मा तुष' सो इस शब्द को घोखने लगा। इसका अर्थ यह है कि रोष मत करे, तोष मत करे अर्थात् रागद्वेष मत करे, इससे सर्व सिद्ध है।

फिर यह भी शुद्ध याद न रहा तब 'तुषमाष' ऐसा पाठ घोखने लगा, दोनों पदोंके 'रुकार और– 'तुकार' भूल गये और '**तुषमाष**' इसप्रकार याद रह गया। उसको घोखते हुए विचारने लगे। तब कोई एक स्त्री उड़द की दाल धो रही थी, उसको किसीने पूछा तू क्या कर रही है? उसने कहा———तुष और माष भिन्न भिन्न कर रही हूँ। तब यह सुन कर मुनिने 'तुषमाष' शब्द का भावार्थ यह जाना कि यह शरीर तो तुष और यह आत्मा माष है, दोनों भिन्न भिन्न हैं। इसप्रकार भाव जानकर आत्मा का अनुभव करने लगा। चिन्मात्र शुद्ध आत्माको जानकर उसमें लनि हुआ, तब घाति कर्मका नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया। इसप्रकार भावोंकी विशुद्धता से सिद्धि हुई जानकर भाव शुद्ध करना, यह उपदेश है।। ५३।।

आगे इसी अर्थको सामान्यरूप से कहते हैं:———

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण।। ५४।।

भावेन भवति नग्नः बहिर्लिंगेन किं च नग्नेन।
कर्मप्रकृतीनां निकरं नाशयति भावेन द्रव्येण।। ५४।।

---

१ ——माकर, ऐसा पाठ सुसंगत है।

नग्नत्व तो छे भावथी; शुं नग्न बाहिर–लिंगथी?
रे! नाश कर्मसमूह केरो होय भावथी द्रव्यथी। ५४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––भावसे नग्न होता है, बाह्य नग्नलिंगसे क्या कार्य होता है? अर्थात् नहीं होता है, क्योंकि भावसहित द्रव्यलिंग से कर्मप्रवृत्तिके समूह का नाश होता है।

भावार्थः––आत्मा के कर्म प्रवृत्तिके नाश से निर्जरा तथा मोक्ष होना कार्य है। यह कार्य द्रव्यलिंग से नहीं होता। भावसहित द्रव्यलिंग होनेपर कर्म निर्जरा नामक कार्य होता है। केवल द्रव्यलिंगसे तो नहीं होता, इसलिये भावलिंग द्रव्यलिंग धारण करनेका यह उपदेश है।। ५४।।

आगे इसी अर्थको दृढ़ करेत हैंः–––

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।
इय णाऊण य णिय्यं भाविज्जहि अप्पयं धीर।। ५५।।

नग्नत्वं अकार्यं भावरहितं जिनैः प्रज्ञप्तम्।
इति ज्ञात्वा नित्यं भावयेः आत्मानं धीर!।। ५५।।

अर्थः––भावरहित नग्नत्व अकार्य हे, कुछ कार्यकारी नहीं है। ऐसा जिन भगवान ने कहा है। इसप्रकार जानकर है धीर! धैर्यवान मुने! निरन्तर नित्य आत्मा की ही भावना कर।

भावार्थः––आत्माकी भावना बिना केवल नग्नत्व कुछ कार्य करने वाला नहीं है, इसलिये चिदानन्दस्वरूप आत्मा की ही भावना निरन्तर करना, आत्मा की भावना सहित नग्नत्व सफल होता है।। ५५।।

आगे शिष्य पूछता है कि भावलिंगको प्रधान कर निरूपण किया वह भावलिंग कैसा है? इसका समाधान करने के लिये भावलिंगका निरूपण करते हैंः–––

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू।। ५६।।

नग्नत्व भावविहीन भाख्युं अकार्य देव जिनेश्वरे,
–ईम जाणीने हे धीर! नित्ये भाव तुं निज आत्मने। ५५।

देहादि संग विहीन छे, वर्ज्या सकळ मानादि छे,
आत्मा विषे रत आत्म छे, ते भावलिंगी श्रमण छे। ५६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देहादिसंगरहितः मानकषायैः सकलपरित्यक्तः।
आत्मा आत्मनि रतः स भावलिंगी भवेत् साधु।। ५६।।

अर्थः––भावलिंगी साधु ऐसा होता है–––देहादिक परिग्रहोंसे रहित होता है तथा मान कषायसे रहित होता है और आत्मामें लीन होता है, वही आत्मा भावलिंगी है।

भावार्थः––आत्माके स्वाभाविक परिणाम को 'भाव' कहते है, उस रूप लिंग (चिन्ह), लक्षण तथा रूप हो वह भावलिंग है। आत्मा अमूर्तिक चेतनारूप है, उसका परिणाम दर्शन ज्ञान है। उसमें कर्मके निमित्त से (–पराश्रय करने से) बाह्य तो शरीरादिक मूर्तिक पदार्थका संबन्ध है और अंतरंग मिथ्यात्व और रागद्वेष आदि कषायों का भाव है, इसलिये कहते हैं कि:––

बाह्य तो देहादिक परिग्रह से रहित और अंतरंग रागादिक परिणाममें अहंकार रूप मानकषाय, परभावोंमें अपनापन मानना इस भावसे रहित हो और अपने दर्शनज्ञानरूप चेतनाभावमें लीन हो वह 'भावलिंग' है, जिसको इसप्रकार के भाव हों वह भावलिंग साधु है।। ५६।।

आगे इसी अर्थ को स्पष्ट कर कहते है:––

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।। ५७।।

ममत्वं परिवर्जामि निर्ममत्वमुपस्थितः।
आलंबनं च मे आत्मा अवशेषानि व्युत्सृजामि।। ५७।।

अर्थः––भावलिंग मुनि के इसप्रकार के भाव होते है–––मैं परद्रव्य और परभावोंसे ममत्व (अपना मानना) को छोड़ता हूँ और मेरा निजभाव ममत्वरहित है उसको अंगीकार कर स्थित हूँ। अब मुझे आत्माका ही अवलंबन है, अन्य सभी को छोड़ता हूँ।

भावार्थः––सब परद्रव्योंका आलम्बन छोड़कर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो ऐसा 'भावलिंग' है।। ४७।।

आगे कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग, संवर और योग ये भाव भावलिंगी

परिवर्जुं छुं हुं ममत्व, निर्मम भावमां स्थित हुं रहुं;
अवलंबुं छुं मुज आत्मने, अवशेष सर्व हुं परिहरूं। ५७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मुनिके होते हैं, ये अनेक हैं तो भी आत्मा ही है, इसलिये इनसे भी अभेदका अनुभव करता है:———

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।५८।।

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे।।५८।।

अर्थः——भावलिंगी मुनि विचारते हैं कि——मेरे ज्ञानभाव प्रकट है उसमें आत्मा की ही भावना है, ज्ञान कोई भिन्न वस्तु नहीं है, ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसप्रकार ही दर्शनमें भी आत्मा ही है। ज्ञानमें स्थिर रहना चारित्र है, इसमें भी आत्मा ही है। प्रत्याख्यान (अर्थात् शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत स्वद्रव्यके आलंबन के बल से) आगामी परद्रव्य का संबन्ध छोड़ना है, इस भावमें भी आत्मा ही है, 'संवर' ज्ञानरूप रहना और परद्रव्य के भावरूप न परिणमना है, इस भावमें भी मेरा आत्मा ही है, और 'योग' का अर्थ एकाग्रचिंतारूप समाधि–ध्यान है, इस भावमें भी मेरा आत्मा ही है।

भावार्थः——ज्ञानादिक कुछ भिन्न पदार्थ तो हैं नहीं, आत्मा के ही भाव हैं, संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन भेद से भिन्न कहते हैं, वहाँ अभेददृष्टिसे देखें तो ये सब भाव आत्मा ही हैं इसलिये भावलिंगी मुनिके अभेद अनुभव में विकल्प नहीं है, अतः निर्विकल्प अनुभव से सिद्धि है यह जानकर इसप्रकार करता है।। ५८।।

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हुए कहते हैं:———

[अनुष्टुप श्लोक]

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।।५९।।

मुज ज्ञानमां आत्मा खरे, दर्शन–चरितमां आतमा,
पचखाणमां आत्मा ज, संवर–योगमां पण आतमा। ५८।

मारो सुशाश्वत अेक दर्शनज्ञानलक्षण जीव छे;
बाकी बधा संयोगलक्षण भाव मुजथी बाह्य छे। ५९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एकः मे शाश्वतः आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषाः मे बाह्याः भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः।। ५९।।

अर्थः––भावलिंगी मुनि विचारता है कि–––ज्ञान, दर्शन लक्षणरूप और शाश्वत् अर्थात् नित्य ऐसा आत्मा है वही एक मेरा है। शेष भाव हैं वे मुझसे बाह्य हैं, वे सब ही संयोगस्वरूप हैं, परद्रव्य हैं।

भावार्थः––ज्ञानदर्शनस्वरूप नित्य एक आत्मा है वह तो मेरा है, एक स्वरूप है और अन्य परद्रव्य हैं वे मुझसे बाह्य हैं, सब संयोगस्वरूप हैं, भिन्न हैं। यह भावना भावलिंगी मुनि के हैं।। ५९।।

आगे कहते हैं कि जो मोक्ष चाहे वह इसप्रकार आत्माकी भावना करेः–––

भावेह भवसुद्धं अप्पा सुविशुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइउणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं।। ६०।।

भावय भावशुद्धं आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव।
लघु चतुर्गति च्युत्वा यदि इच्छसि शाश्वतं सौख्यम्।। ६०।।

अर्थः––हे मुनिजनो! यदि चार गतिरूप संसारसे छूटकर शीघ्र शाश्वत सुखरूप मोक्ष तुम चाहो तो भावसे शुद्ध जैसे हो वैसे अतिशय विशुद्ध निर्मल आत्माको भावो।

भावार्थः––यदि संसार से निवृत्त होकर मोक्ष चाहो तो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित शुद्ध आत्मा को भावो, इसप्रकार उपदेश है।। ६०।।

आगे कहते हैं कि जो आत्माको भावे वह इसके स्वभावको जानकर भावे, वही मोक्ष पाता हैः–––

जो जीवो भावंतो जीव सहावं सुभावसंजुत्तो।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं।। ६१।।

तुं शुद्ध भावे भाव रे! सुविशुद्ध निर्मळ आत्मने,
जो शीघ्र चउगतिमुक्त थई इच्छे सुशाश्वत सौख्यने। ६०।

जे जीव जीवस्वभावने भावे, सुभावे परिणमे,
जर–मरणनो करी नाश ते निश्चय लहे निर्वाणने। ६१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

य: जीव: भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्त:।
स: जरामरणविनाशं करोति स्फुटं लभते निर्वाणम्।। ६१।।

अर्थ:––जो भव्यपुरुष जीवको भाता हुआ, भले भावसे संयुक्त हुआ जीवके स्वभावको जानकर भावे, वह जरा–मरणका विनाश कर प्रगट निर्वाण को प्राप्त करता है।

भावार्थ:––'जीव' ऐसा नाम तो लोक में प्रसिद्ध है, परन्तु इसका स्वभाव कैसा है? इसप्रकार लोगोंके यथार्थ ज्ञान नहीं है और मतांतर के दोष से इसका स्वरूप विपर्यय हो रहा है। इसलिये इसका यथार्थ स्वरूप जानकर भावना करते हैं वे संसार से निवृत्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।। ६१।।

आगे जीवका स्वरूप सर्वज्ञ देवने कहा है वह कहते हैं:––

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ।
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकरणणिम्मित्तो।। ६२।।

जीव: जिनप्रज्ञप्त: ज्ञानस्वभाव: च चेतनासहित:।
स: जीव: ज्ञातव्य: कर्मक्षयकरणनिमित्त:।। ६२।।

अर्थ:––जिन सर्वज्ञदेव ने जीवका स्वरूप इसप्रकार कहा है–––जीव है वह चेतनासहित है और ज्ञानस्वभाव है, इसप्रकार जीव की भावना करना, जो कर्मके क्षयके निमित्त जानना चाहिये।

भावार्थ:––जीवका चेतनासहित विशेषण करने से तो चार्वाक जीवको चेतना सहित नहीं मानता है उसका निराकरण है। ज्ञानस्वभाव विशेषणसे साँख्यमती ज्ञान को प्रधान धर्म मानता है, जीवको उदासीन नित्य चेतनारूप मानता है उसका निराकरण है और नैयायिकमती गुण–गुणीका भेद मानकर ज्ञान को सदा भिन्न मानता है उसका निराकरण है। ऐसे जीवके स्वरूपको भाना कर्मके क्षयका निमित्त होता है, अन्य प्रकार मिथ्याभाव है।। ६२।।

छे जीव ज्ञानस्वभाव ने चैतन्ययुत–भाख्युं जिने;
अे जीव छे ज्ञातव्य कर्मविनाशकरणनिमित्त जे। ६२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि जो पुरुष जीवका अस्तित्व मानते हैं वे *सिद्ध होते हैं :---

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।
ते होंति भिण्णदेहा: सिद्धा वचिगोयरमदीदा।।६३।।

येषां जीवस्वभाव: नास्ति अभाव: च सर्वथा तत्र।
ते भवन्ति भिन्नदेहा: सिद्धा: वचोगोचरातीता:।।६३।।

अर्थ:--जिन भव्यजीवोंके जीव नामक पदार्थ सद्भावरूप है और सर्वथा अभावरूप नहीं है, वे भव्यजीव देह से भिन्न तथा वचनगोचरातीत सिद्ध होते हैं।

भावार्थ:--जीव द्रव्यपर्यायस्वरूप है, कथंचित् अस्तिस्वरूप है, कथंचित् नास्तिस्वरूप है। पर्याय अनित्य है, इस जीवके कर्मके निमित्त से मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक पर्याय होती है, इसका कदाचित् अभाव देखकर जीवका सर्वथा अभाव मानते हैं। उनको सम्बोधन करने के लिये ऐसा कहा है कि जीवका द्रव्यदृष्टि से नित्य स्वभाव है। पर्याय का अभाव होने पर सर्वथा अभाव नहीं मानता है वह देह से भिन्न होकर सिद्ध परमात्मा होता है, वे सिद्ध वचनगोचर नहीं है। जो देह को नष्ट होते देखकर जीवका सर्वथा नाश मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं, वे सिद्ध परमात्मा कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं होते हैं।। ६३।।

आगे कहते हैं कि जो जीवका स्वरूप वचनके अगोचर है ओर अनुभवगम्य है वह इसप्रकार है:---

अरसमरुवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।६४।।

अरसमरूपमगंधं अव्यक्तं चेतनागुणं अशब्दम्।
जानीहि अलिंगग्रहणं जीवं अनिर्दिष्ट संस्थानम्।।६४।।

---

* सिद्ध – मुक्त–परमात्मदशाको प्राप्त।

'सत्' होय जीवस्वभाव ने न् 'असत्' सरवथा जेमने,
ते देहविरहित वचनविषयातीत सिद्धपणुं लहे। ६३।

जीव चेतनागुण, अरसरूप, अगंधशब्द, अव्यक्त छे,
वळी लिंगग्रहणविहीन छे, संस्थान भाख्युं न तेहने। ६४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––हे भव्य! तू जीवका स्वरूप इसप्रकार जान – कैसा है? **अरस** अर्थात् पाँच प्रकार के खट्टे, मीठे, कडुवे, कषायले और खारे रससे रहित है। काला, पीला, लाल, सफेद और हरा इसप्रकार **अरूप** अर्थात् पाँच प्रकार के रूप से रहित है। दो प्रकार की **गंध** से रहित है। **अव्यक्त** अर्थात् इन्द्रियोंके गोचर – व्यक्त नहीं है। **चेतना गुणवाला** है। **अशब्द** अर्थात् शब्द रहित है। **अलिंगग्रहण** अर्थात् जिसका कोई चिन्ह इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में नहीं आता है। **अनिर्दिष्ट संसथान** अर्थात् चौकोर, गोल आदि कुछ आकार उसका कहा नहीं जाता है, इसप्रकार जीव जानो।

भावार्थः––रस, रूप, गंध, शब्द ये तो पुद्गलके गुण हैं, इनका निषेधरूप जीव कहा; अव्यक्त, अलिंगग्रहण, अनिर्दिष्टसंस्थान कहा, इसप्रकार ये भी पुद्गलके स्वभाव की अपेक्षा से निषेधरूप ही जीव कहा और चेतना गुण कहा तो यह जीवका विधिरूप कहा। निषेध अपेक्षा तो वचनके अगोचर जानना और विधि अपेक्षा स्वसंवेदनगोचर जानना। इसप्रकार जीवका स्वरूप जानकर अनुभवगोचर करना। यह गाथा समयसार में ४६, प्रवचनसारमें १७२, नियमसारमें ४६, पंचास्तिकायमें १२७, धवला टीका पु० ३ पृ० २, लघु द्रव्यसंग्रह गाथा ५ आदि में भी है। इसका व्याख्यान टीकाकरने विशेष कहा है वह वहाँसे जानना चाहिये।। ६४।।

आगे जीवका स्वभाव ज्ञानस्वरूप भावना कहा, वह ज्ञान कितने प्रकारका भाना यह कहते हैं:–––

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्धं।
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो[१] होइ।। ६५।।

भावय पंचप्रकारं ज्ञानं अज्ञान नाशनं शीघ्रम्।
भावना भावितसहितः दिवशिवसुखभाजनं भवति।। ६५।।

अर्थः––हे भव्यजन! तू यह ज्ञान पाँच प्रकारसे भा, कैसा है यह ज्ञान? अज्ञान का नाश करने वाला है, कैसा होकर भा? भावना से भावित जो भाव उस सहित भा, शीघ्र भा, इससे तो दिव (स्वर्ग) और शिव (मोक्ष) का पात्र होगा।

भावार्थः––यद्यपि ज्ञान जाननेके स्वभावसे एक प्रकारका है तो भी कर्मके

---

१ 'भायेण' पाठान्तर 'भायणो'

तुं भाव झट अज्ञाननाशन ज्ञान पंचप्रकार रे!
अे भावनापरिणत स्वरग–शिवसौख्यनुं भाजन बने। ६५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्षयोपशम और क्षयकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है। उसमें मिथ्यात्वभाव की अपेक्षा से मति, श्रुत, अवधि ये तीन मिथ्याज्ञान भी कहलाते हैं, इसलिये मिथ्याज्ञानका अभाव करने के लिये मनि, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान स्वरूप पाँच प्रकारका सम्यज्ञान जानकर उनको भाना। परमार्थ विचार से ज्ञान एक ही प्रकार का है। यह ज्ञानकी भावना स्वर्ग–मोक्षकी दाता है।। ६५।।

आगे कहते हैं कि पढ़ना, सुनना भी भाव बिना कुछ नहीं है:–––

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारण भूदो सायारणयार भूदाणं।। ६६।।

पठितेनापि किं क्रियते किं वा श्रुतेन भावरहितेन।
भावः कारणभूतः सागारानगारभूतानाम्।। ६६।।

अर्थः––भावरहित पढ़ने सुनने से क्या होता है? अर्थात् कुछ भी कार्यकारी नहीं है, इसलिये श्रावकत्व तथा मुनित्व इनका कारणभूत भाव ही है।

भावार्थः––मोक्षमार्ग में एकदेश, सर्वदेश व्रतोंकी प्रवृत्तिरूप मुनि–श्रावकपना है, उन दोनोंका कारणभूत निश्चयसम्यगदर्शनादि भाव हैं। भाव बिना व्रतक्रियाकी कथनी कुछ कार्यकारी नहीं है, इसलिये ऐसा उपदेश है कि भाव बिना पढ़ने–सुनने आदिसे क्या होता है? केवलखेद मात्र है, इसलिये भावसहित जो करो वह सफल है। यहाँ ऐसा आशय है कि कोई जाने कि––पढ़ना–सुनना ही ज्ञान है तो इसप्रकार नहीं है, पढ़कर–सुनकर आपको ज्ञामस्वरूप जानकर अनुभव करे तब भाव जाना जाता है, इसलिये बारबार भावनासे भाव लगाने पर ही सिद्धि है।। ६६।।

आगे कहते हैं कि यदि बाह्य नगनपनेसे ही सिद्धि होतो नग्न तो सब ही होते हैं:–––

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता।। ६७।।

रे! पठन तेम ज श्रवण भावविहीनथी शुं सधाय छे?
सागार–अणगारत्वना कारणस्वरूपे भाव छे। ६६।

छे नग्न तो तिर्यंच–नारक सर्व जीवो द्रव्यथी;
परिणाम छे नहि शुद्ध ज्यां त्यां भावश्रमणपणुं नथी। ६७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रव्येण सकला नग्नाः नारकतिर्यंचश्च सकलसंघाताः।
परिणामेन अशुद्धाः न भावश्रमणत्वं प्राप्ताः।। ६७।।

अर्थः––द्रव्यसे बाह्यमें तो सब प्राणी नग्न होते हैं। नारकी जीव और तिर्यंच जीव तो निरन्तर वस्त्रादिसे रहित नग्न ही रहते हैं। 'सकलसंघात' कहनेसे अन्य मनुष्य आदि भी कारण पाकर नग्न होते हैं तो भी परिणामोंसे अशुद्ध हैं, इसलिये भावश्रमणपनेको प्राप्त नहीं हुए।

भावार्थः––यदि नग्न रहनेसे ही मुनिलिंग हो तो नारकी तिर्यंच आदि सब जीवसमूह नग्न रहते हैं वे सब ही मुनि ठहरे, इसलिये मुनिपना तो भाव शुद्ध होनेपर ही होता है। अशुद्ध भाव होने पर द्रव्य से नग्न भी हो तो भावमुनिपना नहीं पाता है।। ६७।।

आगे इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये केवल नग्नपने की निष्फलता दिखाते हैं:––

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ।
णग्गो ण लभते बोहिं जिणभावणवज्जिओ सूदूरं।। ६८।।

नग्नः प्राप्नोति दुःखं नग्नः संसारसागरे भ्रमति।
नग्नः न लभते बोधिं जिनभावनावर्जितः सुचिरं।। ६८।।

अर्थः––नग्न सदा दुःख पाता है, नग्न सदा संसार–समुद्रमें भ्रमण करता है और नग्न बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप स्वानुभवको नहीं पाता है, कैसा है वह नग्न––––– जो जिनभावनासे रहित है।

भावार्थः––'जिनभावना' जो सम्यग्दर्शन – भावना उससे रहित जो जीव है वह नग्न भी रहे तो बोधि जो सम्यग्दर्शन – ज्ञान –चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गको नहीं पाता है। इसलिये संसारसमुद्रमें भ्रमण करता हुआ संसारमें ही दुःखको पाता है तथा वर्तमानमें भी जो पुरुष नग्न होता है वह दुःखही को पाता है। सुख तो भावमुनि नग्न हों वे ही पाते हैं।। ६८।।

आगे इसी अर्थको दृढ़ करने के लिये कहते हैं––––जो द्रव्यनग्न होकर मुनि कहलावे उसका अपयश होता है:–––

ते नग्न पामे दुःखने, ते नग्न चिर भवमां भमे,
ते नग्न बोधि लहे नहीं, जिनभावना नहि जेहने। ६८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण।। ६९।।

अयशसां भाजनेन च किं ते नग्नेन पापमलिनेन।
पैशून्यहास मत्सरमायाबहुलेन श्रमणेन।। ६९।।

अर्थः––हे मुने! तेरे ऐसे नग्नपने से तथा मुनिपनेसे क्या साध्य है? कैसा है––पैशून्य अर्थात् दूसरे का दोष कहनेका स्वभाव, हास्य अर्थात् दूसरेकी हँसी करना, मत्सर अर्थात् अपने बराबरवालेसे ईर्ष्या रखकर दूसरेको नीचा करनेकी बुद्धि, माया अर्थात् कुटिल परिणाम, ये भाव उसमें प्रचुरता से पाये जाते हैं, इसलिये पापसे मलिन है और अयश अर्थात् अपकीर्तिका भाजन है।

भावार्थः––पैशून्य आदि पापोंसे मलिन इसप्रकार नग्नस्वरूप मुनिपने से क्या साध्य है? उलटा अपकीर्तिका भाजन होकर व्यवहारधर्मकी हँसी करानेवाला होता है, इसलिये भावलिंगी होना योग्य है।। ६९।।

आगे इसप्रकार भावलिंगी होनेका उपदेश करते हैं:---

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ।। ७०।।

प्रकट्य जिनवरलिंगं अभ्यन्तरभावदोषपरिशुद्धः।
भावमलेन च जीवः बाह्यसंगे मलिनयति।। ७०।।

अर्थः––हे आत्मन् तू अभ्यन्तर भावदोषोंसे अत्यन्त शुद्ध ऐसा जिनवर लिंग अर्थात् बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग प्रगट कर, भावशुद्धिके बिना द्रव्यलिंग बिगड़ जायेगा, क्योंकि भावमलिन जीव बाह्य परिग्रह में मलिन होता है।

भावार्थः––यदि भाव शुद्धकर द्रव्यलिंग धारणकरे तो भ्रष्ट न हो और भाव मलिन

शुं साध्य तारे अयशभाजन पापयुत नग्नत्वथी,
–बहु हास्य–मत्सर–पिशुनता–मायाभर्या श्रमणत्वथी? ६९।

थई शुद्ध आंतर–भाव मळविण, प्रगट कर जिनलिंगने;
जी भावमळथी मलिन बाहिर–संगमां मलिनित बने। ७०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होंतो बाह्य परिग्रहकी संगति द्रव्यलिंग भी बिगाड़े, इसलिये प्रधानरूपसे भावलिंगहीका उपदेश है, विशुद्ध भावोंके बिना बाह्यभेष धारण करना योग्य नहीं है।। ७०।।

आगे कहते हैं कि जो भावरहित नग्न मुनि है वह हास्यका स्थान है:--

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण।। ७१।।

धर्मे निप्रवासः दोषावासः च इक्षुपुष्पसमः।
निष्फलनिर्गुणकारः नटश्रमणः नग्नरूपेण।। ७१।।

अर्थः--धर्म अर्थात् अपना स्वभाव तथा दसलक्षणस्वरूपमें जिसका वास नहीं है वह जीव दोषोंका आवास है अथवा जिसमें दोष रहते हैं वह इक्षुके फूल समान हैं, जिसके न तो कुछ फल ही लगते हैं और न उनमें गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं। इसलिये ऐसा मुनि तो नग्नरूप करके नटश्रमण अर्थात् नाचने वाले भाँड़के स्वांग के समान हैं।

भावार्थः--जिसके धर्मकी वासना नहीं है उसमें क्रोधादिक दोष ही रहते हैं। यदि वह दिगम्बर रूप धारण करे तो वह मुनि इक्षुके फूल के समान निर्गुण और निष्फल है, ऐसे मुनिके मोक्षरूप फल नहीं लगते हैं। सम्यग्ज्ञानादि गुण जिसमें नहीं हैं वह नग्न होने पर भाँड़ जैसा स्वांग दीखता है। भाँड़ भी नाचे तब श्रृङ्गारादिक करके नाचे तो शोभा पावे, नग्न होकर नाचे तब हास्य को पावे, वैसे ही केवल द्रव्यनग्न हास्यका स्थान है।। ७१।।

आगे इसी अर्थके समर्थनरूप कहते हैं कि------द्रव्यलिंगी बोधि-समाधि जैसी जिनमार्गमें कही है वैसी नहीं पाता है:----

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले।। ७२।।

---

१ 'उच्छु' पाठान्तर 'इच्छु'

नग्नत्वधर पण धर्ममां नहि वास, दोषावास छे,
ते ईक्षुफूलसमान निष्फळ-निर्गुणी, नटश्रमण छे। ७१।

जे रागयुत जिनभावनाविरहित-दरवनिर्ग्रंथ छे,
पामे न बोधि-समाधिने ते विमळ जिनशासन विषे। ७२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ये रागसंगयुक्ता: जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रंथा:।
न लभंते ते समाधिं बोधिं जिनशासने विमले।। ७२।।

अर्थ:––जो मुनि राग अर्थात् अभ्यंतर परद्रव्यसे प्रीति, वही हुआ संग अर्थात् परिग्रह उससे युक्त हैं और जिनभावना अर्थात् शुद्धस्वरूपकी भावनासे रहित हैं वे द्रव्यनिर्ग्रंथ हैं तो भी निर्मल जिनशासन में जो समाधि अर्थात् धर्म–शुक्लध्यान और बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग को नहीं पाते।

भावार्थ:––द्रव्यलिंगी अभ्यन्तरका राग नहीं छोड़ता है, परमात्माका ध्यान नहीं करता है, तब कैसे मोक्षमार्ग पावे तथा कैसे समाधिमरण पावे।। ७२।।

आगे कहते हैं कि पहिले मिथ्यात्व आदिक दोष छोड़कर भावसे नग्न हो, पीछे द्रव्यमुनि बने यह मार्ग है:–––

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए।। ७३।।

भावेन भवति नग्न: मिथ्यात्वादीन् च दोषान् त्यक्त्वा।
पश्चात् द्रव्येणमुनि: प्रकट्यति लिंगं जिनाज्ञया।। ७३।।

अर्थ:––पहिले मिथ्यात्व आदि दोषोंको छोड़कर और भावसे अंतरंग नग्न हो, एकरूप शुद्धात्माका श्रद्धान – ज्ञान – आचरण करे, पीछे मुनि द्रव्यसे बाह्यलिंग जिन–आज्ञासे प्रकट करे, यह मार्ग है।

भावार्थ:––भाव शुद्ध हुए बिना पहिले ही दिगमबररूप धारण करले तो पीछे भाव बिगड़े तब भ्रष्ट हो जाय और भ्रष्ट होकर भी मुनि कहलाता रहे तो मार्गकी हँसी करावे, इसलिये जिन आज्ञा यही है कि भाव शुद्ध करके बाह्य मुनिपना प्रकट करो।।७३।।

आगे कहते हैं कि शुद्ध भाव ही स्वर्ग – मोक्षका कारण है, मलिनभाव संसार का कारण है:–––

मिथ्यात्व आदिक दोष छोडी नग्न भाव थकी बने,
पछी द्रव्यथी मुनिलिंग धारे जीव जिन–आज्ञा वडे। ७३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो।। ७४।।

भाव: अपि दिव्यशिवसोख्यभाजनं भाववर्जित: श्रमण:।
कर्ममलमलिनचित्त: तिर्यंगालयभाजनं पाप:।। ७४।।

अर्थ:––भाव ही स्वर्ग – मोक्षका कारण है, और भाव रहित श्रमण पापस्वरूप है, तिर्यंचगतिका स्थान है तथा कर्ममलसे मलिन चित्तवाला है।

भावार्थ:––भावसे शुद्ध है वह तो स्वर्ग–मोक्षका पात्र है और भावेस मलिन है वह तिर्यंचगतिमें निवास करता है।। ७४।।

आगे फिर भावके फलका माहात्म्य कहते हैं:––

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला।
चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही सुभावेण।। ७५।।

खचरामरमनुज करांजलिमालाभिश्च संस्तुता विपुला।
चक्रधरराजलक्ष्मी: लभ्यते बोधि: सुभावेन।। ७५।।

अर्थ:––सुभाव अर्थात् भले भावसे, मंदकषायरूप विशुद्धभावसे, चक्रवर्ती आदि राजाओंकी विपुल अर्थात् बड़ी लक्ष्मी पाता है। कैसी है––––खचर (विद्याधर), अमर (देव) और मनुज (मनुष्य) इनकी अंजुलिमाला (हाथोंकी अंजुलि) की पंक्तिसे संस्तुत (नमस्कारपूर्वक स्तुति करने योग्य) है और यह केवल लक्ष्मी ही नहीं पाता है, किन्तु बोधि (रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग) पाता है।

भावार्थ:––विशुद्ध भावोंका यह माहात्म्य है।। ७५।।

आगे भावोंके भेद कहते हैं:––––

छे भाव दिवशिवसौख्यभाजन; भाववर्जित श्रमण जे
पापी करममळमलिनमन, तिर्यंचगतिनुं पात्र छे। ७४।

नर अमर–विद्याधर वडे संस्तुत करांजलिपंक्तिथी
चक्री–विशाळविभूति बोधि प्राप्त थाय सुभावथी। ७५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं।। ७६।।

भाव: त्रिविधप्रकार: शुभोऽशुभ: शुद्ध एव ज्ञातव्य:।
अशुभश्च आर्त्तरौद्रं शुभ: धर्म्यं जिनवरेन्द्रै:।। ७६।।

अर्थ:––जिनवरदेवने भाव तीन प्रकारका कहा है––––१ शुभ, २ अशुभ और ३ शुद्ध। आर्त्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान है तथा धर्मध्यान शुभ है।। ७६।।

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह।। ७७।।

शुद्ध: शुद्धस्वभाव: आत्मा आत्मनि स: च ज्ञातव्य:।
इति जिनवरै: भणितं य: श्रेयान् तं समाचर।। ७७।।

अर्थ:––शुद्ध है वह अपना शुद्धस्वभाव अपने ही में इसप्रकार जिनवरदेवने कहा है, वह जानकर इनमें जो कल्याणरूप हो उसको अंगीकार करो।

भावार्थ:––भगवानने भाव तीन प्रकारके कहे हैं––––१ शुभ, २ अशुभ और ३ शुद्ध। अशुभ तो आर्त्त व रोद्र ध्यान है वे तो अति मलिन हैं, त्याज्य ही हैं। धर्मध्यान शुभ है, इसप्रकार यह कथंचित् उपादेय है इससे मंदकषायरूप विशुद्धि भावकी प्राप्ति है। शुद्ध भाव है वह सर्वथा उपादेय है क्योंकि यह आत्मा का स्वरूप ही है। इसप्रकार हेय जानकर त्याग और ग्रहण करना चाहिये, इसीलिये ऐसा कहा है कि जो कल्याणकारी हो वह अंगीकार करना यह जिनदेवका उपदेश है।। ७७।।

आगे कहते हैं कि जिनशासनका इसप्रकार माहात्म्य है:––––

शुभ, अशुभ तेमज शुद्ध–त्रण विध भाव जिनप्रज्ञप्त छे;
त्यां 'अशुभ' आरत–रौद्र ने 'शुभ' धर्म्य छे–भाख्युं जिने। ७६।

आत्मा विशुद्ध स्वभाव आत्म महीं रहे ते 'शुद्ध' छे;
–आ जिनवरे भाखेल छे; जे श्रेय, आचर तेहने। ७७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्त मोहसमचित्तो।
पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो।।७८।।

प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तः।
आप्नोति त्रिभुवनसारं बोधिं जिनशासने जीवः।।७८।।

अर्थः––यह जीव 'प्रगलितमानकषाय' अर्थात् जिसका मानकषाय प्रकर्षतासे गल गया है, किसी परद्रव्यसे अहंकाररूप गर्व नहीं करता है और जिसके मिथ्यात्वका उदयरूप मोह भी नष्ट हो गया है इसीलिये 'समचित्त' है, परद्रव्यमें ममकाररूप मिथ्यात्व और इष्ट–अनिष्ट बुद्धिरूप राग–द्वेष जिसके नहीं है, वह जिनशासनमें तीन भुवनमें सार ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को पाता है।

भावार्थः––मिथ्यात्वभाव और कषायभाव का स्वरूप अन्य मतों में यथार्थ नहीं है। यह कथन इस वीतरागरूप जिनमत में ही है, इसलिये यह जीव मिथ्यात्व कषाय के अभावरूप मोक्षमार्ग तीनलोक में सार जिनमत के सेवन ही से पाता है, अन्यत्र नहीं है।

आगे कहते हैं कि जिनशासनमें ऐसा मुनि ही तीर्थंकर–प्रकृति बाँधता है:––––

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण।
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण।।७९।।

विसयविरक्तः श्रमणः षोडशवरकारणानि भावयित्वा।
तीर्थंकरनामकर्म, बध्नाति अचिरेण कालेन।।७९।।

अर्थः––जिसका चित्त इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त है ऐसा श्रमण अर्थात् मुनि है यह सोलहकारण भावनाको भाकर 'तीर्थंकर' नाम प्रकृतिको थोड़े ही समयमें बाँध लेता है।

छे मलितमानकषाय, मोह विनष्ट थई समचित्त छे,
ते जीव त्रिभुवनसार बोधि लहे जिनेश्वरशासने। ७८।

विषये विरत मुनि सोळ उत्तम कारणोने भावीने,
बांधे अचिर काळे करम तीर्थंकरत्व–सुनामने। ७९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––यह भावक महात्म्य हे, [सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्वज्ञान सहित–स्वसन्मुखता सहित] विषयोंसे विरक्तभाव होकर सोलहकारण भावनाभावे तो अचिंत्य है महिमा जिसकी ऐसी तीनलोकसे पूज्य 'तीर्थंकर' नाम प्रकृतिको बाँधता है और उसको भोगकर मोक्षको प्राप्त होता है। ये सोलहकारण भावनाके नाम हैं, १– दर्शनविशुद्धि, २– विनयसंपन्नता, ३– शीलव्रतेष्वनतिचार, ४– अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५– संवेग, ६– शक्तितस्त्याग, ७– शक्तितस्तप, ८–साधुसमाधि, ९– वैयावृत्त्यकरण, १०– अर्हद्भक्ति, ११– आचार्यभक्ति, १२– बहुश्रुतभक्ति, १३– प्रवचनभक्ति, १४– आवश्यकापरिहाणि, १५– सन्मार्गप्रभावना, १६– प्रवचनवात्सल्य, इसप्रकार सोलहकारण भावना हैं। इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी टीकासे जानिये। इनमें सम्यग्दर्शन प्रधान है, यह न हो और पन्द्रह भावनाका व्यवहार हो तो कार्यकारी नहीं और यह हो तो पन्द्रह भावना का कार्य यही कर ले, इसप्रकार जानना चाहिये।। ७९।।

आगे भावकी विशुद्धता निमित्त आचरण कहते हैं:–––

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण।
धरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर।। ८०।।

द्वादशविधतपश्चरणं त्रयोदश क्रियाः भावय त्रिविधेन।
धर मनोमत्तदुरितं ज्ञानांकुशेन मुनिप्रवर!।। ८०।।

अर्थः––हे मुनिवर! मुनियोंमें श्रेष्ठ! तू बारह प्रकार के तपका आचरण कर और तेरह प्रकार की क्रिया मन–वचन–कायसे भा और ज्ञानरूप अंकुशसे मनरूप मतवाले हाथीको अपने वश में रख।

भावार्थः––यह मनरूप हाथी बहुत मदोन्मत है, वह तपश्चरण क्रियादिकसहित ज्ञानरूप अंकुश ही से वश में होता है, इसलिये यह उपदेश देते हैं, अन्यप्रकारसे वशमें नहीं होता है। ये बारह तपों के नाम हैं १– अनशन, २– अवमौदर्य, ३– वृत्तिपरिसंख्यान, ४– रसपरित्याग, ५–विविक्तशय्यासन, ६– कायक्लेश ये तो छह प्रकार के बाह्य तप हैं, और १– प्रायश्चित, २– विनय, ३– वैयावृत्त, ४–स्वाध्याय ५–व्युत्सर्ग ६– ध्यान ये छह प्रकार के अभ्यंतर तप हैं, इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी टीकासे जानना चाहिये।

तुं भाव बार–प्रकार तप ने तेर किरिया त्रणविधे,
वश राख मन–गज मत्तने मुनिप्रवर! ज्ञानांकुश वडे। ८०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तेरह क्रिया इसप्रकार हैं---पँच परमेष्ठी को नमस्कार ये पाँच क्रिया, छह आवश्यक क्रिया, [१]निषिधिक्रिया और [२]आसिकाक्रिया। इसप्रकार भाव शुद्ध होनेके कारण कहे।।८०।।

आगे द्रव्य – भावरूप सामान्यरूपसे जिनलिंगका स्वरूप कहते हैं:---

पंचविहचेलचायं खिदिसयण दुविहसंजमं भिक्खू।
भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं।। ८१।।

पंचविधचेलत्यागं क्षितिशयनं द्विविध संयमं भिक्षु।
भावभावयित्वा पूर्वं जिनलिंगं निर्मलं शुद्धम्।। ८१।।

अर्थ:--निर्मल शुद्ध जिनलिंग इसप्रकार है----जहाँ पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग है, भूमि पर शयन है, दो प्रकार का संयम है, भिक्षा भोजन है, भावितपूर्व अर्थात् पहिले शुद्ध आत्मा का स्वरूप परद्रव्य से भिन्न सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी हुआ, उसे बारम्बार भावना से अनुभव किया इसप्रकार जिसमें भाव है, ऐसा निर्मल अर्थात् बाह्यमलरहित शुद्ध अर्थात् अन्तर्मलरहित जिनलिंग है।

भावार्थ:--यहाँ लिंग द्रव्य–भावसे दो प्रकारका है। द्रव्य तो बाह्य त्याग अपेक्षा है जिसमें पाँच प्रकारके वस्त्रका त्याग है, वे पाँच प्रकार ऐसे हैं----१– अंडज अर्थात् रेशम से बना, २– बोंडुज अर्थात् कपास से बना, ३– रोमज अर्थात् ऊन से बना, ४– बल्कलज अर्थात् वृक्ष की छाल से बना, ५– चर्मज अर्थात् मृग आदिकके चर्मसे बना, इसप्रकार पाँच प्रकार कहे। इसप्रकार नहीं जानना कि इनके सिवाय और वस्त्र ग्राह्य हैं – ये तो उपलक्षण मात्र कहें हैं, इसलिये सबही वस्त्रमात्र का त्याग जानना।

भूमि पर सोना, बैठना इसमें काष्ठ – तृण भी गिन लेना। इन्द्रिय और मन को वश में करना, छहकाय जीवोंकी रक्षा करना---इसप्रकार दो प्रकारका संयम है।

---

१ निषिधिका---जिनमंदिर में प्रवेश करते ही गृहस्थ या व्यंतरादिदेव कोई उपस्थित है---ऐसा मानकर आज्ञार्थ 'निःसही' शब्द तीन बार बोलने में आता है, अथवा सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमें स्थिर रहना 'निःसही' है।
२ धर्मस्थान से बाहर निकलते समय विनयसह क्रियादि की आज्ञा मांगने के अर्थ में 'आसिका' शब्द बोले, अथवा पापक्रिया से मनमोड़ना 'आसिका' है।

भूशयन, भिक्षा, द्विविध संयम, पंचविध–पटत्याग छे,
छे भाव भावित पूर्व, ते जिनलिंग निर्मळ शुद्ध छे। ८१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भिक्षा–भोजन करना जिसमें कृत, कारित, अनुमोदना का दोष न लगे – छयालिस दोष टले, –बत्तीस अंतराय टले ऐसी विधिके अनुसार आहार करे। इसप्रकार तो बाह्यलिंग है और पहिले कहा वैसे हो व 'भावलिंग' है, इसप्रकार दो प्रकारका शुद्ध जिनलिंग कहा है, अन्य प्रकार श्वेताम्बरादिक कहते हैह वह जिनलिंग नहीं है।। ८१।।

आगे जिनधर्म की महिमा कहते हैं:–––––

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं।। ८२।।

यथा रत्नानां प्रवरं वज्रं यथा तरुगणानां गोशीरम्।
तथा धर्माणां प्रवरं जिनधर्मं भाविभवमथनम्।। ८२।।

अर्थ:––जैसे रत्नों में प्रवर (श्रेष्ठ) उत्तम वज्र (हीरा) है और जैसे तरुगण (बड़े वृक्ष) में गोसीर (बावन चन्दन) है, वैसे ही धर्मोंमें उत्तम भाविभवमथन (आगामी संसार का मथन करने वाला) जिनधर्म है, इससे मोक्ष होता है।

भावार्थ:––'धर्म' ऐसा सामान्य नाम तो लोक में प्रसिद्ध है और लोक अनेक प्रकार से क्रियाकांडादिकको धर्म जानकर सेवन करता है, परन्तु परीक्षा करने पर मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला जिनधर्म ही है, अन्य सब संसार के कारण है। वे क्रियाकांडादिक संसार ही में रखते हैं , कदाचित् संसार के भोगोंकी प्राप्ति कराते हैं तो भी फिर भोगों में लीन होता है, तब एकेन्द्रियादि पर्याय पाता है तथा नरक को पाता है। ऐसे अन्य धर्म नाममात्र हैं, इसलिये उत्तम जिनधर्म ही जानना।। ८२।।

आगे शिष्य पूछता है कि जिनधर्म को उत्तम कहा, **तो धर्मका क्या स्वरूप है**? उसका स्वरूप कहते हैं कि '**धर्म**' इसप्रकार है:–––––

रत्नो विषे ज्यम श्रेष्ठ हीरक, तरूगणे गोशीर्ष छे,
जिनधर्म भाविभवमथन त्यम श्रेष्ठ छे धर्मो विषे। ८२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।। ८३।।

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम्।
मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः।। ८३।।

अर्थः––जिनशासन में जिनेन्द्र देवने इसप्रकार कहा है कि–––पूजा आदिक में और व्रत सहित होना है वह तो 'पुण्य' ही है तथा मोह के क्षोभ से रहित जो आत्माका परिणाम वह 'धर्म' है।

भावार्थः––लौकिक जन तथा अन्यमती कई कहते हैं कि पूजा आदिक शुभ क्रियाओं में और व्रतक्रिया सहित है वह जिनधर्म है, परन्तु ऐसा नहीं है। जिनमत में जिनभगवान ने इसप्रकार कहा है कि ––– पूजादिक में और व्रत सहित होना है वह तो 'पुण्य' है, इसमें पूजा और आदि शब्द से भक्ति, वंदना, वैयावृत्य आदिक समझना, यह तो देव – गुरु – शास्त्र के लिये होता है ओर उपवास आदिक व्रत हैं वह शुभ क्रिया है, इनमें आत्मा का राग सहित शुभ परिणाम है उससे पुण्यकर्म होता है इसलिये इनको पुण्य कहते हैं। इसका फल स्वर्गादिक भोगों की प्राप्ति है।

मोहके क्षोभसे रहित आत्माके परिणाम धर्म समझिये। मिथ्यात्व तो अतत्त्वार्थ श्रद्धान है, क्रोध – मान – अरति – शोक – भय – जुगुप्सा ये छह द्वेषप्रकृति हैं और माया, लोभ, हास्य, रति ये चार तथा पुरुष, स्त्री, नपुंसक ये तीन विकार, ऐसी सात प्रकृति रागरूप हैं। इनके निमित्त से आत्मा का ज्ञान–दर्शनस्वभाव विकारसहित, क्षोभरूप चलाचल, व्याकुल होता है इसलिये इन विकारों से रहित हो तब शुद्धदर्शनज्ञानरूप निश्चय हो वह आत्मा का 'धर्म' है। इस धर्म से आत्माके आगामी कर्म का आस्रव रुककर संवर होता है और पहिले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। संपूर्ण निर्जरा हो जाय तब मोक्ष होता है तथा एकदेश मोह के क्षोभ की हानि होती है इसलिये शुभ परिणामोंको भी उपचार से धर्म कहते हैं और जो केवल शुभ परिणाम ही को धर्म मानकर संतुष्ट हैं उनकी धर्मकी प्राप्ति नहीं है, यह जिनमतका उपदेश है।। ८३।।

आगे कहते हैं कि जो 'पुण्य' ही को 'धर्म' जानकर श्रद्धान करता है उसके केवल भोग का निमित्त है, कर्मक्षय का निमित्त नहीं है:––––––

પૂજાદિમાં વ્રતમાં જિનોએ પુણ્ય ભાખ્યું શાસને;
છે ધર્મ ભાખ્યો મોહક્ષોભવિહીન નિજ પરિણામને। ૮૩।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। ८४।।

श्रद्धाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति।
पुण्यं भोगनिमित्तं न हि तत् कर्मक्षयनिमित्तम्।। ८४।।

अर्थः––जो पुरुष पुण्य को धर्म जानकर धद्धान करते हैं, प्रतीत करते हैं, रूचि करते हैं और स्पर्श करते हैं उनके 'पुण्य' भोगका निमित्त है। इससे स्वर्गादिक भोग पाता है और वह पुण्य कर्म के क्षय का निमित्त नहीं होता है, यह पगट जानना चाहिये।

भावार्थः––शुभ क्रियारूप पुण्यको धर्म जानकर इसका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करता है उसके पुण्य कर्मका बंध होता है, उससे स्वर्गादिके भोगोंकी प्राप्ति होती है और उससे कर्मका क्षय रूप संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं होता है।। ८४।।

आगे कहते हैं कि ––– जो आत्मा का स्वभावरूप धर्म है वह ही मोक्षका कारण है ऐसा नियम है:–––––

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।। ८५।।

आत्मा आत्मनि रतः रागदिषु सकलदोषपरित्यक्तः।
संसारतरणहेतुः धर्म इति जिनैः निर्दिष्टम्।। ८५।।

अर्थः––यदि आत्मा रागादिक समस्त दोषोंसे रहित होकर आत्मा ही में रत हो जाय तो ऐसे धर्म को जिनेश्वरदेव ने संसारसमुद्र से तरने का कारण कहा है।

भावार्थः––जो पहिले कहा था कि मोहके क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम है सो धर्म है, सो ऐसा धर्म ही संसार से पार के मोक्षका कारण भगवानने कहा है, यह नियम है।। ८५।।

परतीत, रुचि, श्रद्धान ने स्पर्शन करे छे पुण्यनुं
ते भोग केरूं निमित्त छे, न निमित्त कर्मक्षय तणुं। ८४।

रागादि दोष समस्त छोडी आतमा निजरत रहे
भवतरणकारण धर्म छे ते–अेम जिनदेवो कहे। ८५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिये कहते हैं कि---- जो आत्मा के लिये इष्ट नहीं करता है और समस्त पुण्यका आचरण करता है तो भी सिद्धि को नहीं पाता है:--

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाई करेदि णिरवसेसाइं।
तह विण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।। ८६।।

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति पुण्यानि करोति निरवशेषानि।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः।। ८६।।

अर्थः--अथवा जो पुरुष आत्माका इष्ट नहीं करता है, उसका स्वरूप नहीं जानता है, अंगीकार नहीं करता है और सब प्रकारके समस्त पुण्यको करता है, तो भी सिद्धि (मोक्ष) को नहीं पाता है किन्तु वह पुरुष संसार ही में भ्रमण करता है।

भावार्थः--आत्मिक धर्म धारण किये बिना सब प्रकारके पुण्य का आचरण करे तो भी मोक्ष नहीं होता है, संसार ही में रहता है। कदाचित् स्वर्गादिक भोग पावे तो वहाँ भोगों में आसक्त होकर रहे, वहाँ से चय एकेन्द्रियादिक होकर संसार ही में भ्रमण करता है।। ८६।।

आगे, इस कारणसे आत्मा ही का श्रद्धान करो, प्रयत्नपूर्वक जानो, मोक्ष प्राप्त करो, ऐसा उपदेश करते हैं:----

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण।। ८७।।

एतेन कारणेन च तं आत्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन।
येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन।। ८७।।

अर्थः--पहिले कहा था कि आत्मा का धर्म तो मोक्ष है, उसी कारण से कहते हैं

पण आत्मने इच्छया विना पुण्यो अशेष करे भले,
तोपण लहे नहि सिद्धिने, भवमां भमे–आगम कहे। ८६।

आ कारणे ते आत्मनी त्रिविधे तमे श्रद्धा करो,
ते आत्मने जाणो प्रयत्ने, मुक्तिने जेथी वरो। ८७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कि-----हे भव्यजीवों! तुम उस आत्मा को प्रयत्नपूर्वक सब प्रकार के उद्यम करके यथार्थ जानो, उस आत्मा का श्रद्धान करो, प्रतीति करो, आचरण करो। मन-वचन-काय से ऐसे करो जिससे मोक्ष पावो।

भावार्थः--जिसको जानने और श्रद्धान करने से मोक्ष हो उसीको जानना और श्रद्धान करना मोक्ष प्राप्ति कराता है, इसलिये आत्माको जानने का कार्य सब प्रकारके उद्यम पूर्वक करना चाहिये, इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिये भव्यजीवों को यही उपदेश है।। ८७।।

आगे कहते हैं कि बाह्य----हिंसादिक क्रिया के बिना ही अशुद्ध भावसे तंदुल मत्स्यतुल्य जीव भी सातवें नरक को गया, तब अन्य बड़े जीवों की क्या कथा?

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं।। ८८।।

मत्स्यः अपि शालिसिक्थः अशुद्धभावः गतः महानरकम्।
इति ज्ञात्वा आत्मानं भावय जिनभावनां नित्यम्।। ८८।।

अर्थः--हे भव्यजीव! तू देख, शालसिक्थ (तन्दुल नामका मत्स्य) वह भी अशुद्ध भावस्वरूप होता हुआ महानरक (सातवें नरक) में गया, इसलिये तुझे उपदेश देते हैं कि अपनी आत्मा को जानने के लिये निरंतर जिनभावना कर।

भावार्थः--अशुद्धभाव के महात्म्य से तन्दुल मत्स्य जैसा अल्पजीव भी सातवें नरक को गया, तो अन्य बड़े जीव क्यों न नरक जावें? इसलिये भाव शुद्ध करने का उपदेश है। भाव शुद्ध होने पर अपने और दूसरे के स्वरूप का जानना होता है। अपने और दूसरे के स्वरूप का ज्ञान जिनदेव की आज्ञा की भावना निरन्तर भाने से होता है, इसलिये जिनदेव की आज्ञा की भावना निरन्तर करना योग्य है।

तन्दुल मत्स्य की कथा ऐसे है-----काकन्दीपुरी का राजा सूरसेन था वह मांसभक्षीहो गया। अत्यन्त लोलुपी, मांस भक्षणका अभिप्राय रखता था। उसके 'पितृप्रिय' नामका रसोईदार था। वह अनेक जीवों का मांस निरन्तर भक्षण करता था। उसको सर्प डस गया तो मरकर स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य हो गया।

अविशुद्ध भावे मत्स्य तंदुल पण गयो महा नरकमां,
तेथी निजात्मा जाणी नित्य तुं भाव रे! जिनभावना। ८८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

राजा सूरसेन भी मर कर वहाँ ही उसी महामत्स्य के कान में तंदुल मत्स्य हो गया।

वहाँ महामत्स्य मुखमें अनेक जीव आवें, बाहर निकल जावें, तब तंदुल मत्स्य उनको देखकर विचार करे कि यह महामत्स्य अभागा है जो मुँह में आये हुए जीवों को खाता नहीं है। यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता तो इस समुद्र के सब जीवों को खा जाता। ऐसे भावोंके पापसे जीवों को खाये बिना ही सातवें नरकमें गया और महामत्स्य तो खानेवाला था सो वह तो नरक में जाय ही जाय।

इसलिये अशुद्धभाव सहित बाह्य पाप करना तो नरक का कारण है ही, परन्तु बाह्य हिंसादिक पापके किये बिना केवल अशुद्धभाव भी उसीके समान है, इसलिये भावोंमें अशुभ ध्यान छोड़कर शुभ ध्यान करना योग्य है। यहाँ ऐसा भी जानना कि पहिले राज पाया था सो पहिले पुण्य किया था उसका फल था,पीछे कुभाव हुए तब नरक गया इसलिये आत्मज्ञान के बिना केवल पुण्य ही मोक्ष का साधन नहीं है।। ८८।।

आगे कहते हैं कि भावरहित के बाह्य परिग्रहका त्यागादि सब निष्प्रयोजन है:---

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं।। ८९।।

बाह्यसंगत्यागः गिरिसरिद्दरीकंदरादौ आवासः।
सकलं ज्ञानाध्ययनं निरर्थकं भावरहितानार्म्।। ८९।।

अर्थः--जो पुरुष भाव रहित हैं, शुद्ध आत्माकी भावनासे रहित हैं और बाह्य आचरणसे सन्तुष्ट हैं, उनके बाह्य परिग्रहका त्याग है वह निरर्थक है। गिरि (पर्वत), दरी (पर्वत की गुफा), सरित् (नदी के पास), कंदर (पर्वत के जल से चिरा हुआ स्थान) इत्यादि स्थानोंमें आवास (रहना) निरर्थक है। ध्यान करना, आसन द्वारा मन को रोकना अध्ययन (पढ़ना) ---ये सब निरर्थक हैं।

भावार्थः--बाह्य क्रियाका फल आत्मज्ञान सहित हो तो सफल हो, अन्याय सब निरर्थक है। पुण्यका फल हो तो भी संसारका ही कारण है, मोक्षफल नहीं है।। ८९।।

रे! बाह्यपरिग्रहत्याग, पर्वत-कंदरादिनिवासने
ज्ञानाध्ययन सघळुं निरर्थक भावविरहित श्रमणने। ८९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे उपदेश करते हैं कि भावशुद्धि के लिये इन्द्रियादिक को वश करो, भावशुद्धिके बिना बाह्य भेषका आडम्बर मत करो:---

भंजसु इन्दियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु।। ९०।।

भंग्धि इन्द्रियसेनां भंग्धि मनोमर्कटं प्रयत्नेन।
मा जनरंजनकरणं बहिर्व्रतवेष त्वंकार्षी:।। ९०।।

अर्थ:---हे मुने! तू इन्द्रियोंकी सेना है उसका भंजन कर, विषयोंमें मत रम, मनरूप बंदर को प्रयत्नपूर्वक बड़ा उद्यम करके भंजन कर, वशीभूत कर और बाह्यव्रत का भेष लोकमें रंजन करने वाला मत धारण कर।

भावार्थ:---बाह्य मुनिका भेष लोकका रंजन करने वाला है, इसलिये यह उपदेश है; लोकरंजन से कुछ परमार्थ सिद्धि नहीं है, इसलिये इन्द्रिय और मनको वश में करने के लिये बाह्य यत्न करे तो श्रेष्ठ है। इन्द्रिय और मन को वश में किये बिना केवल लोकरंजनमात्र भेष धारण करने से कुछ परमार्थ सिद्धि नहीं है।। ९०।।

आगे फिर उपदेश कहते हैं:---

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धाए।
चेइयपवयणगुरुणं करेहि भत्तिं जिणाणाए।। ९१।।

नवनोकषायवर्गं मिथ्यात्वं त्यज भावशुद्ध्या।
चैत्यप्रवचनगुरुणां कुरु भक्तिं जिनाज्ञया।। ९१।।

अर्थ:---हे मुने! तू नव जो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद------ये नो कषायवर्ग तथ मिथ्यात्व इनको भावशुद्धि द्वारा छोड़ और निआज्ञा से चैत्य, प्रवचन, गुरु इनकी भक्ति कर।। ९१।।

तुं इन्द्रिसेना तोड मनमर्कट तुं वश कर यत्नथी,
नहि कर तुं जनरंजनकरण बहिरंग–व्रतवेशी बनी। ९०।

मिथ्यात्व ने नव नोकषाय तुं छोड भावविशुद्धिथी;
कर भक्ति जिन–आज्ञानुसार तुं चैत्य–प्रवचन–गुरु तणी। ९१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे फिर कहते हैं:--

तित्थयर भासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्ध भावेण सुयणाणं।। ९२।।

तीर्थंकरभाषितार्थं गणधरदेवै: ग्रथितं सम्यक्।
भावय अनुदिनं अतुलं विशुद्धभावेन श्रुतज्ञानम्।। ९२।।

अर्थ:--हे मुने! तू जिस श्रुतज्ञानको तीर्थंकर भगवानने कहा और गणधर देवोंने गूंथा अर्थात् शास्त्ररूप रचना की उसकी सम्यक् प्रकार भाव शुद्ध कर निरन्तर भावना कर। कैसा है वह श्रुतज्ञान? अतुल है, इसके बराबर अन्य मतका कहा हुआ श्रुतज्ञान नहीं है।। ९२।।

ऐसा करने से क्या होता है सो कहते हैं:---

[१]पीऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा।। ९३।।

[२]पीत्वा ज्ञानसलिलं निर्मथ्यतृषादाहशोषोन्मुक्ता।
भवंति शिवालयवासिन: त्रिभुवन चूडामणय: सिद्धा:।। ९३।।

अर्थ:--पूर्वोक्त प्रकार भाव शुद्ध करने पर ज्ञानरूप जलको पीकर सिद्ध होते हैं। कैसे हैं सिद्ध? निर्मथ्य अर्थात् मथा न जावे ऐसे तृषादाह शोष से रहित हैं, इस प्रकार सिद्ध होते है; ज्ञानरूप जल पीने का यह फल है। सिद्ध शिवालय अर्थात् मुक्तिरूप महलमें रहनेवाले हैं, लोकके शिखर पर जिनका वास है। इसीलिये कैसे हैं? तीन भुवनके चुड़ामणि हैं, मुकुटमणि हैं तथा तीन भुवन में ऐसा सुख नहीं है, ऐसे परमानंद अविनाशी सुखको वे भोगते हैं। इसप्रकार वे तीन भुवन के मुकुटमणि हैं।

---

१ पाठान्तर :- पाऊण। २ पाठान्तर :- प्राप्य।

तीर्थेशभाषित-अर्थमय, गणधर सुविरचित जेह छे,
प्रतिदिन तुं भाव विशुद्धभावे ते अतुल श्रुतज्ञानने। ९२।

जीव ज्ञानजळ पी, तीव्रतृष्णादाहशोष थकी छूटी,
शिवधामवासी सिद्ध थाय-त्रिलोकना चूडामणि। ९३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––शुद्ध भाव करके ज्ञानरूप जल पीने पर तृषादाह शोष मिट जाता है, इसलिये ऐसे कहा है कि परमानन्दरूप सिद्ध होते हैं।। ९३।।

आगे भाव शुद्धि के लिये फिर उपदेश करते हैं:––––

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण।
सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमोत्तूण।। ९४।।

दश दश द्वौ सुपरीषहान् सहस्व मुने! सकलकालं कायेन।
सूत्रेण अप्रमत्तः संयमघातं प्रमुच्य।। ९४।।

अर्थः––हे मुने! तू दस दस दो अर्थात् बाईस जो सुपरीषह अर्थात् ातिशय कर सहने योग्य को सूत्रेण अर्थात् जैसे जिनवचनमें कहे हैं उसी रीति से निःप्रमादी होकर संयमका घात दूरकर और अपनी कायसे सदाकाल निरंतर सहन कर।

भवार्थः––जैसे संयम न बिगड़े और प्रमादका निवारण हो वैसे निरन्तर मुनि क्षुधा, तृषा आदिक बाईस परीषह सहन करे। इनको सहन करनेका प्रयोजन सूत्रमें ऐसा कहा है कि––– इनके सहन करने से कर्म की निर्जरा होती है और संयम के मार्ग से छूटना नहीं होता है, परिणाम दृढ़ होते हैं।। ९४।।

आगे कहते हैं कि––––जो परीषह सहनेमें दृढ़ होता है वह उपसर्ग आने पर भी दृढ़ रहता है, च्युत नहीं होता, उसका दृष्टांत कहते हैं:––––

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण[१]।
तह साहू वि ण भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो।। ९५।।

---

१ 'मुदकेण' पाठान्तर 'मुदएण'।

बावीश परिषह सर्व काळ सहो मुने! काया वडे,
अप्रमत्त रही, सूत्रानुसार, निवारी संयमघातने। ९४।

पथ्थर रह्यो चिर पाणीमां भेदाय नहि पाणी वडे,
त्यम साधु पण भेदाय नहि उपसर्ग ने परीषह वडे। ९५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यथा प्रस्तरः न भिद्यते परिस्थितः दीर्घकाल मुदकेन।
तथा साधुरपि न भिद्यते उपसर्ग परीषहेभ्यः।। ९५।।

अर्थः––जैसे पाषाण जलमें बहुत कालतक रहने पर भी भेदको प्राप्त नहीं होता है वैसे ही साधु उपसर्ग – परीषहोंसे नहीं भिदता है।

भावार्थः––पाषाण ऐसा कठोर होता है कि यदि वह जलमें बहुत समय तक रहे तो भी उसमें जल प्रवेश नहीं करता है, वैसे ही साधुके परिणाम भी ऐसे दृढ़ होते हैं कि––उपसर्ग – परीषह आने पर भी संयमके परिणाम से च्युत नहीं होता है और पहिले कहा जो संयम का घात जैसे न हो वैसे परीषह सहे। यदि कदाचित् संयमका घात होता जाने तो जैसे घात न हो वैसे करे।। ९५।।

आगे, परीषह आने पर भाव शुद्ध रहे ऐसा उपाय कहते हैं:––

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं।। ९६।।

भावय अनुप्रेक्षाः अपराः पंचविंशतिभावनाः भावय।
भावरहितेन किं पुनः बाह्यलिंगेन कर्त्तव्यम्।। ९६।।

अर्थः––हे मुने! तू अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा हैं उनकी भावना कर और अपर अर्थात् अन्य पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावना कही है उनकी भावना कर, भावरहित जो बाह्यलिंग है उससे क्या कर्त्तव्य है? अर्थात् कुछ भी नहीं।

भावार्थः––कष्ट आने पर बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना योग्य है। इनके नाम ये हैं–––१ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभ, १२ धर्म––––इनका और पच्चत्स भावनाओंका भाना बड़ा उपाय है। इनका बारम्बार विन्तन करने से कष्ट में परिणाम बिगड़ते नहीं हैं, इसलिये यह उपदेश है।। ९६।।

आगे फिर भाव शुद्ध रखने को ज्ञानका अभ्यास करते हैं:–––

तुं भाव द्वादश भावना, वळी भावना पच्चीशने;
शुं छे प्रयोजन भावविरहित बाह्यलिंग थकी अरे! ९६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं।। ९७।।

सर्व वरित: अपि भावय नव पदार्थान् सप्त तत्त्वानि।
जीवसमासान् मुने! चतुर्दशगुणस्थाननामानि।। ९७।।

अर्थ:––हे मुने! तू सब परिग्रहादिकसे विरक्त हो गया है, महाव्रत सहित है तो भी भाव विशुद्धिके लिये नव पदार्थ, सप्त तत्त्व, चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान इनके नाम लक्षण भेदइत्यादिकों की भावना कर।

भावार्थ:––पदार्थों के स्वरूपका चिन्तन करना भावशुद्धिका बड़ा उपाय है इसलिये यह उपदेश है। इनका नाम स्वरूप अन्य ग्रंथोंसे जानना।। ९७।।

आगे भाव शुद्धिके लिये अन्य उपाय कहते हैं:–––––

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं णमोत्तूण।
मेहूणसण्णासत्तो भमिओ सि भवण्णवे भीमे।। ९८।।

नवविधब्रह्मचर्यं प्रकट्य अब्रह्म दशविधं प्रमुच्य।
मैथुनसंज्ञासक्त: भ्रमितोऽसि भवार्णवे भीमे।। ९८।।

अर्थ:––हे जीव! तू पहिले दस प्रकारका अब्रह्म है उसको छोड़कर नव प्रकारका ब्रह्मचर्य है उसको प्रगटकर, भावोंमें प्रत्यक्ष कर। यह उपदेश इसलिये दिया है कि तू मैथूनसंज्ञा जो कामसेवनकी अभिलाषा उसमें आसक्त होकर अशुद्ध भावोंसे इस भीम (भयानक) संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करता रहा।

भावार्थ:––यह प्राणी मैथुनसंज्ञा में आसक्त होकर गृहस्थपना आदिक अनेक उपायोंसे स्त्रीसेवनादिक अशुद्धभावोंसे अशुभ कार्यों में प्रवर्तता है, उससे इस भयानक संसारसमुद्र में भ्रमण करता है, इसलिये यह उपदेश है कि–––दस प्रकारके अब्रह्मको छोड़कर नव प्रकारके ब्रह्मचर्यको अंगीकार करो।

पूरणविरत पण भाव तुं नव अर्थ, तत्त्वो सातने,
मुनि! भाव जीवसमासने, गुणस्थान भाव तुं चौदने। ९७।

अब्रह्म दशविध टाळी तुं प्रगटाव नवविध ब्रह्मने;
रे! मिथुनसंज्ञासक्त तें कर्युं भ्रमण भीम भवार्णवे। ९८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दस प्रकारका अब्रह्म ये है------१ पहिले तो स्त्रीका चिन्तन होना, २ पीछे देखने की चिंता होना, ३ पीछे निः श्वास डालना, ४ पीछे ज्वर होना, ५ पीछे दाह होना, ६ पीछे काम की रुचि होना, ७ पीछे मूर्छा होना, ८ पीछे उन्माद होना, ९ पीछे जीनेका संदेह होना, १० पीके मरण होना, ऐसे दस प्रकारका अब्रह्म है।

नव प्रकारका ब्रह्मचर्य इसप्रकार है-------नव कारणोंसे ब्रह्मचर्य बिगड़ता है, उनके नाम ये हैं-------१ स्त्रीको सेवन करने की अभिलाषा, २ स्त्रीके अंगका स्पर्शन, ३ पुष्ट रसका सेवन, ४ स्त्रीसे संसक्त वस्तु शय्या आदिकका सेवन, ५ स्त्रीके मुख, नेत्र आदिकको देखना, ६ स्त्रीका सत्कार-पुरस्कार करना, ७ पहिले किये हुए स्त्रीसेवनको याद करना, ८ आगामी स्त्रीसेवनकी अभिलाषा करना, ९ मनवांछित इष्ट विषयोंका सेवन करना ऐसे नव प्रकार हैं। इनका त्याग करना सो नवभेदरूप ब्रह्मचर्य है अथवा मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदनासे ब्रह्मचर्यका पालन करना ऐसे भी नव प्रकार हैं। ऐसे करना सो भी भाव शुद्ध होनेका उपाय है।। ९८।।

आगे कहते है कि---जो भावसहित मुनि हैं सो आराधनाके चतुष्कको पाता है, भाव बिना वह संसार में भ्रमण करता है:---

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाच उक्कं च।
भाव रहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे।। ९९।।

भावसहितश्च मुनिनः प्राप्नोति आराधनाचतुष्कं च।
भावरहितश्च मुनिवर! भ्रमति चिरं दीर्घ संसारे।। ९९।।

अर्थः--हे मुनिवर! जो भाव सहित है सो दर्शन - ज्ञान -चारित्र -तप ऐसी आराधनाके चतुष्कको पाता है, वह मुनियोंमें प्रधान है और जो भावरहित मुनि है सो बहुत काल तक दीर्घसंसारमें भ्रमण करता है।

भावार्थः-- निश्चय सम्यक्त्वका शुद्ध आत्माका अनुभूतिरूप श्रद्धान है सो भाव है, ऐसे भावसहित हो उसके चार आराधना होती है उसका फल अरहन्त सिद्ध पद है, और ऐसे भाव से रहित हो उसके आराधना नहीं होती है, उसका फल संसार का भ्रमण है। ऐसा जानकर भाव शुद्ध करना यह उपदेश है।। ९९।।

भावे सहित मुनिवर लहे आराधना चतुरंगने;
भावे रहित तो हे श्रमण! चिर दीर्घसंसारे भमे। ९९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे भावही के फलको विशेषरूप से कहते हैं:---

पावंति भावसवणा कल्लाण परंपराइं सोक्खाइं।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेव जोणीए।।१००।।

पाप्नुवंति भावश्रमणाः कल्याणपरंपराः सौख्यानि।
दुःखानि द्रव्यश्रमणाः नरतिर्यक्कुदेवयोनौ।।१००।।

अर्थः--जो भावश्रमण हैं, वे जिनमें कल्याणकी परम्परा है ऐसे सुखोंको पाते हैं और जो द्रव्यश्रमण हैं वे तिर्यंच मनुष्य कुदेव योनिमें दुःखोंको पाते हैं।

भावार्थः--भावमुनि सम्यग्दर्शन सहित हैं वे तो सोलहकारण भावना भाकर गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण----पंचकल्याणक सहित तीर्थंकर पद पाकर मोक्ष पाते हैं और जो सम्यग्दर्शन रहित द्रव्यमुनि हैं वे तिर्यंच, मनुष्य, कुदेव योनि पाते हैं। यह भावके विशेष से फलका विशेष है।। १००।।

आगे कहते हैं कि अशुद्ध भावसे अशुद्ध ही आहार किया, इसलिये दुर्गति ही पाई:---

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्ध भावेण।
पत्तो सि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो।।१०१।।

षट्चत्वारिंशदोषदूषितमशनं ग्रसितं अशुद्धभावेन।
प्राप्तः असि महाव्यसनं तिर्यग्गतौ अनात्मवशः।।१०१।।

अर्थः--हे मुने! तुने अशुद्ध भावेस छियालीस दोषोंसे दूषित अशुद्ध अशन (आहार) ग्रस्या (खाया) इस कारण से तिर्यंचगति में पराधीन होकर महान (बड़े) व्यसन (कष्ट) को प्राप्त किया।

रे! भावमुनि कल्याणकोनी श्रेणियुत सौख्यो लहे;
ने द्रव्यमुनि तिर्यंच–मनुज–कुदेवमां दुःखो सहे। १००।

अविशुद्ध भावे दोष छेंताळीस सह ग्रही अशनने,
तिर्यंचगति मध्ये तुं पाम्यो दुःख बहु परवशपणे। १०१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––मुनि छियालीस दोषरहित शुद्ध आहार करता है, बत्तीस अंतराय टालता है, चौदह मलदोषरहित करता है, सो जो मुनि होकर सदोष ाहार करे तो ज्ञात होता है कि इसके भाव भी शुद्ध नहीं है। उसको उपदेश है कि–––हे मुनि! तुने दोष–सहित अशुद्ध आहार किया, इसलिये तिर्यंचगति में पहिले भ्रमण किया और कष्ट सहा, इसलिये भाव शुद्ध करके शुद्ध आहार कर जिससे फिर भ्रमण न करे। छियालीस दोषोंमें सोलह तो उद्गम दोष हैं, वे आहारके बनने के हैं, ये श्रावक आश्रित हैं। सोलह उत्पादन दोष हैं, ये मुनिके आश्रित हैं। दस दोष एषणाके हैं, ये आहारके आश्रित है। चार प्रमाणादिक हैं। इनके नाम तथा स्वरूप 'मूलाचार', 'आचारसार' ग्रंथसे जानिये।। १०१।।

आगे फिर कहते हैं:–––––

सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धीं दप्पेणऽधी पभुत्तूण।
पत्तो सि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत।। १०२।।

सचित्तभक्तपानं गृद्ध्या दर्पेण अधीः प्रभुज्य।
प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं अनादिकालेन त्वं चिन्तय।। १०२।।

अर्थः––हे जीव! तू दुर्बुद्धि (अज्ञानी) होकर अतिचार सहित तथा अतिगर्व (उद्धतपने) से सचित्त भोजन तथा पान, जीवसहित आहार – पानी लेकर अनादिकाल से तीव्र दुःखको पाया, उसका चिन्तवन कर – विचार कर।

भावार्थः––मुनिको उपदेश करते हैं कि–––अनादिकालसे जब तक अज्ञानी रहा जीवका स्वरूप नहीं जाना, तब तक सचित (जीवसहित) आहार – पानी करते हुए संसारमें तीव्र नरकादिकके दुःख को पाया। अब मुनि होकर भावशुद्ध करके सचित्त आहार – पानी मत करे, नहीं तो फिर पूर्ववत् दुःख भोगेगा।। १०२।।

आगे फिर कहते हैं:––––

तुं विचार रे! –तें दुःख तीव्र लह्यां अनादि काळथी,
करी अशन–पान सचित्तनां अज्ञान–गृद्धि–दर्पथी। १०२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कंदं मूलं बीवं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं।
असिऊण माणगव्वं भमिओ सि अणंतसंसारे।। १०३।।

कंदं मूलं बीजं पुष्पं पत्रादि किंचित् सचित्तम्।
अशित्वा मानगर्वे भ्रमित: असि अनंत संसारे।। १०३।।

अर्थ:––कंद – जमीकंद आदिक, बीज – चना आदि अन्नादिक, मूल – अदरक मूली गाजर आदिक, पुष्प – फूल, पत्र नागरबेल आदिक, इनको आदि लेकर जो भी कोई सचित्त वस्तु थी उसे मान (गर्व) करके भक्षण की। उससे हे जीव! तूने अनंत–संसारमें भ्रमण किया।

भावार्थ:––कन्दमूलादिक सचित्त अनन्त जीवोंकी काया है तथा अन्य वनस्पति बीजादिक सचित्त हैं इनको भक्षण किया। प्रथम तो मान करके कि–––हम तपस्वी हैं, हमारे घरबार नहीं है, वनके पुष्प – फलादिक खाकर तपस्या करते हैं,––ऐसे मिथ्यादृष्टि तपस्वी होकर मान करके खाये तथा गर्व से उद्धत होकर दोष समझा नहीं, स्वच्छंद होकर सर्वभक्षी हुआ। ऐसे इन कंदादिकको खाकर इस जीवने संसार भ्रमण किया। अब मुनि होकर इनका भक्षण मत करे, ऐसा उपदेश है। अन्यमतके तपस्वी कंदमूलादिक फल – फूल खाकर अपनेको महंत मानते हैं, उनका निषेध है।।१०३।।

आगे विनय आदिका उपदेश करते हैं, पहिले विनयका वर्णन है:–––

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति।। १०४।।

विनय: पंचप्रकारं पालय मनोवचनकाययोगेन।
अविनतनरा: सुविहितां ततो मुक्तिं न प्राप्नुवंति।। १०४।।

કંઈ કંદ–મૂલો, પત્ર–પુષ્પો, બીજ આદિ સચિત્તને
તું માન–મદથી ખાઈને ભટક્યો અનંત ભવાર્ણવે। १०३।

રે! વિનય પાંચ પ્રકારનો તું પાળ મન–વચ–તન વડે;
નર હોય જે અવિનીત તે પામે ન સુવિહિત મુક્તિને। १०४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––हे मुने! जिस कारणसे अविनयी मनुष्य भले प्रकार विहित जो मुक्ति उसको नहीं पाते हैं अर्थात् अभ्युदय तीर्थकरादि सहित मुक्ति नहीं पाते हैं, इसलिये हम उपदेश करते हैं कि––––हाथ जोड़ना, चरणोंमें गिरना, आने पर उठना, सामने जाना और अनुकूल वचन कहना यह पाँच प्रकार का विनय है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और इनके धारक पुरुष इनका विनय करना, ऐसे पाँच प्रकारके विनयको तू मन – वचन –काय तीनों योगोंसे पालन कर।

भावार्थः––विनय बिना मुक्ति नहीं है, इसलिये विनयका उपदेश है। विनयमें बड़े गुण हैं, ज्ञानकी प्राप्ति होती है, मान कषायका नाश होता है, शिष्टाचारका पालन है और कलहका निवारण है, इत्यादि विनय के गुण जानने। इसलिये जो सम्यग्दर्शन आदि में महान् है उनका विनय करो यह उपदेश है और जो विनय बिना जिनमार्गसे भ्रष्ट भये, वस्त्रादिक सहित जो मोक्षमार्ग मानने लगे उनका निषेध है।। १०४।।

आगे भक्तिरूप वैयावृत्यका उपदेश करते हैं:––––

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिण भत्ति परं विज्जावच्चं दसवियप्पं।। १०५।।

निजशक्त्या महायशः! भक्तिरागेण नित्यकाले।
त्वं कुरू जिन भक्ति परं वैयावृत्यं दशविकल्पम्।। १०५।।

अर्थः––हे महाशय! हे मुने! जिनभक्ति में तत्पर होकर, भक्तिके रागपूर्वक उस दस भेदरूप वैयावृत्यको सदाकाल तु अपनी शक्तिके अनुसार कर। 'वैयावृत्य' के दूसरे दुःख (कष्ट) आनेपर उसकी सेवा–चाकरी करनेको कहते हैं। इसके दस भेद हैं––१ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ तपस्वी, ४ शैक्ष्य, ५ ग्लान, ६ गण, ७ कुल, ८ संघ, ९ साधु १० मनोज्ञ–––– ये दस मुनि के हैं। इनका वैयावृत्य करते हैं इसलिये दस भेद कहे हैं।। १०५।।

आगे अपने दोषका गुरुके पास कहना, ऐसी गर्हाका उपदेश करते हैं:––––

तुं हे महायश! भक्तिराग वडे स्वशक्तिप्रमाणमां
जिनभक्तिरत दशभेद वैयावृत्त्यने आचर सदा। १०५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जं किंचिं कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेण।
तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण।।१०६।।

य: कश्चित् कृत: दोष: मनोवच: कायै: अशुभ भावेन।
तं गर्हं गुरुसकाशे गारवं मायां च मुक्त्वा।।१०६।।

अर्थ:––हे मुने! जो कुछ मन–वचन–कायके द्वारा अशुभ भावोंसे प्रतिज्ञा में लगा हो उसको गुरुके पास अपना गौरव (महंतपनेका गर्व) छोड़कर और माया (कपट) छोड़कर मन–वचन–कायको सरल करके गर्हा कर अर्थात् वचन द्वारा प्राकशित कर।

भावार्थ:––अपने कोई दोष लगा हो और निष्कपट होकर गुरुको कहे तो वह दोष निवृत्त हो जावे। यदि आप शल्यवान रहे तो मुनिपदमें वह बड़ा दोष है, इसलिये अपना दोष छिपाना नहीं, जैसा हो वैसा सरलबुद्धिसे गुरुओं के पास कहे तब दोष मिटे यह उपदेश है। कालके निमित्तसे मुनिपद से भ्रष्ट भये, पीछे गुरुओंके पास प्रायश्चित नहीं लिया, तब विपरीत होकर अलग सम्प्रदाय बना लिये, ऐसे विपर्यय हुआ।। १०६।।

आगे क्षमाका उपदेश करते हैं:––

दुज्जवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा।।१०७।।

दुर्जनवचनचपेटां निष्ठुरकटुकं सहन्ते सत्पुरुषा:।
कर्ममलनाशनार्थं भावेन च निर्ममा: श्रमणा:।।१०७।।

अर्थ:––सत्पुरुष मुनि हैं वे दुर्जनके वचनरूप चपेट जो निष्ठुर (कठोर) दयारहित और कटुक (सुनते ही कानोंको कड़े शूल समान लगे) ऐसी चपेट हैं उसको सहते हैं। वे किसलिये सहते हैं? कर्मोंका नाश होने के लिये सहते हैं। पहले अशुभ कर्म बाँधे थे उसके निमित्त से दुर्जनने कटुक वचन कहे, आपने सुने, उसको उपशम

तें अशुभ भावे मन–वच–तनथी क्यों कंई दोष जे,
कर गर्हणा गुरुनी समीपे गर्व–माया छोडीने। १०६।

दुर्जन तणी निष्ठुर–कटुक वचनोरूपी थप्पड सहे
सत्पुरुष निर्ममभावयुत–मुनि कर्ममळलयहेतुओ। १०७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परिणामसे आप सहे तब अशुभकर्म उदय होय खिर गये। ऐसे कटुकवचन सहने से कर्मका नाश होता है।

वे मुनि सतपुरुष कैसे हैं? अपने भावसे वचनादिकसे निर्ममत्व हैं, वचनसे तथा मानकषायसे और देहादिकसे ममत्व नहीं है। ममत्व दो तो दुर्वचन सहे न जावें, यह न जाने कि इसने मुझे दुर्वचन कहे, इसलिये ममत्वके अभावसे दुर्वचन सहते हैं। अतः मुनि होकर किसी पर क्रोध नहीं करना यह उपदेश है। लौकिक में भी जो बड़े पुरुष हैं वे दुर्वचन सुनकर क्रोध नहीं करते हैं, तब मुनिको सहना उचित ही है। जो क्रोध करते हैं वे कहनेके तपस्वी हैं, सच्चे तपस्वी नहीं हैं।। १०७।।

आगे क्षमाका फल कहते हैं:------

पावं खवइ असेसं खमाए पडिमंडिओ च मुणिपवरो।
खेवर अमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ।।१०८।।

पापं क्षिपति अशेषं क्षमया परिमंडित च मुनिप्रवरः।
खेचरामरनराणां प्रशंसनीयं ध्रुवं भवति।।१०८।।

अर्थः––जो मुनिप्रवर (मुनियोंमें श्रेष्ठ, प्रधान) क्रोधके अभावरूप क्षमासे मंडित हैं वह मुनि समस्त पापोंका क्षय करता है और विद्याधर – देव – मनुष्यों द्वारा प्रशंसा करने योग्य निश्चय से होता है।

भावार्थः––क्षमा गुण बड़ा प्रधान है, इससे सबके स्तुति करने योग्य पुरुष होता है। जो मुनि है उनके उत्तम क्षमा होती है, वे तो सब मनुष्य – देव – विद्याधरोंके स्तुति योग्य होते ही हैं और उनके सब पापोंका क्षय होता ही है, इसलिये क्षमा करना योग्य है––ऐसा उपदेश है। क्रोधी सबके निंदा करने योग्य होता है, इसलिये क्रोधका छोड़ना श्रेष्ठ है।। १०८।।

आगे ऐसे क्षमागुणको जानकर क्षमा करना और क्रोध छोड़ना ऐसा कहते है:-----

---

मुनिप्रवर परिमंडित क्षमाथी पाप निःशेषे दहे,
नर–अमर–विद्याधर तणा स्तुतिपात्र छे निश्चितपणे। १०८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयल जीवाणं।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह।। १०९।।

इति ज्ञात्वा क्षमागुण! क्षमस्व त्रिविधेन सकलजीवान्।
चिरसंचित क्रोध शिखिनं वर क्षमासलिलेन सिंच।। १०९।।

अर्थः––हे क्षमागुण मुने! [जिसके क्षमागुण है ऐसे मुनिका संबोधन है] इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार क्षमागुण को जान और सब जीवों पर मन–वचन–काय से क्षमा कर तथा बहुत कालसे संचित क्रोधरूपी अग्निको शमारूप जलसे सींच अर्थात् शमन कर।

भावार्थः––क्रोधरूपी अग्नि पुरुष के भले गुणोंको दग्ध करने वाली है और परजीवोंका घात करने वाली है, इसलिये इसको क्षमारूप जलसे बुझाना, अन्य प्रकार यह बुझती नहीं है और क्षमा गुण सब गुणोंमें प्रधान है। इसलिये यह उपदेश है कि क्रोध को छोड़कर क्षमा ग्रहण करना।। १०९।।

आगे दीक्षाकालादिककी भावना का उपदेश करते हैं:–––

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो।
उत्तम बोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिऊण।। ११०।।

दीक्षाकालादिकं भावय अविकारदर्शनविशुद्धः।
उत्तमबोधिनिमित्तं असारसाराणि ज्ञात्वा।। ११०।।

अर्थः––हे मुने! तू संसारको असार जानकर उत्तमबोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्तिके निमित्त अविकार अर्थात् अतिचाररहित निर्मल सम्यग्दर्शन सहित होकर दीक्षाकाल आदिककी भावना कर।

भावार्थः––दीक्षा लेते हैं तब संसार, (शरीर) भोगको (विशेषतया) असार जानकर अत्यंत वैराग्य उत्पन्न होता है, वैसे ही उसके आदि शब्दसे रोगोत्पत्ति, मरणाकालादिक जानना।

तेथी क्षमागुणधर! क्षमा कर क्रव सौने त्रण विधे;
उत्तम क्षमा जळ सींच तुं चिरकाळना क्रोधाग्निने। १०९।

सुविशुद्धदर्शनधरपणे वरबोधि केरा हेतुअे
चिंतव तुं दीक्षाकाळ–आदिक, जाणी सार–असारने। ११०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उस समयमें जैसे भाव हों वैसे ही संसारको असार जानकर, विशुद्ध सम्यग्दर्शन सहित होकर, उत्तमबोधि जिससे केवलज्ञान उत्पन्न होता है, उसके लिये दीक्षाकालादिक की निरन्तर भावना करना योग्य है, ऐसा उपदेश है ।। ११०।।

[**निरन्तर स्मरणमें रखना**:———क्या? सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की वृद्धि हेतु हे मुनि! दीक्षाके समयकी अपूर्व उत्साहमय तीव्र विरक्त दशाको, किसी रोगोत्पत्तिके समय उग्र ज्ञान–वैराग्य संपत्तिको, किसी दुःखके अवसर पर प्रगट हुई उदासीनताकी भावनाको, किसी उपदेश तथा तत्त्वविचारके धन्य अवसर पर जगी पवित्र अंतःभावनाको स्मरणमें रखना, निरन्तर स्वसन्मुखज्ञातापन को धीरज अर्थ स्मरणमें रखना, भूलना नहीं। (इस गाथाका विशेष भावार्थ)]

आगे भावलिंग शुद्ध करके द्रव्यलिंग सेवनका उपदेश करते हैं:———

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं।। १११।।

सेवस्य चतुर्विधलिंगं अभ्यंतरलिंगशुद्धिमापन्नः।
बाह्यलिंगमकार्यं भवति स्फुटं भावरहितानाम्।। १११।।

अर्थः——हे मुनिवर! तू अभ्यंतरलिंगी शुद्धि अर्थात् शुद्धताको प्राप्त होकर चार प्रकारके बाह्यलिंगका सेवन कर, क्योंकि जो भावरहित होते हैं उनके प्रगटपने बाह्यलिंग अकार्य है अर्थात् कार्यकारी नहीं है।

भावार्थः——जो भावकी शुद्धतासे रहित हैं, जिनके अपनी आत्माका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण नहीं है, उनके बाह्यलिंग कुछ कार्यकारी नहीं है, कारण पाकर तत्काल बिगड़ जाते हैं, इसलिये यह उपदेश है———पहिले भावकी शुद्धता करके द्रव्यलिंग धारण करो। यह द्रव्यलिंग चार प्रकारका कहा है, उसकी सूचना इसप्रकार है———१ मस्तकके, २ दाढ़ीके और ३ मूछोंके केशोंका लोच करना, तीन चिन्ह तो ये और चौथा नीचे के केश रखना; अथवा १ वस्त्र का त्याग, २ केशोंका लोच करना, ३ शरीरका स्नानादिसे संस्कार न करना, ४ प्रतिलेखन मयूरपिच्छिका रखना, ऐसे भी चार प्रकारका बाह्यलिंग कहा है। ऐसे सब बाह्य वस्त्रादिकसे रहित नग्न रहना, ऐसा नग्नरूप भावविशुद्धि बिना हँसी का स्थान है और कुछ उत्तम फल भी नहीं है।। १११।।

करी प्राप्त आंतरलिंगशुद्धि सेव चउविध लिंगने;
छे बाह्यलिंग अकार्य भावविहीनने निश्चितपणे। १११।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि भाव बिगड़ने के कारण चार संज्ञा हैं, उनके संसार–भ्रमण होता है, यह दिखाते हैं:–––

आहारभयपरिग्गहमेहुण सण्णाहि मोहिओ सि तुमं।
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो।। ११२।।

आहारभयपरिग्रह मैथुन संज्ञाभि: मोहित: असि त्वम्।
भ्रमित: संसारवने अनादिकालं अनात्मवश:।। ११२।।

अर्थ:––हे मुने! तूने आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन चार संज्ञाओंसे मोहित होकर अनादिकालसे पराधीन होकर संसाररूप वनमें भ्रमण किया।

भावार्थ:–– 'संज्ञा' नाम वांछाके जागते रहने (अर्थात् बने रहने) का है, सो आहारकी वांछा होना, भय होना, मैथुनकी वांछा होना और परिग्रह की वांछा प्राणी के निरन्तर बनी रहती है, यह जन्मान्तर से चली जाती है, जन्म लेते ही तत्काल प्रगट होती है। इसी के निमित्त से कर्मोंका बंध कर संसारवन में भ्रमण करता है, इसलिये मुनियोंको यह उपदेश है कि अब इन संज्ञाओंका अभाव करो।। ११२।।

आगे कहते हैं कि बाह्य उत्तरगुण की प्रवृत्ति भी भाव शुद्ध करके करना:–––

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि।
पालहि भावविशुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो।। ११३।।

बहि: शयनातापनतरुमूलादीन् उत्तरगुणान्।
पालय भावविशुद्ध: पूजा लाभं न ईहमान:।। ११३।।

अर्थ:––हे मुनिवर! तू भावसे विशुद्ध होकर पूजा–लाभादिकको नहीं चाहते हुए, बाह्यशयन, आतापन, वृक्षमूलयोग धारण करना, इत्यादि उत्तरगुणोंका पालन कर।

आहार–भय–परिग्रह–मिथुन संज्ञा थकी मोहितपणे
तुं परवशे भटक्यो अनादि काळथी भवकानने। ११२।

तरूमूल, आतापन, बहि: शयनादि उत्तरगुणने
तुं शुद्ध भावे पाळ, पूजालाभथी नि:स्पृहपणे। ११३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––शीतकाल में बाहर खुले मैदानमें सोना – बैठना, ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर पर सूर्यसन्मुख आतापनयोग धारना, वर्षा कालमें वृक्षके नीचे योग धरना, जहाँ बूँदें वृक्ष पर गिरने के बाद एकत्र होकर शरीर पर गिरें। इसमें कुछ प्रासुक का भी संकल्प है और बाधा बहुत है, इनको आदि लेकर यह उत्तर गुण है, इनका पालन भी भावशुद्धि करके करना। भावशुद्धि बिना करे तो तत्काल बिगड़े और फल कुछ नहीं है, इसलिये भाव शुद्ध करके करने का उपदेश है। ऐसा न जानना कि इनको बाह्यमें करने का निषेध करते हैं। इनको भी करना और भाव भी शुद्ध करना यह आशय है। केवल पूजा – लाभादि के लिये, अपना बड़प्पन दिखाने के लिये करे तो कुछ फल (लाभ) की प्राप्ति नहीं है।। ११३।।

आगे तत्त्वकी भावना करने का उपदेश करते हैं:––––

भावहि पढमं तच्चं बदियं तदियं चउत्थं पंचमयं।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं।। ११४।।

भावय प्रथमं तत्त्वं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पंचमकम्।
त्रिकरणशुद्धः आत्मानं अनादिनिधनं त्रिवर्गहरम्।। ११४।।

अर्थः––हे मुने! तू प्रथम जो जीवतत्त्व उसका चिन्तन कर, द्वितीय अजीवतत्त्वका चिन्तन कर, तृतीय आस्रवतत्त्व का चिन्तन कर, चतुर्थ बन्धतत्त्वका चिन्तन कर, पँचम संवरतत्त्वका चिन्तन कर और त्रिकरण अर्थात् मन–वचन–काय, कृत–कारित–अनुमोदना से शुद्ध होकर आत्मस्वरूपका चिन्तन कर; जो आत्मा अनादिनिधन है और त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम इनको हरनेवाला है।

भावार्थः––प्रथम '**जीवतत्त्व**' की भावना तो, '**सामान्य जीव**' दर्शन–ज्ञानमयी चेतना–स्वरूप है, उसकी भावना करना। **पीछे ऐसा मैं हूँ इसप्रकार आत्मतत्त्वकी भावना करना।**

दूसरा '**अजीवतत्त्व**' है सो सामान्य अचेतन जड़ है, यह पाँच भेदरूप पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल हैं इनका विचार करना। पीछे भावना करना कि ये हैं वह मैं नहीं हूँ।

तुं भाव प्रथम, द्वितिय, त्रीजा, तुर्य, पंचम तत्त्वने,
आद्यंत रहित त्रिवर्गहर जीवने, त्रिकरण विशुद्धिअे। ११४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तीसरा '**आस्रवतत्त्व**' है वह जीव–पुद्गल के संयोगजनित भाव हैं, इनमें अनादि कर्म सम्बन्ध से जीवके भाव (भाव–आस्रव) तो राग–द्वेष–मोह हैं और अजीव पुद्गलके भावकर्म के उदयरूप मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग द्रव्यास्रव हैं। इनकी भावना करना कि ये (असद्भूत व्यवहारनय अपेक्षा) मुझे होते हैं, [अशुद्ध निश्चयनयसे] रागद्वेषमोह भाव मेरे हैं, इनसे कर्मोंका बन्ध होता है, उससे संसार होता है इसलिये इनका कर्त्ता न होना––[स्वमें अपने ज्ञाता रहना]।

चौथा '**बन्धतत्त्व**' है वह मैं रागमोहद्वेषरूप परिणमन करता हूँ वह तो मेरी चेतनाका विभाव है, इससे जो बँधते हैं वे पुद्गल हैं, कर्म पुद्गल हैं, कर्म पुद्गल ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार होकर बँधता है, वे स्वभाव–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चारप्रकार होकर बँधते हैं, वे मेरे विभाव तथा पुद्गल कर्म सब हेय हैं, संसार के कारण हैं, मुझे रागद्वेष मोहरूप नहीं होना है, इसप्रकार भावना करना।

पाँचवाँ '**संवरतत्त्व**' है वह राग–द्वेष–मोहरूप जीवके विभाव हैं, उनका न होना और दर्शन–ज्ञानरूप चेतनाभाव स्थिर होना यह '**संवर**' है, वह अपना भाव है और इसी से पुद्गल कर्मजनित भ्रमण मिटता है।

इसप्रकार इन पाँच तत्त्वोंकी भावना करने में आत्मतत्त्वकी भावना प्रधान है, उससे कर्मकी निर्जरा होकर मोक्ष होता है। आत्माका भाव अनुक्रम से शुद्ध होना यह तो '**निर्जरातत्त्व**' हुआ और सब कर्मोंका अभाव होना यह '**मोक्षतत्त्व**' हुआ।

इसप्रकार सात तत्त्वोंकी भावना करना। इसीलिये आत्मतत्त्वका विश्लेषण किया कि आत्मतत्त्व कैसा है––धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गका अभाव करता है। इसकी भावना से त्रिवर्ग से भिन्न चौथा पुरुषार्थ '**मोक्ष**' है वह होता है। यह आत्मा ज्ञान–दर्शनमयी चेतनास्वरूप अनादिनिधन है, इसका आदि भी नहीं और निधन (नाश) भी नहीं है। '**भावना**' नाम बारबार अभ्यास करने, चिन्तन करने का है वह मन–वचन–कायसे आप करना तथा दूसरे को कराना और करने वाले को भला जानना––ऐसे त्रिकरण शुद्ध करके भावना करना। माया–निदान शल्य नहीं रखना, ख्याति, लाभ, पूजाका आशय न रखना। इसप्रकार से तत्त्व की भावना करने से भाव शुद्ध होते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्त्री आदि पदार्थों परसे भेदज्ञानी का विचार।

इसप्रकार उदाहरण इसप्रकार है कि---जब स्त्री आदि इन्द्रियगोचर हों (दिखाई दें) तब उनके विषयमें तत्त्वविचार करना कि यह स्त्री है वह क्या है? जीवनामक तत्त्वकी पयार्य है, इसका शरीर है वह तो पुद्गल तत्त्वकी पर्याय है, यह हावभाव चेष्टा करती है, वह इस जीव के विकार हुआ है यह आस्रवतत्त्व है और बाह्य चेष्टा पुद्गल की है, इस विकार से इस स्त्री की आत्मा के कर्म का बन्ध होता है। यह विकार इसके न हो तो 'आस्रव' 'बन्ध' न हों। कदाचित् मैं भी इसको देखकर विकाररूप परिणमन करूँ तो मेरे भी 'आस्रव' 'बन्ध' हों। इसलिये मुझे विकाररूप न होना यह 'संवर' तत्त्व है। बन सके तो कुछ उपदेश देकर इसका विकार दूर करूँ [ऐसा विकल्प राग है] वह राग भी करने योग्य नहीं है----स्वसन्मुख ज्ञातापने में धैर्य रखना योग्य है। इसप्रकार तत्त्वकी भावना से अपना भाव अशुद्ध नहीं होता है, इसलिये जो दृष्टिगोचर पदार्थ हों उनमें इसप्रकार तत्त्वकी भावना रखना, यह तत्त्व की भावना का उपदेश है।।११४।।

आगे कहते हैं कि ऐसे तत्त्वकी भावना जब तक नहीं है तब तक मोक्ष नहीं है:---

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीथाइं।
ताव ण पावइ जीवो श्ररमरणविवज्जियं ठाणं।। ११५।।

यावन्न भावयति तत्त्वं यावन्न चिंतयति चिंतनीयानि।
तावन्न प्राप्नोति जीवः जरामरणविवर्जितं स्थानम्।। ११५।।

अर्थः--हे मुने! जबतक वह जीवादि तत्त्वोंको नहीं भाता है और चिन्तन करने योग्य का चिन्तन नहीं करता है तब तक जरा और मरणसे रहित मोक्षस्थानको नहीं पाता है।

भावार्थः--तत्त्वकी भावना तो पहिले कही वह चिन्तन करने योग्य धर्मशुक्ल- ध्यानका विषयभूत जो ध्येय वस्तु अपना शुद्ध दर्शनज्ञानमयी चेतनाभाव और ऐसी ही अरहंत-सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप, उसका चिन्तन जब तक इस आत्माके न हो तब तक संसार से निवृत्त होना नहीं है, इसलिये तत्त्वकी भावना और शुद्धस्वरूपके ध्यानका उपाय निरन्तर रखना यह उपदेश है।। ११५।।

भावे न ज्यां लगी तत्त्व, ज्यां लगी चिंतनीय न चिंतवे,
जीव त्यां लगी पामे नहीं जर-मरणवर्जित स्थानने। ११५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते है कि पाप–पुण्यका और बन्ध–मोक्षका कारण परिणाम ही है:–––

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो।। ११६।।

पापं भवति अशेषं पुण्यमशेषं च भवति परिणामात्।
परिणामाद्बंधः मोक्षः जिनशासने दृष्टः।। ११६।।

अर्थः––पाप–पुण्य, बंध–मोक्ष का कारण परिणाम ही को कहा है। जीवके मिथ्यात्व, विषय–कषाय, अशुभलेश्यारूप तीव्र परिणाम होते हैं, उनसे तो पापास्रवका बंध होता है। परमेष्ठी की भक्ति, जीवों पर दया इत्यादिक मंदकषाय शुभलेश्यारूप परिणाम होते हैं, इससे पुण्यास्रवका बंध होता है। शुद्धपरिणामरहित विभावरूप परिणाम से बंध होता है। शुद्धभावके सन्मुख रहना, उसके अनुकूल शुभ परिणाम रखना, अशुभ परिणाम सर्वथा दूर करना, यह उपदेश है।। ११६।।

आगे पुण्य–पापका बंध जैसे भावोंसे होता है उनको कहते हैं। पहिले पाप–बंधके परिणाम कहते हैं:––

मिच्छत्त तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो।। ११७।।

मिथ्यात्वं तथा कषायासंयमयोगैः अशुभलेश्यैः।
बध्नति अशुभं कर्म जिनवचनपराङ्मुखः जीवः।। ११७।।

अर्थः––मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योग जिनमें अशुभलेश्या पाई जाती है इसप्रकारके भावोंसे यह जीव जिनवचनसे पराङमुख होता है––––अशुभकर्मको बाँधता है वह पाप ही बाँधता है।

रे! पाप सघळुं, पुण्य सघळुं, थाय छे परिणामथी;
परिणामथी छे बंध तेम ज मोक्ष जिनशासनमहीं। ११६।

मिथ्या–कषाय–अविरति–योग अशुभलेश्यान्वित वडे,
जिनवचपराङ्मुख आतमा बांधे अशुभरूप कर्मने। ११७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः—'**मिथ्यात्वभाव**' तत्त्वार्थ का श्रद्धान रहित परिणाम है। '**कषाय**' क्रोधादिक हैं। '**असंयम**' परद्रव्यके ग्रहणरूप है त्यागरूप भाव नहीं, इसप्रकार इन्द्रियोंके विषयोंसे प्रीति ओर जीवोंकी विराधना सहित भाव है। '**योग**' मन–वचन–कायके निमित्त से आत्मप्रदेशों का चलना है। ये भाव जब तीव्र कषाय सहित कृष्ण, नील, कपोत अशुभ लेश्यारूप हों तब इस जीव के पापकर्म का बंध होता है। पापबंध करनेवाला जीव कैसा है? उसके जिनवचन की श्रद्धा नहीं है। इस विशेषण का आशय यह है कि अन्यमत के श्रद्धानी के जो कदाचित् शुभलेश्या के निमित्त से पुण्यका भी बंध हो तो उसको पाप ही में गिनते हैं। जो जिनआज्ञा में प्रवर्तता है उसके कदाचित् पाप भी बंधे तो वह पुण्य जीवों की ही पंक्ति में गिना जाता है, मिथ्यादृष्टिको पापी जीवों में माना है और सम्यग्दृष्टिको पुण्यवान् जीवोंमें माना जाता है। इसप्रकार पापबंधके कारण कहे।। ११७।।

आगे इससे उलटा जीव है वह पुण्य बाँधता है, ऐसा कहते हैं:—

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिभावण्णो।
दुविहपयारं बंधइ संखेपेणेव वज्जरियं।। ११८।।

तद्विपरीतः बध्नाति शुभकर्म भावशुद्धिमापन्नः।
द्विविधप्रकारं बध्नाति संक्षेपेणैव कथितम्।। ११८।।

अर्थः— उस पूर्वोक्त जिनवचनका श्रद्धानी मिथ्यात्व रहित सम्यग्दृष्टि जीव शुभकर्मको बाँधता है जिसने कि————भावों में विशुद्धि प्राप्त है। ऐसे दोनों प्रकार के जीव शुभाशुभ कर्म को बाँधते हैं, यह संक्षेप से जिनभगवान् ने कहा है।

भावार्थः—पहिले कहा था कि जिनवचनसे पराङमुख मिथ्यात्व सहित जीव है, उससे विपरीत जिनआज्ञाका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि जीव विशुद्धभाव को प्राप्त होकर शुभ कर्मको बाँधता है, क्योंकि इसके सम्यक्त्वके महात्म्यसे ऐसे उज्ज्वल भाव हैं जिनसे मिथ्यात्वके साथ बँधने वाली पापप्रकृतियोंका अभाव है। कदाचित् किंचित् कोई पापप्रकृति बँधती है तो उसका अनुभाग मंद होता है,

---

विपरीत तेथी भावशुद्धिप्राप्त बांधे शुभने;
–अे रीत बांधे अशुभ–शुभ; संक्षेपथी ज कहेल छे। ११८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कुछ तीव्र पापफल का दाता नहीं होता। इसलिये सम्यग्दृष्टि शुभकर्म ही के बाँधने वाला है---इसप्रकार शुभ-अशुभ कर्म के बंधका संक्षेप से विधान सर्वज्ञदेवने कहा है, वह जानना चाहिये।। ११८।।

आगे कहते हैं कि हे मुने! तू ऐसी भावना कर:-----

णाणावरणादीहिं य अट्ठहिं कम्मेहिं बेढिओ य अहं।
डहिऊण इण्हिं पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां।। ११९।।

ज्ञानावरणादिभि: च अष्टभि: कर्मभि: वेष्टितश्च अहं।
दग्ध्वा इदानीं प्रकटयामि अनन्तज्ञानादिगुण चेतनां।। ११९।।

अर्थ:--हे मुनिवर! तू ऐसी भावना कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से वेष्ठित हूँ, इसलिये इनको भस्म करके अनन्तज्ञानादि गुण जिनस्वरूप चेतनाको प्रगट करूँ।

भावार्थ:--अपने को कर्मों से वेष्ठित माने और उनसे अनन्तज्ञानदि गुण आच्छादित माने तब उन कर्मोंके नाश करनेका विचार कर, इसलिये कर्मों के बंधकी और उनके अभावकी भावना करने का उपदेश है। कर्मों का अभाव शुद्धस्वरूप के ध्यान से होता है, उसी के करने का उपदेश है।

कर्म आठ हैं-----१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ मोहनीय, ४ अंतराय ये चार घातिया कर्म हैं, इनकी प्रकृति सैंतालीस हैं, केवलज्ञानावरण से अनन्तज्ञान आच्छादित है, केवलदर्शनावरण से अनन्तदर्शन आच्छादित है, मोहनीय से अनन्तसुख प्रगट नहीं होता है और अंतराय से अनन्तवीर्य प्रगट नहीं होता है, इसलिये इनका नाश करो। चार अघाति कर्म हैं इनसे अव्याबाध, अगुरुलघु, सूक्ष्मता और अवगाहना ये गुण (---की निर्मल पयार्य) प्रगट नहीं होते हैं, इन अघाति कर्मों की प्रकृति एकसौ एक हैं। घातिकर्मों का नाश होने पर अघातिकर्मों का स्वयमेव अभाव हो जाता है, इसप्रकार जानना चाहिये।। ११६।।

आगे इन कर्मों का नाश होने के लिये अनेक प्रकार का उपदेश है, उसको संक्षेप से कहते हैं:-----

---

વેષ્ટિત છું હું જ્ઞાનાવરણકર્માદિ કર્માષ્ટક વડે;
બાળી, હું પ્રગટાવું અમિતજ્ઞાનાદિગુણવેદન હવે। ૧૧૯।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्प लावेण किं बहुणा।। १२०।।

शीलसहस्राष्टादश चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि।
भावय अनुदिनं निखिलं असत्प्रलापेन किं बहुना।। १२०।।

अर्थः––शील अठारह हजार भेदरूप है और उत्तरगुण चौरासी लाख हैं। आचार्य कहते हैं कि हे मुने! बहुत झूठे प्रलापरूप निरर्थक वचनोंसे क्या? इन शीलोंको और उत्तरगुणों को सबको तू निरन्तर भा, इनकी भावना – चिन्तन – अभ्यास निरन्तर रख, जैसे इनकी प्राप्ति हो वैसे ही कर।

भावार्थः––'आत्मा– जीव' नामक वस्तु अनन्तधर्म स्वरूप है। संक्षेप से इसकी दो परिणति हैं, एक स्वाभाविक एक विभाव रूप। इनमें स्वाभाविक तो शुद्धदर्शनज्ञानमयी चेतनापरिणाम है और विभावपरिणाम कर्म के निमित्त से हैं। ये प्रधानरूप से तो मोहकर्म के निमित्त से हुए हैं। संक्षेप से मिथ्यात्व रागद्वेष हैं, इनके विस्तार से अनेक भेद हैं। अन्य कर्मों के उदय से विभाव होते हैं उनमें पौरुष प्रधान नहीं हैं, इसलिये उपदेश–अपेक्षा वे गौण हैं; इसप्रकार ये शील और उत्तरगुण स्वभाव–विभाव परिणति के भेद से भेदरूप करके कहे हैं।

शील की प्ररूपणा दो प्रकार की है––––एक स्वद्रव्य–परद्रव्य के विभागकी अपेक्षा है और दूसरे स्त्री के संसर्ग की अपेक्षा है। परद्रव्य का संसर्ग मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से न करना। इनको आपसमें गुणा करने से नौ भेद होते हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञा हैं, इनसे परद्रव्य का संसर्ग होता है उसका न होना, ऐसे नौ भेदोंका चार संज्ञाओं से गुणा करने पर छत्तीस होते हैं। पाँच इन्द्रियोंके निमित्त से विषयों का संसर्ग होता है, उनकी प्रवृत्ति के अभाव रूप पाँच इन्द्रियों से छत्तीस को गुणा करने पर एकसौ अस्सी होते हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, प्रत्येक, साधारण ये तो एकेन्द्रिय और दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ऐसे दश भेदरूप जीवोंका संसर्ग, इनकी हिंसारूप प्रवर्तन से परिणाम विभावरूप होते हैं सो न करना, ऐसे एकसौ अस्सी भेदोंको दस से गुणा करने पर अठारहसौ होते हैं।

चोराशी लाख गुणो, अढार हजर भेदो शीलना,
–सघलुंय प्रतिदिन भाव; बहु प्रलपन निरर्थथी शुं भला? १२०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्रोधादिक कषाय और असंयम परिणाम से परद्रव्य संबंधी विभाव परिणाम होते हैं उनके अभावरूप दसलक्षण धर्म है, उनसे गुणा करने से अठारह हजार होते हैं। ऐसे परद्रव्य के संसर्गरूप कुशील के अभावरूप शीलके अठारह हजार भेद हैं। इनके पालने से परम ब्रह्मचर्य होता है, ब्रह्म (आत्मा) में प्रर्वतने और रमने को 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं।

स्त्रीके संसर्ग की अपेक्षा इसप्रकार है— स्त्री दो प्रकार की है, अचेतन स्त्री काष्ठ पाषाण लेप (चित्राम) ये तीन, इनका मन और काय दो से संसर्ग होता है, यहाँ वचन नहीं है इसलिये दो से गुणा करने पर छह होते हैं। कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर अठारह होते हैं। पाँच इन्द्रियोंसे गुणा करने पर नब्बे होते हैं। द्रव्य–भावसे गुणा करने पर एकसौ अस्सी होते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से गुणा करने पर सातसो बीस होते हैं। चेतन स्त्री देवी, मनुष्यिणी, तिर्यंचणी ऐसे तीन, इन तीनों को मन, वचन, कायसे गुणा करने पर नौ होते हैं। इनको कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर सत्ताईस होते हैं। इनको पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर एकसौ पैंतीस होते हैं। इनको द्रव्य और भाव इन दो से गुणा करने पर दो सौ सत्तर होते हैं। इनको चार संज्ञासे गुणा करने पर एक हजार अस्सी होते हैं। इनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ इन सोलह कषायोंसे गुणा करने पर सत्रह हजार दो सौ अस्सी होते हैं। ऐसे अचेतन स्त्रीके सातसौ बीस मिलाने पर * **अठारह हजार** होते हैं। ऐसे स्त्रीके संसर्ग से विकार परिणाम होते हैं सो कुशील है, इनके अभाव परिणाम शील है इसकी भी 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा है।

---

*अचेतन :	काष्ठ,	पाषाण	मन		कृतकारित	इन्दिया	द्रव्य		क्रोध,	मान,		
स्त्री		चित्राम	काय		अनुमोदना	५	भाव		मान,	लोभ		
		३	२		३	५	२			४	७२०	
चेतन	देवी	मन	कृत				आहार	अनंतानुबन्धी	क्रोध			
स्त्री	मनुष्यिणी	वचन	कारित	इन्द्रियाँ	द्रव्य		परिग्रह	अप्रत्याख्यानावरण	मान			
	तिर्यंचिणी	काय	अनुमोदना	५	भाव		भय	प्रत्याख्यानावरण	माया			
	३	३	३	५	२		४	४	४		१७२८०	———
												———
												१८०००

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चौरासी लाख उत्तरगुण ऐसे हैं जो आत्माके विभावपरिणामोंके बाह्यकारणोंकी अपेक्षा भेद होते हैं। उनके अभावरूप ये गुणोंके भेद हैं। उन विभावोंके भेदोंकी गणना संक्षेप से ऐसे है—१ हिंसा, २ अनृत, ३ स्तेय, ४ मैथुन, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० भय, ११ जुगुप्सा, १२ अरति, १३ शोक, १४ मनोदुष्टत्व, १५ वचनदुष्टत्व, १६ कायदुष्टत्व, १७ मिथ्यात्व, १८ प्रमाद, १९ पैशून्य, २० अज्ञान, २१ इन्द्रियका अनुग्रह ऐसे इक्कीस दोष हैं। इनको अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार इन चारों से गुणा करने पर चौरासी होते हैं। पृथ्वी – अप् – तेज – वायु प्रत्येक साधारण ये स्थावर ऐकेन्द्रिय जीव छह और विकल तीन, पंचेन्द्रिय एक ऐसे जीवोंके दस भेद, इनका परस्पर आरम्भ से घात होता है इनको परस्पर गुणा करने पर सौ (१००) होते हैं। इनसे चौरासी को गुणा करने पर चौरासी सौ होते है, इनको दस 'शील–विराधने' से गुणा करने पर चौरासी हजार होते हैं। इन दसके नाम ये हैं १ स्त्रीसंसर्ग, २ पुष्टरसभोजन, ३ गंधमालयका ग्रहण, ४ सुन्दर शयनासनका ग्रहण, ५ भूषणका मंडन, गीतवादित्रका प्रसंग, ७ धनका संप्रयोजन, ८ कुशीलका संसर्ग, ९ राजसेवा, १० रात्रिसंचरण ये 'शील – विराधना' है। इनके आलोचना के दस दोष हैं—गुरुओं के पास लगे हुए दोषोंकी आलोचना करे सो सरल होकर न करे कुछ शल्य रखें, उसके दस भेद किये हैं, इनके गुणा करने पर आठ लाख चालीस हजार होते हैं। आलोचना को आदि देकर प्रायश्चित्तके दस भेद हैं इनसे गुणा करने पर चौरासी लाख होते हैं। सो सब दोषोंके भेद हैं, इनके अभाव से गुण होते हैं। इनकी भावना रखें, चिन्तन और अभ्यास रखें, इनकी सम्पूर्ण प्राप्ति होने का उपाय रखें; इसप्रकार इसकी भावना का उपदेश है।

आचार्य कहते हैं कि बारबार बहुत वचनके प्रलापसे तो कुछ साध्य नहीं है, जो कुछ आत्माके भावकी प्रवृत्तिके व्यवहारके भेद हैं उनकी 'गुण' संज्ञा है, उनकी भावना रखना। यहाँ इतना और जानना कि गुणस्थान चौदह कहें हैं, उस परिपाटीसे गुण दोषों का विचार है। मिथ्यात्व सासादन मिश्र इन तीनोंमें से तो विभाव परिणति ही है, इनमें तो गुण का विचार ही नहीं है। अविरत, देशविरत आदिमें शीलगुणका ऐकदेश आता है। अविरतमें मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावरूप गुणका एकदेश सम्यक्त्व और तीव्र रागद्वेषका अभावरूप गुण आता है और देशविरत में कुछ व्रतका एकदेश आता है। प्रमत्तमें महाव्रत सामायिक चारित्र का एकदेश आता है क्योंकि पापसंबन्धी रागद्वेष तो वहाँ नहीं है, परन्तु धर्मसंबन्धी राग है और 'सामायिक' रागद्वेष के अभाव का नाम है, इसलिये सामायिक का एकदेश ही कहा है। यहाँ स्वरूपके संमुख होनेमें क्रियाकांडके सम्बन्ध से प्रमाद है, इसलिये 'प्रमत्त' नाम दिया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अप्रमत्त में स्वरूप साधन में तो प्रमाद नहीं है, परन्तु कुछ स्वरूपके साधने का राग व्यक्त है, इसलिये यहाँ भी सामायिक का एकदेश ही कहा है। अपूर्वकरण–अनिवृत्तिकरण में राग व्यक्त नहीं है, अव्यक्तकषायका सद्भाव है, इसलिये सामायिक चारित्र की पूर्णता कही। सूक्ष्मसांपरायमें अव्यक्त कषाय भी सूक्ष्म रह गई, इसलिये इसका नाम 'सूक्ष्मसांपराय' रखा। उपशांतमोह क्षीणमोहमें कषायका अभाव ही है, इसलिये जैसा आत्माका मोह विकाररहित शुद्धि स्वरूप था उसका अनुभव हुआ, इसलिये 'यथाख्यातचरित्र' नाम रखा। ऐसे मोहकर्मके अभावकी अपेक्षा तो यहाँ ही उत्तर गुणोंकी पूर्णता कही जाती है, परन्तु आत्माका स्वरूप अनन्तज्ञानादि स्वरूप है सो घातिकर्मके नाश होने पर आनन्तज्ञानादि प्रगट होते हैं तब 'सयोगकेवली' कहते हैं। इसमें भी कुछ योगोंकी प्रवृत्ति है, इसलिये 'अयोगकेवली' चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें योगों की प्रवृत्ति मिट कर आत्मा अवस्थित हो जाती है तब चौरासी लाख उत्तरगुणोंकी पूर्णता कही जाती है। ऐसे गुणस्थानोंकी अपेक्षा उत्तरगुणोंकी प्रवृत्ति विचारने योग्य है। ये बाह्य अपेक्षा भेद हैं, अंतरंग अपेक्षा विचार करें तो संख्यात, असंख्यात, अनन्तभेद होते हैं, इसप्रकार जानना चाहिये।। १२०।।

आगे भेदोंके विकल्पसे रहित होकर ध्यान करनेका उपदेश करते हैं:---

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउद्दं च झाण मुत्तूण।
रुद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं।। १२१।।

ध्याय धर्म्यं शुक्लं आर्त्तं रौद्रं च ध्यानं मुक्त्वा।
रौद्रार्त्ते ध्याते अनेन जीवेन चिरकालम्।। १२१।।

अर्थ:-- हे मुनि! तू आर्त्त – रौद्र ध्यानको छोड़ और धर्म – शुक्लध्यान है उन्हें ही कर, क्योंकि रौद्र और आर्त्तध्यान तो इस जीवने अनादिकालसे बहुत समय तक किये हैं।

ધ્યા ધર્મ્ય તેમજ શુક્લને, તજ આર્ત તેમ જ રૌદ્રને;
ચિરકાળ ધ્યાયાં આર્ત તેમ જ રૌદ્ર ધ્યાનો આ જીવે। ૧૨૧।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––आर्त्त–रौद्र ध्यान अशुभ है, संसार के कारण हैं। ये दोनों ध्यान जो जीवके बिना उपदेश ही अनादिसे पाये जाते हैं, इसलिये इनको छोड़नेका उपदेश है। धर्म शुक्ल ध्यान स्वर्ग – मोक्षके कारण हैं। इनको कभी नहीं ध्याया, इसलिय इनका ध्यान करने का उपदेश है। ध्यानका स्वरूप 'एकाग्रचिंतानिरोध' कहा है; धर्मध्यानमें तो धर्मानुरागका सद्भाव है सो धर्मके–––मोक्षमार्गके कारणमें रागसहित एकाग्रचिंतानिरोध होता है, इसलिये शुभराग के निमित्तसे पुण्यबन्ध भी होता है और विशुद्ध भावके निमित्तसे पापकर्म की निर्जरा भी होती है। शुक्लध्यान में आठवें नौवें दसवें गुणस्थानमें तो अव्यक्त राग है। वहाँ अनुभव अपेक्षा उपयोग उज्ज्वल है, इसलिये 'शुक्ल' नाम रखा है और इससे ऊपर के गुणस्थानों में राग–कषायका अभाव ही है, इसलिये सर्वथा ही उपयोग उज्ज्वल है, वहाँ शुक्लध्यान युक्त ही है। इतनी और विशेषता है कि उपयोगके एकाग्रपनारूप ध्यानकी स्थिति अनतर्मुहूर्त्त की कही है। इस अपेक्षा से तेरहवें–चौदहवें गुणस्थानमेह ध्यानका उपचार है और योगक्रियाके स्थंभनकी अपेक्षा ध्यान कहा है। यह शुक्लध्यान कर्मकी निर्जरा करके जीवको मोक्ष प्राप्त कराता है, ऐसे ध्यानका उपदेश जानना।। १२१।।

आगे कहते हैं कि यह ध्यान भावलिंगी मुनियोंको मोक्ष करता है:–––

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसवणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं।। १२२।।

ये केऽपि द्रव्यश्रमणा ईन्द्रियसुखाकुलाः न छिंदन्ति।
छिंदन्ति भावश्रमणाः ध्यानकुठारैः भववृक्षम्।। १२२।।

अर्थः––कई द्रव्यलिंगी श्रमण हैं, वे तो इन्द्रियसुखमें व्याकुल हैं, उनके यह धर्म – शुक्लध्यान नहीं होता। वे तो संसाररूपी वृक्ष को काटने में समर्थ नहीं हैं, और जो भावलिंगी श्रमण हैं, वे ध्यानरूपी कुल्हाड़ेसे संसाररूपी वृक्षको काटते हैं।

भावार्थः––जो मुनि द्रव्यलिंग तो धारण करते हैं, परन्तु उसको परमार्थ सुखका अनुभव नहीं हुआ है, इसलिये इहलोक परलोकमें इन्द्रियोंके सुख ही को चाहते हैं, तपश्चरणादिक भी इसी अभिलाष से करते हैं उनके धर्म–शुक्ल ध्यान कैसे हो? अर्थात् नहीं होता है।

द्रव्ये श्रमण इन्द्रियसुखाकुल होईने छेदे नहीं;
भववृक्ष छेदे भावश्रमणो ध्यानरूप कुठारथी। १२२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिनने परमार्थ सुखका आस्वाद लिया उनको इन्द्रियसुख दुःख ही है ऐसा स्पष्ट भासित हुआ है, अतः परमार्थ सुखका उपाय धर्म–शुक्लध्यान है उसको करके वे संसारका अभाव करते हैं, इसलिये भावलिंगी होकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।। १२२।।

आगे इस ही अर्थका दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं:–––

जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहाविवज्जिओ जलइ।
तह रायाणिलरहिओ झाणपईयो वि पज्जलइ।। १२३।।

यथा दीपः गर्भगृहे मारुतबाधाविवर्जितः ज्वलति।
तथा रागानिलरहितः ध्यानप्रदीपः अपि प्रज्वलति।। १२३।।

अर्थः––जैसे दीपक गर्भगृह अर्थात् जहाँ पवनका संचार नहीं है ऐसे मध्यके घरमें पवन की बाधा रहित निश्चल होकर जलता है [प्रकाश करता है], वैसे ही अंतरंग मनमें रागरूपी पवनसे रहित ध्यानरूपी दीपक भी जलता है, एकाग्र होकर ठहरता है, आत्मरूपको प्रकाशित करता है।

भावार्थः––पहिले कहा था कि जो इन्द्रियसुखसे व्याकुल हैं उनके शुभध्यान नहीं होता है, उसका यह दीपकका दृष्टांत है–– जहाँ इन्द्रियोंके सुख में जो राग वह ही हुआ पवन वह विद्यमान है, उनके ध्यानरूपी दीपक कैसे निर्बाध उद्योत करे? अर्थात् न करे, और जिनके यह रागरूपी पवन बाधा न करे उनके ध्यानरूपी दीपक निश्चल ठहरता है।। १२३।।

आगे कहते हैं कि–––ध्यानमें जो परमार्थ ध्येय शुद्ध आत्माका स्वरूप है उस स्वरूपके आराधनमें नायक (प्रधान) पंच परमेष्ठी हैं, उनका ध्यान करनेका उपदेश करते हैं:––––

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे।। १२४।।

ज्यम गर्भगृहमां पवननी बाधा रहित दीपक जळे,
ते रीत रागानिलविवर्जित ध्यानदीपक पण जळे। १२३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ध्याय पंच अपि गुरुन् मंगलचतुः शरणलोकपरिकरितान्।
नरसुरखेचरमहितान् आराधनानायकान् वीरान्।। १२४।।

अर्थः——हे मुने! तू पंच गुरु अर्थात् पंचपरमेष्ठी का ध्यान कर। यहाँ 'अपि' शब्द शुद्धात्म सवरूपके ध्यानको सूचित करता है। पंच परमेष्ठी कैसे हैं? मंगल अर्थात् पाप के नाशक अथवा सुखदायक और चउशरण अर्थात् चार शरण तथा 'लोक' अर्थात् लोक के प्राणियों से अरहंत, सिद्ध, साधु, केवलीप्रणीत धर्म, ये परिकरित अर्थात् परिवारित हैं——— युक्त (–सहित) हैं। नर – सुर – विद्याधर सहित हैं, पुज्य हैं, इसलिये वें 'लोकोत्तम' कहे जाते है, आराधनाके नायक हैं , वीर हैं, कर्मोंके जीतने को सुभट हैं और विशिष्ट लक्ष्मी को प्राप्त हैं तथा देते हैं। इसप्रकार पंच परम गुरुका ध्यान कर।

भावार्थः——यहाँ पंच परमेष्ठीका ध्यान करनेके लिये कहा। उस ध्यानमें विघ्नको दूर करने वाले 'चार मंगल' कहे वे यही हैं,'चार शरण' और 'लोकोत्तम' कहे हैं वे भी इन्ही को कहे हैं। इनके सिवाय प्राणीको अन्य शरण या रक्षा करनेवाला कोई भी नहीं है और लोक में उत्तम भी ये ही हैं। आराधना दर्शन – ज्ञान – चारित्र – तप ये चार हैं, इनके नायक [स्वामी] भी ये ही हैं, कर्मोंको जीतनेवाले भी ये ही हैं । इसलिये ध्यान करनेवाले के लिये इनका ध्यान श्रेष्ठ है। शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति इनही के ध्यान से होती है, इसलिये यह उपदेश है।। १२४।।

आगे ध्यान है वह, 'ज्ञानका एकाग्र होना' है, इसलिये ज्ञानके अनुभव का उपदेश करते हैं:——

णाणमय विमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति।। १२५।।

ज्ञानमयविमल शीतल सलिलं प्राप्य भव्याः भावेन।
व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवाः भवन्ति।। १२५।।

ज्ञानात्म निर्मळ नीर शीतळ प्राप्त करीने, भावथी,
भवि थाय छे जर–मरण–व्याधिदाहवर्जित, शिवमयी। १२५

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ:––भव्य जीव ज्ञानमयी निर्मल शीतल जलको समयक्त्वभाव सहित पीकर और व्याधिस्वरूप जरा–मरणकी वेदना [पीड़ा] को भस्म करके मुक्त अर्थात् संसार से रहित 'शिव' अर्थात् परमनंद सुखरूप होते हैं।

भावार्थ:–––जैसे निर्मल और शीतल जलके पीने से पित्तकी दाहरूप व्याधि मिटकर साता होती है, वैसे ही यह ज्ञान है वह जब यह रागादिक मलसे रहित निर्मल और आकुलता रहित शांतभावरूप होता है, उसकी भावना कर रुचि, श्रद्धा, प्रतीति से पीवे, इससे तनमय हो तो जरा – मरणरूप दाह – वेदना मिट जाती है और संसार से निर्वृत्त होकर सुखरूप होता है, इसलिये भव्य जीवोंको यह उपदेश है कि ज्ञानमें लीन होओ।। १२४।।

आगे कहते हैं कि इस ध्यानरूप अग्नि में संसार के बीज आठों कर्म एक बार दग्ध हो जाने पर पीछे फिर संसार नहीं होता है, यह बीज भावमुनिके दग्ध हो जाता है:–––

जह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अंकुरो य महि वीढे।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं।। १२६।।

यथा बीजे च दग्धे नापि रोहति अंकुरश्च महीपीठे।
तथा कर्म बीजदग्धे भवांकुरः भावश्रमणानाम्।। १२६।।

अर्थ:––जैसे पृथ्वीतल पर बीज के जल जाने पर उसका अंकुर फिर नहीं उगता है, वैसे ही भावलिंगी श्रमणके संसारका कर्मरूपी बीज दग्ध होता है इसलिये संसाररूप अंकुर फिर नहीं होता है।

भावार्थ:––संसारके बीज 'ज्ञानावरणादि' कर्म हैं। ये कर्म भावश्रमण के ध्यानरूप अग्निसे भस्म हो जाते हैं, इसलिये फिर संसाररूप अंकुर किससे हो? इसलिये भावश्रमण होकर धर्म – शुक्लध्यान से कर्मोंका नाश करना योग्य है, यह उपदेश है। कोई सर्वथा एकांती अन्यथा कहे कि––––कर्म अनादि हैं, उसका अंत भी नहीं है, उसका भी यह निषेध है।

ज्यम बीज होतां दग्ध, अंकुर भूतळे ऊगे नहीं,
त्यम कर्म बीज बत्रये भवांकुर भावश्रमणोने नहीं। १२६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बीज अनादि है वह एकबार दग्ध हो जाने पर फिर पीछे फिर नहीं उगता है, उसी तरह इसे जानना।। १२६।।

आगे संक्षेप से उपदेश करते हैं:----

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य।
इय णाउं गुणदोसे भावेण संजुदो होइ।। १२७।।

भावश्रमण: अपि प्राप्नोति सुखानि दु:खानि द्रव्यश्रमणश्च।
इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुत: भव।। १२७।।

अर्थ:--भावश्रमण तो सुखोंको पाता है और द्रव्यश्रमण दु:खोंको पाता है, इस प्रकार गुण – दोषोंको जानकर हे जीव! तू भावसहित संयमी बन।

भावार्थ:--सम्यग्दर्शन सहित भावश्रमण होता है, वह संसारका अभाव करके सुखोंको पाता है और मिथ्यात्वसहित द्रव्यश्रमण भेषमात्र होता है, वह संसार का अभाव नहीं कर सकता है, इसलिये दु:खोंको पाता है। अत: उपदेश करते हैं कि दोनों के गुण – दोष जानकर भावसहयमी होना योग्य है, यह सब उपदेशका सार है।। १२७।।

आगे फिर भी इसी का उपदेश अर्थरूप संक्षेप से कहते हैं:---

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं।
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं वज्जरियं।। १२८।।

तीर्थंकरगणधरादीनि अभ्युदयपरंपराणि सौख्यानि।
प्राप्नुवंति भावश्रमणा: संक्षेपेण जिनै: भणितम्।। १२८।।

अर्थ:--जो भाव सहित मुनि हैं वे अभ्युदयसहित तीर्थंकर – गणधर आदि पदवी के सुखोंको पाते हैं, यह संक्षेप से कहा है।

रे! भावश्रमण सुखो लहे ने द्रव्यमुनि दु:खो लहे;
तुं भावथी संयुक्त था, गुणदोष जाणी अे रीते। १२७।

तीर्थेश–गणनाथादिगत अभ्युदययुत सौख्यो तणी,
प्राप्ति करे छे भावमुनि;–भाख्युं जिने संक्षेपथी। १२८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––– तीर्थंकर गणधर चक्रवर्ती आदि पदों के सुख बड़े अभ्युदय सहित हैं, उनको भावसहित सम्यग्दृष्टि मुनि पाते हैं। यह सब उपदेशका संक्षेप कहा है इसलिये भावसहित मुनि होना योग्य है।। १२८।।

आगे आचार्य कहते हैं कि जो भावश्रमण हैं उनको धन्य हैं, उनको हमारा नमस्कार हो:––

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरण सुद्धाणं।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं।। १२९।।

ते धन्याः तेभ्य नमः दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धेभ्यः।
भावसहितेभ्यः नित्यं त्रिविधेन प्रणष्टमायेभ्यः।। १२९।।

अर्थः–––आचार्य कहते हैं कि जो मुनि सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ (विशिष्ट) ज्ञान और निर्दोष चारित्र इनसे शुद्ध हैं इसीलिये भाव सहित हैं और प्रणष्ट हो गई है माया अर्थात् कपट परिणाम जिनके ऐसे हैं वे धन्य हैं। उनके लिये हमारा मन–वचन–काय से सदा नमस्कार हो।

भावार्थः––भावलिंगीयोंमें जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र से शुद्ध हैं उनके प्रति आचार्य को भक्ति उत्पन्न हुई है, इसलिये उनको धन्य कहकर नमस्कार किया है वह युक्त है, जिनके मोक्षमार्ग में अनुराग है, उनमें मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति में प्रधानता दिखती है, उनको नमस्कार करें।। १२९।।

आगे कहते हैं कि जो भावश्रमण हैं वे देवादिककी ऋद्धि देखकर मोहको प्राप्त नहीं होते हैं:––

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं।
तेहिं विण जाइ मोहं जिण भावण भाविओ धीरो।। १३०।।

ते छे सुधन्य, त्रिधा सदैव नमस्करण हो तेमने,
जे भावयुत, दृगज्ञानचरणविशुद्ध, माया मुक्त छे। १२९।

खेचर–सुरादिक विर्यिाथी ऋद्धि अतुल करे भले,
जिनभावना परिणत सुधीर लहे न त्यां पण मोहने। १३०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऋद्धिमतुलां [1]विकुर्वभ्दिः किंनरकिंपुरुषामरखचरैः।
तैरपि न याति मोहं जिनभावना भावितः धीरः।। १३०।।

अर्थः——जिनभावना [सम्यक्त्व भावना] से वासित जीव किंनर, किंपरुष देव; कल्पवासी देव और विद्याधर, इनसे विक्रियारूप विस्तार की गई अतुल–ऋद्धियोंसे मोहको प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि सम्यदृष्टि जीव कैसा है? धीर है, दृढ़बुद्धि है अर्थात् निःशंकित अंग का धारक है।

भावार्थः——जिसके जिनसम्यक्त्व दृढ़ है उसके संसारकी ऋद्धि तृणवत् है, परमार्थ सुख की ही भावना है, विनाशीक ऋद्धिकी वांछा क्यों हो? ।। १३०।।

आगे इसहीका समर्थन है कि ऐसी ऋद्धि भी नहीं चाहता है तो अन्य सांसारिक सुख की क्या कथा?–

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं।
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो।। १३१।।

किं पुनः गच्छति मोहं नरुरसुखानां अल्पसाराणाम्।
जानन् पश्यन् चिंतयन् मोक्षं मुनिधवलः।। १३१।।

अर्थः——सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त प्रकारकी भी ऋद्धि को नहीं चाहता है तो मुनिधवल अर्थात् मुनिप्रधान है वह अन्य जो मनुष्य देवोंके सुख – भोगादिक जिनमें अल्प सार है उनमें क्या मोहको प्राप्त हो? कैसा है मुनिधवल? मोक्ष को जानता है, उसही की तरफ दृष्टि है, उसही का चिन्तन करता है।

भावार्थः——जो मुनिप्रधान हैं उनकी भावना मोक्षके सुखोंमें है। वे बड़ी बड़ी देव विद्याधरोंकी फैलाई हुई विक्रियाऋद्धिमें भी लालसा नहीं करते हैं तो किंचित्मात्र विनाशीक जो मनुष्य, देवोंके भोगादिकका सुख उनमें वांछा कैसे करे? अर्थात् नहीं करे।। १३१।।

आगे उपदेश करते हैं कि जबतक जरा आदिक न आवे तबतक अपना हित कर लोः——

---

१ ——संस्कृत मुद्रित प्रतिमें 'विकृतां' पाठ है।

तो देव–नरनां तुच्छ सुख प्रत्ये लहे शुं मोहने,
मुनिप्रवर जे जाणे, जुओ ने चिंतवे छे मोक्षने? १३१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं।
इन्दिय बलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं।। १३२।।

आक्रमते यावन्न जरा रोगाग्निर्यावन्न दहति देहकुटीम्।
इन्द्रियबलं न विगलति तावत् त्वं कुरु आत्महितम्।। १३२।।

अर्थः––हे मुने! जब तक तेरे जरा (बुढ़ापा) न आवे तथा जब तक रोगरूपी अग्नि तेरी देहरूपी कुटी को भस्म न करे और जब तक इन्द्रियोंका बल न घटे तब तक अपना हित करलो।

भावार्थः––वृद्ध अवस्थामें देह रोगोंसे जर्जरित हो जाता है, इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं तब असमर्थ होकर इस लोकके कार्य उठना–बैठना भी नहीं कर सकता है तब परलोकसम्बन्धी तपश्चरणादिक तथा ज्ञानाभ्यास और स्वरूपका अनुभवादि कार्य कैसे करे? इसलिये यह उपदेश है कि जब तक सामर्थ्य है तब तक अपना हितरूप कार्य कर लो।। १३२।।

आगे अहिंसाधर्म के उपदेशका वर्णन करते हैं:––

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं[1]।। १३३।।

[2]षट्जीवान् षडायतनानां नित्यं मनोचचनकाययोगैः।
कुरु दयां परिहर मुनिवर भावय अपूर्व महासत्वम्।। १३३।।

अर्थः––हे मुनिवर! तू छहकाय के जीवों पर दया कर और छह अनायतों को

---

१ मुद्रित संस्कृत प्रति में 'महासत्त' ऐसा संबोधन पद किया है जिसका सं० छाया 'महासत्व' है।
२ मुद्रित संस्कृत प्रति में 'षट्जीवषटयतनानां' एक पद किया है।

रे आमे न जरा, गदाग्नि दहे न तनकुटि ज्यां लगी,
बळ इन्द्रियोनुं नव घटे, करी ले तुं निजहित त्यां लगी। १३२।

छ अनायतन तज, कर दया षट्कवनी [2]हिविधे सदा,
महासत्त्वने तुं भाव रे! अपूरवपणे हे मुनिवरा! १३३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मन, वचन, कायके योगों से छोड़ तथा अपूर्व जो पहिले न हुआ ऐसा महासत्त्व अर्थात् सब जीवों में व्यापक (ज्ञायक) महासत्त्व चेतना भावको भा।

भावार्थः––अनादिकालसे जीवका स्वरूप चेतनास्वरूप न जाना इसलिये जीवोंह की हिंसा की, अतः यह उपदेश है कि–––अब जीवात्माका स्वरूप जानकर, छहकायके जीवोंपर दयाकर। अनादि ही से आप्त, आगम, पदार्थका और इनकी सेवा करनेवालों का सवरूप जाना नहीं, इसलिये अनाप्त आदि छह अनायतन जो मोक्षमार्ग के स्थान नहीं हैं उनको अच्छे समझकर सेवन किया, अतः यह उपदेश है कि अनायतन का परिहार कर। जीवके स्वरूप के उपदेशक ये दोनों ही तूने पहिले जाने नहीं, न भावना की, इसलिये अब भावना कर, इसप्रकार उपदेश है।। १३३।।

आगे कहते हैं कि–––जीवका तथा उपदेश करने वाले का स्वरूप जाने बिना सब जीवों के प्राणों का अहार किया, इसप्रकार दिखाते हैं:–––

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण।
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयल जीवाणं।। १३४।।

दशविधप्राणाहारः अनन्त भवसायरे भ्रमता।
भोगसुखकारणार्थं कृतश्च त्रिविधेन सकलजीवानां।। १३४।।

अर्थः––हे मुने! तूने अनंतभवसागरमें भ्रमण करते हुए, सकल त्रस, स्थावर जीवोंके दश प्रकारके प्राणों का आहार, भोग–सुखके कारण के लिये मन, वचन, कायसे किया।

भावार्थः––अनादिकाल से जिनमतके उपदेशके बिना अज्ञानी होकर तूने त्रस, स्थावर जीवोंके प्राणोंका आहार किया इसलिये अब जीवोंका स्वरूप जानकर जीवोंकी दया पाल, भोगाभिलाष छोड़, यह उपदेश है।। १३४।।

फिर कहते हैं कि ऐसे प्राणियोंकी हिंसा से संसार में भ्रमण कर दुःख पायाः––

भमतां अमित भवसागरे, तें भोगसुखना हेतुअे,
सहु जीव–दशविधप्राणनो आहार कीधो त्रण विधे। १३४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।
उप्पजंत मरंतो पत्तो सि णिरंतरं दुक्खं।। १३५।।

प्राणिवधैः महायशः! चतुरशीतिलक्षयोनिमध्ये।
उत्पद्यमानः क्षियमाणः प्राप्तोऽसि निरंतरं दुःखम्।। १३५।।

अर्थः––हे मुने! हे महायश! तूने प्राणियों के घात से चौरासी लाख योनियों के मध्य में उत्पन्न होते हुए ओर मरते हुए निरंतर दुःख पाया।

भावार्थः––जिनमत के उपदेश के बिना, जीवोंकी हिंसासे यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें उत्पन्न होता है और मरता है। हिंसा से कर्मबंध होता है, कर्मबन्ध के उदय से उत्पत्ति – मरणरूप संसार होता है। इसप्रकार जन्म – मरण के दुःख सहता है, इसलिये जीवोंकी दया का उपदेश है।। १३५।।

आगे उस दया ही का उपदेश करते हैं:––––

जीवाणमथयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं।
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए।। १३६।।

जीवानामभयदानं देहि मुने प्राणिभूतसत्त्वानाम्।
कल्याणसुखनिमित्तं परंपरया त्रिविध शुद्धया।। १३६।।

अर्थः––हे मुने! जीवों को और प्राणीभूत सत्त्वों को अपना परंपरा से कल्याण और सुख होने के लिये मन, वचन, काय की शुद्धता से अभयदान दे।

भावार्थः––'जीव' पंचेन्द्रिय को कहते हैं, 'प्राणी' विकलत्रय को कहते हैं, 'भूत' वनस्पति को कहते हैं और 'सत्त्व' पृथ्वी, अप्, तेज, वायु को कहते हैं। इन सब जीवोंको अपने समान जानकर अभयदान देने का उपदेश है। इससे शुभ प्रकृतियों का बंध होने से अभ्युदयका सुख होता है,

---

प्राणीवधोथी हे महायश! योनि लख चोराशीमां,
उत्पत्तिनां ने मरणनां दुःखो निरंतर तें लह्यां। १३५।

तुं भूत–प्राणी–सत्त्व–जीवने त्रिविध शुद्धि वडे मुनि,
दे अभय, जे कल्याणसौख्य निमित्त पारंपर्यथी। १३६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परम्परा से तीर्थंकरपद पाकर मोक्ष पाता है, यह उपदेश है।। १३६।।

आगे यह जीव षट् अनायतन के प्रसंगसे मिथ्यात्वसे संसार में भ्रमण करता है उसका स्वरूप कहते हैं। पहिले मिथ्तात्व के भेदोंको कहते है:---

असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणइया होंति बत्तीसा।। १३७।।

अशीविशतं क्रियावादिनामक्रियमाणं च भवति चतुरशीतिः।
सप्तषष्टिरज्ञानिनां वैनयिकानां भवति द्वात्रिंशत्।। १३७।।

अर्थः---एकसौ अस्सी क्रियावादी हैं, चौरासी अक्रियावादियों के भेद हैं, अज्ञानी सड़सठ भेदरूप हैं और विनयवादी बत्तीस हैं।

भावार्थः--वस्तु का स्वरूप अनन्तधर्मस्वरूप सर्वज्ञ ने कहा है, वह प्रमाण और नयसे सत्यार्थ सिद्ध होता है। जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं हैं तथा सर्वज्ञसे स्वरूपका यथार्थ रूपसे निश्चय करके उसका श्रद्धान नहीं किया है--ऐसे अन्यवादियोंने वस्तुका एक धर्म ग्रहण करके उसका पक्षपात किया कि हमने इसप्रकार माना है, वह 'ऐसे ही है, अन्य प्रकार नहीं है।' इसप्रकार विधि-निषेध करके एक-एक धर्मके पक्षपाती हो गये, उनके ये संक्षेप से तीनसौ त्रेसठ भेद हो गये हैं।

क्रियावादीः--कई तो गमन करना, बैठना, खड़े रहना, खाना, पीना, सोना, उत्पन्न होना, नष्ट होना, देखना, जानना, करना, भोगना, भूलना, याद करना, प्रीति करना, हर्ष करना, विषाद करना, द्वेष करना, जीना, मरना इत्यादिक क्रियायें हैं; इनको जीवादिक पदार्थों के देख कर किसी ने किसी क्रियाका पक्ष किया है और किसी ने किसी क्रिया का पक्ष किया है। ऐसे परम्परा क्रियाविवाद से भेद हुए हैं, इनके संक्षेप एकसौ अस्सी भेद निरूपण किये हैं, विस्तार करने पर बहुत हो जाते हैं।

कई **अक्रियावादी** हैं, ये जीवादिक पदार्थों में क्रिया का अभाव मानकर आपसमें

शत-अेंशी किरिवादीना, चोराशी तेथी विपक्षना,
बत्रीश सडसठ भेद छे वैनयिक ने अज्ञानीना। १३७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विवाद करते हैं। कई कहते हैं जीव जानता नहीं है, कई कहते हैं कुछ करता नहीं है, कई कहते हैं भोगता नहीं है, कई कहते हैं उत्पन्न नहीं होता है, कई कहते हैं नष्ट नहीं होता है, कई कहते हैं गमन नहीं करता है और कई कहते हैं ठहरता नहीं है---इत्यादि क्रिया के अभाव से पक्षपात से सर्वथा एकान्ती होते हैं। इनके संक्षेपसे चौरासी भेद हैं।

कई **अज्ञानवादी** हैं, इनमें कई तो सर्वज्ञ का अभाव मानते हैं, कई कहते हैं जीव अस्ति है यह कौन जाने? कई कहते हैं जीव नास्ति है यह कौन जाने? कई कहते हैं जीव नित्य है यह कौन जाने? कई कहते हैं जीव अनित्य है यह कौन जाने? इत्यादि संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरूप होकर विवाद करते है। इनके संक्षेपसे सड़सठ भेद हैं। कई **विनयवादी** हैं, उनमें से कई कहते हैं देवादिकके विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं गुरुके विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं माताके विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि पिता के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि राजा के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि सेवक के विनय से सिद्धि है, इत्यादि विवाद करते हैं। इनके संक्षेप से बत्तीस भेद हैं। इसप्रकार सर्वथा एकान्तवादियोंके तीनसौत्रेसठ भेद संक्षेप से हैं, विस्तार करने पर बहुत हो जाते हैं, इनमें कई ईश्वरवादी हैं, कई कालवादी हैं, कई स्वभाववादी हैं, कई विनयवादी हैं, कई आत्मवादी हैं। इनका स्वरूप गोम्मटसारादि ग्रन्थोंसे जानना, ऐसे मिथ्यात्व के भेद हैं।। १३७।।

आगे कहते हैं कि अभव्यजीव अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है, उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता है:---

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिता ण पण्णया णिव्विसा होंति।। १३८।।

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठु अपि आकर्ण्य जिनधर्मम्।
गुडदुग्धमपि पिबंतः न पन्नगाः निर्विषाः भवंति।। १३८।।

सुरीते सुणी जिनधर्म पण प्रकृति अभव्य नहीं तजे,
साकर सहित क्षीरपानथी पण सर्प नहि निर्विष बने। १३८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––अभव्यजीव भलेप्रकार जिनधर्मको सुनकर भी अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है । यहाँ दृष्टाहत है कि सर्प गुड़सहित दूधको पीते रहने पर भी विष रहित नहीं होता है।

भावार्थः––जो कारण पाकर भी नहीं छूटता है उसे 'प्रकृति' या 'स्वभाव' कहते हैं। अभव्यका यह स्वभाव है कि जिसमें अनेकान्त तत्त्वस्वरूप है ऐसे वीतराग– विज्ञानस्वरूप जिनधर्म मिथ्यात्व को मिटाने वाला है, उसका भले प्रकार स्वरूप सुनकर भी जिसका मिथ्यात्वस्वरूप भाव नहीं बदलता है वह वस्तुका स्वरूप है, किसी का नहीं किया हुआ है। यहाँ, उपदेश – अपेक्षा इसप्रकार जानना कि जो अभव्यरूप प्रकृति तो सर्वज्ञ गम्य है, तो भी अभव्य की प्रकृति के समान अपनी प्रकृति न रखना, मिथ्यात्व को छोड़ना यह उपदेश है।। १३८।।

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हैं:–––

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि।। १३९।।

मिथ्यात्वछन्नदृष्टिः दुर्धिया दुर्मतैः दोषैः।
धर्मं जिनप्रज्ञप्तं अभव्यजीवः न रोचयति।। १३९।।

अर्थः––दुर्मत जो सर्वथा एकान्त मत, उनसे प्ररूपित अन्यमत, वे ही हुए दोष उनके द्वारा अपनी दुर्बुद्धि से (मिथ्यात्व से) आच्छादित है बुद्धि जिसकी, ऐसा अभव्यजीव है उसे जिनप्रणीत धर्म नहीं रुचता है, वह उसकी श्रद्धा नहीं करता है, उसमें रुचि नहीं करता है।

भावार्थः––मिथ्यात्व के उपदेश से अपनी दुर्बुद्धि द्वारा जिसके पास मिथ्यादृष्टि है उसको जिनधर्म नहीं रुचता है, तब ज्ञात होता है कि ये अभव्यजीव के भाव हैं। यथार्थ अभव्यजीव को तो सर्वज्ञ जानते हैं, परन्तु ये अभव्य जीवके चिन्ह हैं, इनसे परीक्षा द्वारा जाना जाता है।। १३९।।

आगे कहते हैं कि ऐसे मिथ्यात्व के निमित्त से दुर्गति का पात्र होता है:–––

दुर्बुद्धि–दुर्मतदोषथी मिथ्यात्वआवृत्तदग रहे,
आत्मा अभव्य जिनेंद्र ज्ञापित धर्मनी रुचि नव करे। १३९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासंडि भत्ति संजुत्तो।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होइ।। १४०।।

कुत्सित धर्मे रतः कुत्सितपाषंडि भक्ति संयुक्तः।
कुत्सिततपः कुर्वन् कुत्सितगति भाजनं भवति।। १४०।।

अर्थः––आचार्य कहते हैं कि जो कुत्सित (निंद्य) मिथ्याधर्म में रत (लीन) हैं, जो पाखण्डी निंद्यभेषियों की भक्तिसंयुक्त हैं, जो निंद्य मिथ्यात्वधर्म पालता है, मिथ्यादृष्टियों की भक्ति करता है और मिथ्या अज्ञानतप करता है, वह दुर्गति ही पाता है, यह उपदेश है।। १४०।।

आगे इस ही अर्थको दृढ़ करते हुए कहते है कि ऐसे मिथ्यात्वसे मोहित जीव संसार भ्रमण करता है:–––

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो।
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि।। १४१।।

इति मिथ्यात्वावासे कुनयशास्त्रैः मोहितः जीवः।
भ्रमितः अनादिकालं संसारे धीर! चिन्तय।। १४१।।

अर्थः–– इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार मिथ्यात्वका आवास (स्थान) यह मिथ्यादृष्टियों का संसार में कुनय – सर्वथा एकान्त उन सहित कुशास्त्र, उनसे मोहित (बेहोश) हुआ यह जीव अनादिकाल से लगाकर संसार में भ्रमण कर रहा है, ऐसे हे धीर मुने! तू विचार कर।

भावार्थः––आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त तीन सौ त्रेसठ कुवादियों से सर्वथा एकांतपक्षरूप कुनयद्वारा रचे हुए शास्त्रोंसे मोहित होकर यह जीव संसार में अनादिकालसे भ्रमण करता है, सो हे धीर मुनि! अब ऐसे कुवादियों की संगति भी मत कर, यह उपदेश है।। १४१।।

कुत्सित धरम–रत, भक्ति जे पाखंडी कुत्सितनी करे,
कुत्सित करे तप, तेह कुत्सित गति तणुं भाजन बने। १४०।

हे धीर! चिंतव–जीव आ मोहित कुनय–दुःशास्त्रथी,
मिथ्यात्वघरसंसारमां रखड्यो अनादि काळथी। १४१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि----पूर्वोक्त तीन सौ त्रेसठ पाखण्ड़ियों का मार्ग छोड़कर जिनमार्ग में मन लगाओ:---

पासंडी तिण्णि सया तिसट्ठि भेया उमग्ग मुत्तूण।
रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा।।१४२।।

पाखण्डिन: त्रीणि शतानि त्रिषष्टि भेदा: उन्मार्गं मुक्त्वा।
रुन्धि मन: जिनमार्गे असत्प्रलापेन किं बहुना।।१४२।।

अर्थ:---हे जीव! तीन सौ त्रेसठ पाखण्ड़ियों के मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में अपने मनको रोक (लगा) यह संक्षेप है और निरर्थक प्रलापरूप कहनेसे क्या?

भावार्थ:--इसप्रकार मिथ्यात्वका वर्णन किया। आचार्य कहते हैं कि बहुत निरर्थक वचनालाप से क्या? इतना ही संक्षेप से कहते है कि तीनसौ त्रेसठ कुवादि पाखण्डी कहे उनका मार्ग छोड़कर जिनमार्ग में मनको रोको, अन्यत्र न जाने दो। यहाँ इतना और विशेष जानना कि--कालदोष से इस पंचमकाल में अनेक पक्षपातसे मन-मतांतर हो गये हैं, उनको भी मिथ्या जानकर उनका प्रसंग न करो। सर्वथा एकान्तका पक्षपात छोड़कर अनेकान्तरूप जिनवचन की शरण लो।। १४२।।

आगे सम्यग्दर्शनका निरूपण करते हैं, पहिले कहते हैं कि 'सम्यग्दर्शन रहित प्राणी चलता हुआ मृतक' है:---

जीवविमुक्त: शव: दर्शनमुक्तश्च भवति चलशव:।
शव: लोके अपूज्य: लोकोत्तरे चलशव:।।१४३।।

जविविमुक्को सबओ दंसणमुक्को य होइ चलसबओ।
सबओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसबओ।।१४३।।

अर्थ:--लोकमें जीवरहित शरीरको 'शव' कहते हैं, 'मृतक' या 'मुरदा' कहते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन रहित पुरुष 'चलता हुआ मृतक' है।

उन्मार्गने छोडी त्रिशत-तेसठप्रमित पाखंडीना,
जिनमार्गमां मन रोक; बहु प्रलपन निरर्थथी शुं भला? १४२।

जीवमुक्त शव कहेवाय' चल शव' जाण दर्शनमुक्तने;
शव लोक मांही अपूज्य, चल शव होय लोकोत्तर विषे। १४३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मृतक तो लोकमें अपूज्य है, अग्निसे जलाया जाता है या पृथ्वी में गाड़ दिया जाता है और 'दर्शनरहित चलता हुआ मुरदा' लोकोत्तर जो मुनि – सम्यग्दृष्टि उनमें अपूज्य है, वे उसको वंदनादि नहीं करते हैं। मुनिभेष धारण करता है तो भी उसे संघके बाहर रखते हैं अथवा परलोकमें निंद्यगति पाकर अपूज्य होता है।

भावार्थ:––सम्यग्दर्शन बिना पुरुष मृतकतुल्य है।। १४३।।

आगे सम्यक्त्वका महानपना कहते हैं:–––

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसाववयदुविहधम्माणं।। १४४।।

यथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजः मृगकुलानां सर्वेषाम्।
अधिकः तथा सम्यक्त्वं ऋषिश्रावकद्विविध धर्माणाम्।। १४४।।

अर्थ:––जैसे ताराओं के समूह में चंद्रमा अधिक हैं और मृगकुल अर्थात् पशुओं के समूह में मृगराज (सिंह) अधिक हैं, वैसे ही ऋषि (मुनि) और श्रावक इन दो प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व हैं वह अधिक हैं।

भावार्थ:––व्यवहारधर्म की जितनी प्रवृत्तियाँ हैं उनमें सम्यक्त्व अधिक, इसके बिना सब संसारमार्ग बंधका कारण है।। १४४।।

फिर कहते हैं:–––

जह फणिराओ [१]सोहइ फणमणिमाणिक्ककिरण विप्फुरिओ।
तह विमल दंसणधरो [२]जिणभत्ती पवयणे जीवो।। १४५।।

---

१ मुद्रित संस्कृत प्रति में 'रेहइ' पाठ है जिसका संस्कृत छाया में 'राजते' पाठान्तर है।
२ मुद्रित संस्कृत प्रति में 'जिणभत्तीपवयणो' ऐसा एक पद रूप पद है, जिसकी संस्कृत 'जिनभक्तिप्रवचन' है। यह पाठ यतिभंग सा मालूम होता है।

ज्यम चंद्र तारागण विषे, मृगराज सौ मृगकुल विषे,
त्यम अधिक छे सम्यक्त्व ऋषिश्रावक–द्विविध धर्मो विषे। १४४।

नागेन्द्र शोभे फेणमणिमाणिक्य किरणे चमकतो,
ते रीत शोभे शासने जिनभक्त दर्शननिर्मळो। १४५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यथा फणिराजः शोभते फणमणि माणिक्यकिरण विस्फुरितः।
तथा विमलदर्शनधरः जिनभक्तिः प्रवचने जीवः।। १४५।।

अर्थः––जैसे फणिराज (धरणेन्द्र) है सो फण जो सहस्त्र फण उनमें लगे हुए मणियों के बीच जो लाल – माणिक्य उनकी किरणोंसे विस्फुरित (देदीप्यमान) शोभा पाता है, वैसे ही जिनभक्तिसहित निर्मल सम्यक्दर्शन का धारक जीव प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग के प्ररूपण में शोभा पाता है।

भावार्थः–––सम्यक्त्व सहित जीवकी जिन–प्रवचनमें बड़ी अधिकता है। जहाँ – तहाँ (सब जगह) शास्त्रों में सम्यक्त्वकी ही प्रधानता कही है।। १४५।।

आगे सम्यग्दर्शन सहित लिंग है उसकी महिमा कहते हैं:–––

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले।
भाविय [1]तववयविमलं [2]जिणलिंगं दंसणविसुद्धं।। १४६।।

यथा तारागणसहितं शशधरबिंबं खमंडले विमले।
भावतं तपोव्रतविमलं जिनलिंगं दर्शन विशुद्धम्।। १४६।।

अर्थः––जैसे निर्मल आकाश मंडल में तारोंके समूह सहित चन्द्रमाका बिंब शोभा पाता है, वैसे ही जिनशासन में दर्शनसे विशुद्ध और भावित किये हुए तप तथा व्रतोंसे निर्मल जिनलिंग है सो शोभा पाता है।

भावार्थः––जिनलिंग अर्थात् 'निर्ग्रंथ मुनिभेष' यद्यपि तप–व्रतसहित निर्मल है, तो भी सम्यग्दर्शन के बिना शोभा नहीं पाता है। इसके होने पर ही अत्यन्त शोभायमान होता है।। १४६।।

आगे कहते हैं कि ऐसा जानकर दर्शनरत्नको धारण करो, ऐसा उपदेश करते हैं:––

---

१ मुद्रित संस्कृत प्रति में 'तह वयविमलं' ऐसा पाठ है, जिसकी संस्कृत 'तथा व्रतमिलं' है।
२ इस गाथाका चतुर्थ पाद यतिभंग है। इसकी जगह 'जिनलिगं दंसणेम सुविसुद्धं' होना ठीक जाँचता है।

शशिबिंब तारकवृंद सह निर्मळ नभे शोभे घणुं,
त्यम शोभतुं तपव्रतविमळ जिनलिंग दर्शन निर्मळुं। १४६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स।। १४७।।

इति ज्ञात्वा गुणदोषं दर्शनरत्नं धरतभावेन।
सारं गुणरत्नानां सोपानं प्रथमं मोक्षस्य।। १४७।।

अर्थः––हे मुने! तू 'इति' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वके गुण और मिथ्यात्वके दोषोंको जानकर सम्यक्त्वरूपी रत्नको भावपूर्वक धारण कर। यह गुणरूपी रत्नोंमें सार है और मोक्षरूपी मंदिरका प्रथम सोपान है अर्थात् चढ़ने के लिये पहिली सीढ़ी है।

भावार्थः––जितने भी व्यवहार मोक्षमार्ग के अंग हैं, (गृहस्थके दान – पूजादिक और मुनिके महाव्रत – शीलसंयमादिक) उन सबमें सार सम्यग्दर्शन है, इससे सब सफल हैं, इसलिये मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग्दर्शन अंगीकार करो, यह प्रधान उपदेश है।। १४७।।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन किसको होता है? जो जीव, जीवपदार्थ के स्वरूप को जानकर इसकी भावना करे, इसका श्रद्धान करके अपने को जीव पदार्थ जानकर अनुभव द्वारा प्रतीति करे उसके होता है। इसलिये अब यह जीवपदार्थ कैसा है उसका स्वरूप कहते हैं:––

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य।
दंसणणाणुवओगो [१]णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं।। १४८।।

कर्त्ता भोक्ता अमूर्त्तः शरीरमात्रः अनादिनिधनः च।
दर्शनज्ञानोपयोगः निर्दिष्टः [२]जिनवरेन्द्रैः।। १४८।।

---

१ पाठान्तरः – जीवो णिद्दिट्ठो।
२ पाठान्तरः – जीवः निर्दिष्टः।

ईम जाणीने गुणदोष धारो भावथी दगरत्नने,
जे सार गुणरत्नो विषे ने प्रथम शिवसोपान छे। १४७।

कर्ता तथा भोक्ता, अनादि–अनंत, देहप्रमाण ने,
वणमूर्ति, दगज्ञानोपयोगी जीव भाख्यो जिनवरे। १४८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः———'जीव' नामक पदार्थ है सो कैसा है———कर्त्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीरप्रमाण है, अनादि निधन है, दर्शन – ज्ञान उपयोगवाला है, इसप्रकार जिनवरेन्द्र सर्वज्ञदेव वीतराग ने कहा है।

भावार्थः——यहाँ 'जीव' नामक पदार्थ के छह विशेषण कहे। इनका आशय ऐसा है कि———

१ – '**कर्ता**' कहा, वह निश्चयनय से अपने अशुद्ध भावोंका अज्ञान अवस्था में आप ही कर्ता है तथा व्यवहारनयसे ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का कर्ता है और शुद्धनय से अपने शुद्धभावों का कर्ता है।

२ – '**भोक्ता**' कहा, वह निश्चयनयसे तो अपने ज्ञान – दर्शनमयी चेतनाभावका भोक्ता है और व्यवहार नयसे पुद्गलकर्मके फल जो सुख–दुःख आदिका भोक्ता है।

३ – '**अमूर्तिक**' कहा, वह निश्चयसे तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द ये पुद्गल के गुण–पर्याय हैं, इनसे रहित अमूर्तिक है और व्यवहार से जबतक पुद्गल कर्मसे बंधा है तब तक 'मूर्तिक' भी कहते हैं।

४ – '**शरीरपरिमाण**' कहा, वह निश्चयसे तो असंख्यातप्रदेशी लोकपरिमाण है, परन्तु संकोच – विस्तारशक्तिसे शरीर से कुछ कम प्रदेश प्रमाण आकार में है।

५ – '**अनादिनिधन**' कहा, वह पर्यायदृष्टि से देखने पर तो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, तो भी द्रव्यदृष्टिसे देखा जाये तो अनादिनिधन सदा नित्य अविनाशी है।

६ – '**दर्शन - ज्ञान उपयोगसहित**' कहा, वह देखने–जाननेरूप उपयोगस्वरूप चेतनारूप है।

इन विशेषणोंसे अन्यमती अन्यप्रकार सर्वथा एकान्तरूप मानते हैं उनका निषेध भी जानना चाहिये। '**कर्ता**' विशेषणसे तो सांख्यमती सर्वथा अकर्ता मानता है उसका निषेध है। '**भोक्ता**' विशेषणसे बौद्धमती क्षणिक मानकर कहता है कि कर्म को करने वाला तो ओर है तथा भोगने वाला ओर है, इसका निषेध है। जो जीव कर्म करता है उसका फल वही जीव भोगता है, इस कथन से बौद्धमती के कहने का निषेध है। '**अमूर्तिक**' कहने से मीमांसक आदि इसे शरीर सहित मूर्तिक ही मानते हैं, उनका निषेध है। '**शरीरप्रमाण**' कहने से नैयायिक, वैशेषिक, वेदान्ती आदि सर्वथा, सर्वव्यापक मानते हैं उनका निषेध है। '**अनादिनिधन**' कहनेसे बौद्धमती सर्वथा क्षणस्थायी मानता है , उसका निषेध है। '**दर्शनज्ञानउपयोगमयी**' कहने से सांख्यमती

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तो ज्ञानरहित चेतनामात्र मानता है, नैयायिक, वैशेषिक, गुणगुणीके सर्वथा भेद मानकर ज्ञान और जीवके सर्वथा भेद मानते हैं, बौद्धमतका विशेष 'विज्ञानाद्वैतवादी' ज्ञानमात्र ही मानता है और वेदांती ज्ञानका कुछ निरूपण ही नहीं करता है, इन सबका निषेध है।

इसप्रकार सर्वज्ञका कहा हुआ जीवका स्वरूप जानकर अपने को ऐसा मानकर श्रद्धा, रुचि, प्रतीति करना चाहिये। जीव कहने से अजीव पदार्थ भी जाना जाता है, अजीव न हो तो जीव नाम कैसे होता? इसलिये अजीव का स्वरूप क्या है, वैसा ही उसका श्रद्धान आगम अनुसार करना। इसप्रकार अजीव पदार्थ का स्वरूप जानकर और दोनोंके संयोग से अन्य आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन भावों की प्रवृत्ति होती है। इनका आगम के अनुसार स्वरूप जानकर श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, इसप्रकार जानना चाहिये।। १४८।।

आगे कहते हैं कि यह जीव 'ज्ञान–दर्शन उपयोगमयी है', किन्तु अनादि पौद्गलिक कर्मके संयोग से इसके ज्ञान –दर्शन की पूर्णता नहीं होती है, इसलिये अल्प ज्ञान–दर्शन अनुभव में आता है और उसमें अज्ञानके निमित्त से इष्ट– अनिष्ट बुद्धिरूप राग–द्वेष–मोह भावके द्वारा ज्ञान– दर्शनमें कलुषतारूप सुख–दुःखादिक भाव अनुभवमें आते हैं। यह जीव निजभावनारूप सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है तब ज्ञान – दर्शन – सुख –वीर्यके घातक कर्मोंका नाश करता है, ऐसा दिखाते हैं:–––

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठवइ भविय जीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो।। १४९।।

दर्शन ज्ञानावरणं मोहनीयं अन्तरायकं कर्म।
निष्ठापयति भव्यजीवाः सम्यक् जिनभावनायुक्तः।। १४९।।

अर्थः––सम्यक्प्रकार जिनभावनासे युक्त भव्यजीव है वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंका निष्ठानपन करता है अर्थात् सम्पूर्ण अभाव करता है।

દગજ્ઞાનઆવૃતિ, મોહ તેમજ અંતરાયક કર્મને
સમ્યક્પણે જિનભાવનાથી ભવ્ય આત્મા ક્ષય કરે। ૧૪૯।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––दर्शनका घातक दर्शनावरण कर्म है, ज्ञानका घातक ज्ञानावरण कर्म है, सुखका घातक मोहनीय कर्म है, वीर्यका घातक अन्तराय कर्म है। इनका नाश कौन करता है? सम्यक्प्रकार जिनभावना भाकर अर्थात् जिनआज्ञा मानकर जीव–अजीव आदि तत्त्वका यथार्थ निश्चय कर श्रद्धावान् हुआ हो वह जीव करता है। इसलिये जिन आज्ञा मानकर यथार्थ श्रद्धान करो यह उपदेश है।। १४९।।

आगे कहते हैं कि इन घातिया कर्मोंका नाश होने पर 'अनन्तचतुष्टय' प्रकट होते हैं:––

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति।
णट्ठे घाइयउक्के लोयालोयं पयासेदि।। १५०।।

बल सौख्य ज्ञानदर्शनानि चत्वारोऽपि प्रकटागुणाभवंति।
नष्टे घातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति।। १५०।।

अर्थः––पूर्वोक्त चार घातिया कर्मोंका नाश होने पर अनन्त ज्ञान–दर्शन–सुख और बल (–वीर्य) ये चार गुण प्रगट होते हैं। जब जीवके ये गुणकी पूर्ण निर्मल दशा प्रकट होती है तब लोकालोकको प्रकाशित करता है।

भावार्थः––घातिया कर्मोंका नाश होने पर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये अनन्तचतुष्टय प्रकट होते हैं। अनन्त दर्शन–ज्ञानसे छह द्रव्योंसे भरे हुए इस लोकमें अनन्तानन्त जीवोंको, इनसे भी अनन्तानन्तगुणे पुद्गलोंको तथा धर्म–अधर्म–आकाश ये तीनो द्रव्य और असंख्यात कालाणु इन सब द्रव्योंकी अतीत, अनागत और वर्तमानकाल संबन्धी अनन्तपर्यायोंको भिन्न–भिन्न एक समय में स्पष्ट देखता है और जानता है। अनन्तसुख से अत्यंततृप्तिरूप है और अनन्तशक्ति द्वारा अब किसी भी निमित्त से अवस्था पलटती (बदलती) नहीं है। ऐसे अनन्तचतुष्टयरूप जीव का निज स्वभाव प्रकट होता है, इसलिये जीवके स्वरूपका ऐसा परमार्थ से श्रद्धान करना वह ही सम्यग्दर्शन है।। १५०।।

चउघातिनाशे ज्ञान–दर्शन–सौख्य–बळ चारे गुणो
प्राकट्य पामे जीवने, परकाश लोकालोकनो। १५०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे जिसके अनन्तचतुष्टय पगट होते हैं उसको परमात्मा कहते हैं। उसके अनेक नाम हैं, उनमें से कुछ प्रकट कर कहते हैं:———

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं।। १५१।।

ज्ञानी शिवः परमेष्ठी सर्वज्ञः विष्णुः चतुर्मुखः बुद्धः।
आत्मा अपि च परमात्मा कर्मविमुक्तः च भवति स्फुटम्।। १५१।।

अर्थः——परमात्मा ज्ञानी है, शिव है, परमेष्ठी है, सर्वज्ञ है, विष्णु है, चतुर्मुख ब्रह्मा है, बुद्ध है, आत्मा है, परमात्मा है और कर्मरहित है, यह स्पष्ट जानो।

भावार्थः——'ज्ञानी कहने से सांख्यमती ज्ञानरहित उदासीन चैतन्यमात्र मानता है उसका निषेध है। '**शिव**' है अर्थात् सब कल्याणोंसे परिपूर्ण है, जैसा सांख्यमती, नैयायिक, वैशेषिक मानते हैं वैसा नहीं है। '**परमेष्ठी**' है सो परम (उत्कृष्ट) पदसे स्थित है अथवा उत्कृष्ट इष्टत्व स्वभाव है। जेसे अन्यमती कई अपना इष्ट कुछ मान करके उसको परमेष्ठी कहते हैं वैसे नहीं है। '**सर्वज्ञ**' है अर्थात् सब लोकालोकको जानता है, अन्य कितने ही किसी एक प्रकरण संबन्धी सब बात जानता है उसको भी सर्वज्ञ कहते हैं वैसे नहीं है। '**विष्णु**' है अर्थात् जिसका ज्ञान सब ज्ञेयों में व्यापक है——अन्यमती वेदांती आदि कहते हैं कि पदार्थोंमें आप है तो ऐसा नहीं है।

'**चतुर्मुख**' कहने से केवली अरहंत के समवसरण में वार मुख चारों दिशाओं में दिखते हैं ऐसा अतिशय है, इसलिये चतुर्मुख कहते हैं———अन्यमती ब्रह्मा को चतुर्मुख कहते हैं वैसा ब्रह्मा कोई नहीं है। '**बुद्ध**' है अर्थात् सबका ज्ञाता है———बौद्धमती क्षणिक को बुद्ध कहते हैं वैसा नहीं है। '**आत्मा**' है अपने स्वभाव ही में निरन्तर प्रवर्तता है——अन्यमती वेदान्ती सबमें प्रवर्तते हुए आत्माको मानते हैं वैसा नहीं है। '**परमात्मा**' है अर्थात् आत्मा को पूर्णरूप 'अनन्तचतुष्टय' उसके प्रगट हो गये हैं, इसलिये परमात्मा है। कर्म जो आत्मा के स्वभाव के घातक घातियाकर्मोंसे रहित हो गये हैं इसलिये '**कर्म विमुक्त**' हैं, अथवा कुछ करने योग्य काम न रहा इसलिये भी कर्मविमुक्त हैं। सांख्यमती, नैयायिक सदा ही कर्मरहित मानते हैं वैसा नहीं है।

ते ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी छे, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध छे,
आत्मा तथा परमातमा, सर्वज्ञ, कर्मविमुक्त छे। १५१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सांख्यमती, नैयायिक सदा ही कर्मरहित मानते हैं वैसा नहीं है। ऐसे परमात्मा के सार्थक नाम हैं। अन्यमती अपने इष्ट का नाम एक ही कहते हैं, उनका सर्वथा एकान्तके अभिप्रायके द्वारा अर्थ बिगड़ता है इसलिये यथार्थ नहीं है। अरहन्तके ये नाम नयविवक्षा से सत्यार्थ हैं , ऐसा जानो।। १५१।।

आगे आचार्य कहते हैं कि ऐसा देव मुझे उत्तम बोधि देवे:---

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो।
तिहुवणभवणपदीवी देउ ममं उत्तमं बोहिं।। १५२।।

इति घातिकर्ममुक्तः अष्टादशदोषवर्जितः सकलः।
त्रिभुवनभवनप्रदीपः ददातु मह्यं उत्तमां बोधिम्।। १५२।।

अर्थः--इसप्रकार घातिया कर्मोंसे रहित, क्षुधा तृषा आदि पूवोक्त अठारह दोषों से रहित, सकल (शरीरसहित) और तीन भुवनरूपी भवन को प्रकाशित करने के लिये प्रकृष्ट दीपकतुल्य देव है, वह मुझे उत्तम बोधि (-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की प्राप्ति देवे, इसप्रकार आचार्य ने प्रार्थना की है।

भावार्थः--यहाँ और तो पूर्वोक्त प्रकार जानना, परन्तु 'सकल' विशेषणका यह आशय है कि --मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करने के जो उपदेश हैं वह वचनके प्रवर्ते बिना नहीं होते हैं और वचन की प्रवृत्ति शरीर बिना नहीं होती है, इसलिये अरहंतका आयुकर्मके उदय से शरीर सहित अवस्थान रहता है और सुस्वर आदि नामकर्मके उदय से वचन की प्रवृत्ति होती है। इस तरह अनेक जीवोंका कल्याण करने वाला उपदेश होता रहता है। अन्यमतियोंके ऐसा अवस्थान (ऐसी स्थित) परमात्मा के संभव नहीं है, इसलिये उपदेश की प्रवृत्ति नहीं बनती है, तब मोक्षमार्गका उपदेश भी नहीं बनता है। इसप्रकार जानना चाहिये।। १५२।।

आगे कहते हैं कि जो अरहंत जिनेश्वर के चरणोंको नमस्कार करते हैं वे संसार की जन्मरूप बेलको काटते हैं:----

---

चउघातिकर्मविमुक्त, दोष अढार रहित, सदेह अे
त्रिभुवनभवनना दीप जिनवर बोधि दो उत्तम मने। १५२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण।। १५३।।

जिनवरचरणांबुरुहं नमंतिये परमभक्तिरागेण।
ते जन्मवल्लीमूलं खनंति वरभावशस्त्रेण।। १५३।।

अर्थ:––जो पुरुष परम भक्ति अनुराग से जिनवर के चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं वे श्रेष्ठभावरूप 'शस्त्र' से जन्म अर्थात् संसाररूपी बेलके मूल जो मिथ्यात्व आदि कर्म, उनको नष्ट कर डालते हैं (खोद डालते हैं)।

भावार्थ:––अपनी श्रद्धा–रुचि–प्रतीति से जो जिनेश्वरदेवको नमस्कारकरता है, उनके सत्यार्थस्वरूप सर्वज्ञ–वीतरागपन को जानकर भक्तिके अनुरागसे नमस्कार करता है तब ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका यह चिन्ह है, इसलिये मालूम होता है कि इसके मिथ्यात्वका नाश हो गया, अब आगामी संसारकी वृद्धि इसके नहीं होगी, इसप्रकार बताया है।। १५३।।

आगे कहते हैं कि जो जिनसम्यक्त्व को प्राप्त परुष है सो वह आगामी कर्म से लिप्त नहीं होता है:–––

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो।। १५४।।

यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या।
तथा भावेन न लिप्यते कषायविषयैः सत्पुरुषः।। १५४।।

अर्थ:––जैसे कमलिनी का पत्र अपने स्वभावसे ही जलसे लिप्त नहीं होता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि सत्पुरुष है वह अपने भावसे ही क्रोधादिक कषाय और इन्द्रियोंके विषयोंमें लिप्त नहीं होता है।

જે પરમભક્તિરાગથી જિનવરપદાંબુજને નમે,
તે જન્મવેલીમૂળને વર ભાવશસ્ત્ર વડે રખણે। ૧૫૩।

જ્યમ કમલિનીના પત્રને નહિ સલિલલેપ સ્વભાવથી,
ત્યમ સત્પુરુષને લેપ વિષયકષાયનો નહિ ભાવથી। ૧૫૪।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ––सम्यग्दृष्टि पुरुष के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का तो सर्वथा अभाव ही है, अन्य कषायोंका यथासंभव अभाव है। मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीके अभाव से ऐसा भाव होता है। यद्यपि परद्रव्यमात्र के कर्तृत्वकी बुद्धि तो नहीं है, परन्तु शेष कषायोंके उदय से कुछ राग–द्वेष होता है, उसको कर्मके उदय के निमित्तसे हुए जानता है, इसलिये उसमें भी कर्तृत्वबुद्धि नहीं है, तो भी उन भावोंको रोगके समान हुए जानकर अच्छा नहीं समझता है। इसप्रकार अपने भावोंसे ही कषाय–विषयोंसे प्रीति–बुद्धि नहीं है, इसलिये उनसे लिप्त नहीं होता है, जलकमलवत् निर्लेप रहता है। इससे आगामी कर्मका बन्ध नहीं होता है, संसारकी वृद्धि नहीं होती है, ऐसा आशय है।।१५४।।

आगे कहते हैं कि जो पूर्वोक्त भाव सहित सम्यग्दृष्टि सत्पुरुष हैं वे ही सकल शील संयमादि गुणोंसे संयुक्त हैं , अन्य नहीं हैं:––

ते [1]च्चिय भणामि हं जे सयलकला सीलसंजमगुणेहिं।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो।। १५५।।

[2]तानेव च भणामि ये सकलकलाशीलसंयमगुणैः।
बहुदोषाणामावासः सुमलिन चित्तः न श्रावकसमः सः।। १५५।।

अर्थः––पूवोक्त भाव सहित सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और शील संयम गुणोंसे सकल कला अर्थात् संपूर्ण कलावान होते हैं, उनही को हम मुनि कहते हैं। जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, मलिनचित्त सहित मिथ्यादृष्टि हैं और बहुत दोषोंका आवास (स्थान) है वह तो भेष धारण करता है तो भी श्रावकके समान भी नहीं है।

भावार्थः––जो सम्यग्दृष्टि है और शील (–उत्तरगुण) तथा संयम (–मूलगुण) सहित है वह मुनि है। जो मिथ्यादृष्टि है अर्थात् जिसका चित्त मिथ्यात्व से मलिन है और जिसमें क्रोधादि विकाररूप बहुत दोष पाये जाते हैं, वह तो मुनि का भेष धारण करता है तो भी श्रावकके समान भी नहीं है, श्रावक सम्यग्दृष्टि हो और गृहस्थाचारके पाप सहित हो तो भी उसके बराबर वह–केवल भेष मात्रको धारण करने वाला मुनि––नहीं है, ऐसा आचार्य ने कहा है।। १५५।।

---

१ पाठान्तरः – चि य।
२ पाठान्तरः – तान् अपि

कहुं ते ज मुनि जे शीलसंयमगुण–समस्तकळा–धरे,
जे मलिनमन बहुदोषघर, ते तो न श्रावकतुल्य छे। १५५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि होकर जिनने कषायरूप सुभट जीते वे ही धीरवीर हैं:--

ते धीर वीर पुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरं तेण।
दुज्जयपबल बलुद्धर कसायभड णिज्जिया जेहिं।। १५६।।

ते धीर वीर पुरुषाः क्षमादमखड्गेण विस्फुरता।
दुर्जयप्रबलबलोद्धतकषायभटाः निर्जिता यैः।। १५६।।

अर्थः--जिन पुरुषोंने क्षमा और इन्द्रियोंका दमन वह ही हुआ विस्फुरता अर्थात् सजाया हुआ मलिनता रहित उज्ज्वल तीक्षण खड्ग, उससे जिनको जीतना कठिन है ऐसे दुर्जय, प्रबल तथा बलसे उद्धत कषायरूप सुभटों को जीते, वे ही धीरवीर सुभट हैं, अन्य संग्रामादिक में जीतनेबाले तो 'कहने के सुभट' हैं।

भावार्थः--युद्ध में जीतनेवाले शूरवीर तो लोकमें बहुत हैं, परन्तु कषायों को जीतनेवाले विरले हैं, वे मुनिप्रधान हैं और वे ही शूरवीरों में प्रधान हैं। जो सम्यग्दृष्टि होकर कषायोंको जीतकर चारित्रवान् होते हैं वे मोक्ष पाते हैं, ऐसा आशय है।। १५६।।

आगे कहते हैं कि जो आप दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होते हैं वे अन्यको भी उन सहित करते हैं, उनको धन्य है:---

धण्णा ते भगवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं।। १५७।।

ते धन्याः भगवंतः दर्शनज्ञानाग्रप्रवरहस्तैः।
विषयमकरधरपतिताः भव्याः उत्तारिताः यैः।। १५७।।

अर्थः--जिन सत्पुरुषों ने विषयरूप मकरधर (समुद्र) में पड़े हुए भव्यजीवोंको - दर्शन और ज्ञानरूपी मुख्य दोनों हाथोंसे - पार उतार दिया, वे मुनिप्रधान भगवान्

ते धीरवीर नरो, क्षमादम-तीक्ष्णखड्गे जेमणे,
क्रत्या सुदुर्जय-उग्रबळ-मदमत्त-सुभट-कषायने। १५६।

छे धन्य ते भगवंत, दर्शन ज्ञान-उत्तम कर वडे,
जे पार करता विषयमकराकरपतित भवि जीवने। १५७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इन्द्रादिक से पुज्य ज्ञानी धन्य हैं।

भावार्थः––इस संसार–समुद्रसे आप तिरें और दूसरोंको तिरा देवें वह मुनि धन्य हैं। धनादिक सामग्रीसहितको 'धन्य' कहते हैं, वह तो 'कहने के धन्य' हैं।। १५७।।

आगे फिर ऐसे मुनियोंकी महिमा करते हैं:–––––

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं।। १५८।।

मायावल्लीं अशेषां मोहमहातरुवरे आरूढाम्।
विषयविषपुष्पपुष्पितां लुनंति मुनयः ज्ञानशस्त्रैः।। १५८।।

अर्थः––माया (कपट) रूपी बेल जो मोहरूपी वृक्ष पर चढ़ी हुई है तथा विषयरूपी विष के फूलोंसे फूल रही है उसको मुनि ज्ञानरूपी शस्त्र से समस्ततया काट डालते हैं अर्थात् निःशेष कर देते हैं।

भावार्थः––यह मायाकषाय गूढ़ है, इसका विस्तार भी बहुत है, मुनियों तक फैलती है, इसलिये जो मुनि ज्ञानसे इसको काट डालते हैं वे ही सच्चे मुनि हैं, वे ही मोक्ष पाते हैं।। १५८।।

आगे फिर उन मुनियोंके सामर्थ्य को कहते हैं:–––

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण।। १५९।।

मोहमदगारवैः च मुक्ताः ये करुणभावसंयुक्ताः।
ते सर्वदुरितस्तंभं घ्नंति चारित्रखड्गेन।। १५९।।

अर्थः––जो मुनि मोह–मद–गौरव से रहित हैं और करुणाभाव सहित हैं, वे ही चारित्ररूपी खड्गसे पापरूपी स्तंभको हनते हैं अर्थात् मूलसे काट डालते हैं।

मुनि ज्ञानशस्त्रे छेदता संपूर्ण मायावेलने,
–बहु विषय–विषपुष्पे खीली, आरूढ मोहमहाद्रुमे। १५८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ:––परद्रव्यसे ममत्वभावको 'मोह' कहते हैं। 'मद'–––जाति आदि परद्रव्य संबंधसे गर्व होने को 'मद' कहते हैं। 'गौरव' तीन प्रकार का है–––ऋद्धि गौरव, सात गौरव और रसगौरव। जो कुछ तपोबलसे अपनी महंतता लोकमें हो उसका अपनेको मद आवे, उसमें हर्ष माने वह 'ऋद्धिगौरव' है। यदि अपने शरीरमें रोगादिक उत्पन्न न हों तो सुख माने तथा प्रमाद युक्त होकर अपना महंतपना माने 'सातगौरव' है। यदि मिष्ट–पुष्ट रसीला आहारादिक मिले तो उसके निमित्तसे प्रमत्त होकर शयनादिक करे 'रसगौरव' है। मुनि इसप्रकार गौरव से तो रहित हैं और परजीवों की करुणासे सहित हैं; ऐसा नहीं है कि परजीवोंसे मोहममत्व नहीं है इसलिये निर्दय होकर उनको मारते हैं, परन्तु जब तक राग अंश रहता है तब तक पर जीवों की करुणा ही करते हैं, उपकारबुद्धि रहती है। इसप्रकार ज्ञानी मुनि पाप जो अशुभकर्म उसका चारित्र के बल से नाश करते हैं।। १५९।।

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार मूलगुण और उत्तरगुणों से मंडित मुनि हैं वे जिनमत में शोभा पाते हैं:–––

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे।। १६०।।

गुणगण मणिमालया जिनमतगगने निशाकरमुनींद्रः।
तारावलीपरिकरितः पूर्णिमेन्दुरिव पवनपथं।। १६०।।

अर्थ:––जैसे पवनपथ (–आकाश) में तारोंकी पंक्तिके परिवार से वेष्टित पूर्णिमा का चंद्रमा शोभा पाता है, वैसे ही जिनमतरूप आकाशमें गुणोंके समूहरूपी मणियोंकी माला से मुनीन्द्ररूपी चंद्रमा शोभा पाता है।

मद–मोह–गारवमुक्त ने जे युक्त करूणाभावथी,
सघळा दुरितरूप थंभने घाते चरण–तरवारथी। १५९।

तारावली सह जे रीते पूर्णेन्दु शोभे आभमां,
गुणवृंदमणिमाळा सहित मुनिचंद्र जिनमत गगनमां। १६०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––अट्ठाईस मूलगुण, दशलक्षण धर्म, तीन गुप्ति और चौरासी लाख उत्तरगुणोंकी मालासहित मुनि जिनमतमें चन्द्रमाके समान शोभा पाता है, ऐसे मुनि अन्यमत में नहीं हैं।। १६०।।

आगे कहते हैं कि जिनके इसप्रकार विशुद्ध भाव हैं वे सत्पुरुष तीर्थंकर आदि पदके सुखोंको पाते हैंः–––––

चक्कहररामकेसवसुरवरजिणणहराइसोक्खाइं।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्ध भावा णरा पत्ता।।१६१।।

चक्रधररामकेशवसुरवरजिनगणधरादि सौख्यानि।
चारणमुन्यर्द्धी; विशुद्धभावा नराः प्राप्ताः।।१६१।।

अर्थः––विशुद्धभाव वाले ऐसे नर मुनि हैं वह चक्रधर (–चक्रवर्ती, छह खंडका राजेन्द्र) राम (–बलभद्र) केशव (–नारायण, अर्द्धचक्री) सुरबर (देवोंका इन्द्र) जिन (तीर्थंकर पंचकल्याणक सहित, तीनलोकसे पूज्य पद) गणधर (चार ज्ञान और सप्तऋद्धिके धारक मुनि) इनके सुखोंको तथा चारणमुनि (जिनके आकाशगामिनी आदि ऋद्धियाँ पाई जाती हैं) की ऋद्धियोंको प्राप्त हुए।

भावार्थः––पहिले इसप्रकार निर्मल भावोंके धारक पुरुष हुए वे इस प्रकारके पदों के सुखोंको प्राप्त हुए, अब जो ऐसे होंगे वे पायेंगे, ऐसा जानो।। १६१।।

आगे कहते हैं कि मोक्षका सुख भी ऐसे ही पाते हैंः–––

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा।।१६२।।

चक्रेश–केशव–राम–जिन–गणी–सुरवरादिक–सौख्यने,
चारणमुनीद्रसुऋद्धिने सुविशुद्धभाव नरो लहे। १६१।

जिनभावनापरिणत जीवो वरसिद्धि सुख अनुपम लहे,
शिव, अतुल, उत्तम, परम निर्मळ, अजर–अमर स्वरूप जे। १६२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शिवमजरामलिंगं अनुपममुत्तमं परमविमलमतुलम्।
प्राप्तो वरसिद्धिसुखं जिनभावनाभाविता जीवाः।। १६२।।

अर्थः––जो जिन भावना से भावित जीव हैं वे ही सिद्धि अर्थात् मोक्ष के सुखको पाते हैं। कैसा है सिद्धिसुख? 'शिव' है, कल्याणरूप है, किसीप्रकार उपद्रव सहित नहीं है, 'अजरामरलिंग' है अर्थात् जिसका चिन्ह वृद्ध होना और मरना इन दोनोंसे रहित है, 'अनुपम' है, जिसको संसारके सुखकी उपमा नहीं लगती है, 'उत्तम' (सर्वोत्तम) है, 'परम' (सर्वोत्कृष्ट) है, महार्घ्य है अर्थात् महान् अर्घ्य–पूज्य प्रशंसा के योग्य है, 'विमल' है कर्मके मल तथा रागादिक मलके रहित है। 'अतुल' है, इसके बराबर संसारका सुख नहीं है, ऐसे सुखको जिन–भक्त पाता है, अन्यका भक्त नहीं पाता है।। १६२।।

आगे आचार्य प्रार्थना करते हैं कि जो ऐसे सिद्ध सुख को प्राप्त हुए सिद्ध भगवान वे मुझे भावों की शुद्धता देवें:––––

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा।
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसण णाणे चरित्ते य।। १६३।।

ते मे त्रिभुवनमहिताः सिद्धाः सुद्धाः निरंजनाः नित्याः।
ददतु वरभावशुद्धिं दर्शने ज्ञाने चारित्रे च।। १६३।।

अर्थः––सिद्ध भगवान मुझे दर्शन, ज्ञान में और चारित्र में श्रेष्ठ उत्तमभाव की शुद्धता देवें। कैसे हैं सिद्ध भगवान्? तीन भुवन से पूज्य हैं, शुद्ध हैं, अर्थात् द्रव्यकर्म और नोकर्म रूप मल से रहित हैं, निरंजन हैं अर्थात् रागादि कर्मसे रहित हैं, जिनके कर्मकी उत्पत्ति नहीं है, नित्य है–––प्राप्त स्वभावका फिर नाश नहीं है।

भावार्थः––आचार्य ने शुद्धभावका फल सिद्ध अवस्था और जो निश्चय इस फलको प्राप्त हुए सिद्ध, इनसे यही प्रार्थना की है कि शुद्धभाव की पूर्णता हमारे होवे।। १६३।।

आगे भावके कथन का संकोच करेत हैं:–––

भगवंत सिद्धो–त्रिजग पूजित, नित्य, शुद्ध, निरंजना,
–वर भावशुद्धि दो मने दग, ज्ञान ने चारित्रमां। १६३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य।
अण्णे वि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे।। १६४।।

किं जल्पितेन बहुना अर्थः धर्मः च काममोक्षः च।
अन्ये अपि च व्यापाराः भावे परिस्थिताः सर्वे।। १६४।।

अर्थः––आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और अन्य को कुछ व्यापार है वह सब ही शुद्धभावमें समस्तरूपसे स्थित है।

भावार्थः––पुरुषके चार प्रयोजन प्रधान हैं––धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। अन्य भी जो कुछ मंत्रसाधनादिक व्यापार हैं वे आत्माके शुद्ध चैतन्यपरिणामस्वरूप भावमें स्थित हैं। शुद्धभावसे सब सिद्धि है, इसप्रकार संक्षेपसे कहना जानो, अधिक क्या कहें? ।। १६४।।

आगे इस भावपाहुडको पूर्ण करते हुए इसके पढ़ने–सुनने व भावना करनेका (चिन्तनका) उपदेश करते हैं:–––

इय भावपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहि देसियं सम्मं।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं।। १६५।।

इति भावप्राभृतमिदं सर्व बुद्धैः देशितं सम्यक्।
यः पठति श्रृणोति भावयति सः प्राप्नोति अविचलं स्थानम्।। १६५।।

अर्थः––इसप्रकार इस भावपाहुड का सर्वबुद्ध – सर्वज्ञदेवने उपदेश दिया है, इसको जो भव्यजीव सम्यक्प्रकार पढ़ते हैं, सुनते हैं और इसका चिन्तन करते हैं वे शाश्वत सुखके स्थान मोक्षको पाते हैं।

भावार्थः–– यह भावपाहुड ग्रंथ सर्वज्ञकी परम्परा से अर्थ लेकर आवार्य ने कहा है, इसलिये सर्वज्ञका ही उपदेश है, केवल छद्मस्थ का ही कहा हुआ नहीं है, इसलिये आचार्य ने अपना कर्त्तव्य प्रधान कर नहीं कहा है। इसके पढ़ने –सुननेका फल मोक्ष कहा, वह युक्त ही है। शुद्धभाव से मोक्ष होता है और इसके पढ़ने से शुद्ध भाव होते हैं।

बहु कथन शुं करवुं? अरे! धर्मार्थ कामविमोक्ष ने
बीजाय बहु व्यापार, ते सौ भाव मांही रहेल छे। १६४।

अे रीत सर्वज्ञे कथित आ भावप्राभृत–शास्त्रनां
सुपठन–सुश्रवण–सुभावनाथी वास अविचळ धाममां। १६५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

[नोंध---यहाँ सवश्रयी निश्चय में शुद्धता करे तो निमित्त में शास्त्र–पठनादि में व्यवहारसे निमित्तकारण – परंपरा कारण कहा जाय। अनुपचार – निश्चय बिना उपचार –व्यवहार कैसे? इसप्रकार इसका पढ़ना, सुनना, धारण और भावना करना परंपरा मोक्षका कारण है। इसलिये हे भव्य जीवो! इस भावपाहुड को पढ़ो, सुनो, सुनाओ, भावो और निरन्तर अभ्यास करो जिससे भाव शुद्ध हों और सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी पूर्णताको पाकर मोक्षको प्राप्त करो तथा वहाँ परमानन्दरूप शाश्वत सुख को भोगो।

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दनामक आचार्य ने भावपाहुड ग्रंथ पूर्ण किया।

इसका संक्षेप ऐसे है---जीव नामक वस्तुका एक असाधारण शुद्ध अविनाशी चेतन स्वभाव है। इसकी शुद्ध, अशुद्ध दो परिणति हैं। शुद्ध दर्शन–ज्ञानोपयोगरूप परिणमना 'शुद्ध परिणति' है, इसको शुद्धभाव कहते हैं। कर्मके निमित्तसे राग–द्वेष–मोहादिक विभावरूप परिणमना 'अशुद्ध परिणति' है, इसको अशुद्ध भाव कहते हैं। कर्मका निमित्त अनादि से है इसलिये अशुद्धभावरूप अनादिही से परिणमन कर रहा है। इस भाव से शुभ– अशुभ कर्मका बंध होता है, इस बंधके उदय से फिर शुभ या अशुभ भावरूप (–अशुद्ध भावरूप) परिणमन करता है, इसप्रकार अनादि संतान चला आता है। जब इष्टदेवतादिककी भक्ति, जीवोंकी दया, उपकार, मंदकषायरूप परिणमन करता है तब तो शुभकर्मका बंध करता है; इसके निमित्तसे देवादिक पर्याय पाकर कुछ सुखी होता है। जब विषय–कषाय तीव्र परिणामरूप परिणमन करता है तब पापका बंध करता है, इसके उदय में नरकादिक पाकर दुःखी होता है।

इसप्रकार संसार में अशुद्धभाव से अनादिकालसे यह जीव भ्रमण करता है। जब कोई काल ऐसा आवे जिसमें जिनेश्वरदेव––सर्वज्ञ वीतरागके उपदेश को प्राप्ति हो और उसका श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण करे तब स्व और परका भेदज्ञान करके शुद्ध– अशुद्ध भावका स्वरूप जानकर अपने हित – अहितका श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण हो तब शुद्धदर्शनज्ञानमयी शुद्ध चेतना परिणमन को तो 'हित' जाने, इसका फल संसार की निवृत्ति है इसको जाने, और अशुद्धभावका फल संसार है इसको जाने, तब शुद्धभावके ग्रहणका और अशुद्धभावके त्यागका उपाय करे। उपाय का स्वरूप जैसे सर्वज्ञ–वीतरागके आगममें कहा है वैसे करे।

इसका स्वरूप निशचय–व्यवहारात्मक सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग कहा है। शुद्धभावरूप के श्रद्धान –ज्ञान –चारित्र को 'निश्चय' कहा है और जिनदेव सर्वज्ञ–वीतराग तथा उनके वचन और उन वचनोंके अनुसार प्रवर्तनेवाले मुनि श्रावक उनकी भक्ति वन्दना विनय वैयावृत्य करना 'व्यवहार' है, क्योंकि यह मोक्षमार्ग में प्रवर्ताने को उपकारी हैं। उपकारी का उपकार मानना न्याय है, उपकार लोपना अन्याय है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वरूपके साधक अहिंसा आदि महाव्रत तथा रत्नत्रयरूप प्रवृत्ति, समिनि, गुप्तिरूप प्रर्वतना और इसमें दोष लगने पर अपनी निंदा गर्हादिक करना, गुरुओंका दिया हुा प्रायश्चित लेना, शक्ति के अनुसार तप करना, परिषह सहना, दसलक्षणधर्म में प्रवर्तना इत्यादि शुद्धात्मा के अनुकूल क्रियारूप प्रर्वतना, इनमें कुछ रागका अंश रहता है तब तक शुभकर्म का बंध होता है, तो भी वह प्रधान नहीं है, क्योंकि इनमें प्रर्वतनेवाले के शुभकर्म के फल की इच्छा नहीं है, इसलिये अबंधतुल्य है,---इत्यादि प्रवृत्ति आगमोक्त 'व्यवहार–मोक्षमार्ग' है। इसमें प्रवृत्तिरूप परिणाम हैह तो भी निवृत्ति प्रधान है, इसलिये निश्चय–मोक्षमार्ग में विरोध नहीं है।

इसप्रकार निश्चय–व्यवहारस्वरूप मोक्षमार्ग का संक्षेप है। इसी को 'शुद्धभाव' कहा है। इसमें भी सम्यग्दर्शन को प्रधान कहा है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सब व्यवहार मोक्षका कारण नहीं है और सम्यग्दर्शनके व्यवहारमें जिनदेव की भक्ति प्रधान है, यह सम्यग्दर्शनको बताने के लिये मुख्य चिन्ह है, इसलिये जिन भक्ति निरन्तर करना और जिन आज्ञा मानकर आगमोक्त मार्गमें प्रवर्तना यह श्रीगुरुका उपदेश है। अन्य जिन–आज्ञा सिवाय सब कुमार्ग हैं, उनका प्रसंग छोड़ना; इसप्रकार करने से आत्मकल्याण होता है।

१– 'शुद्धभाव' का निरूपण दो प्रकार से किया गया है; जैसे 'मोक्षमार्ग दो नहीं हैं' किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार का है, इसीप्रकार शुद्धभाव को यहाँ दो प्रकार के कहे हैं वहाँ निश्चयनय से ओर व्यवहारनयसे कहा है ऐसा समझना चाहिये। निश्चय सम्यग्दर्शनादि है उसे ही व्य० मान्य है और उसे ही निरतिचार व्यवहार रत्नत्रयादि में व्यवहार से 'शुद्धत्व' अथवा 'शुद्ध संप्रयोगत्व' का आरोप आता है जिसको व्यवहार में 'शुद्धभाव' कहा है, उसी को निश्चय अपेक्षा अशुद्ध कहा है– विरुद्ध कहा है, किन्तु व्यवहारनय से व्यवहार विरुद्ध नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

❋ छप्पन ❋

जीव सदा चिदभाव एक अविनाशी धारै।
कर्म निमितकूं पाय अशुद्धभावनि विस्तारै।।
कर्म शुभाशुभ बांधि उदै भरमै संसारै।
पावै दुःख अनंत च्यारि गतिमें डुलि सारै।।
सर्वज्ञदेशना पायकै तजै भाव मिथ्यात्व जब।
निजशुद्धभाव धरि कर्महरि लहै मोक्ष भरमै न तब।।

❋ दोहा ❋

मंगलमय परमातमा, शुद्धभाव अविकार।
नमूं पाय पाऊं स्वपद, जाचूं यहै करार।। २।

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामिविरचित भावप्राभृत की
जयपुर निवासी पं० जयचन्द्रजी छाबड़ा कृत
देशभाषामय वचनिका समाप्त ।। ५।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

मोक्षपाहुड

- ६ -

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

अथ मोक्षपाहुडकी वचनिका लिख्यते।

प्रथम ही मंगलके लिये सिद्धोंको नमस्कार करते हैं:---

(दोहा)

अष्ट कर्मको नाश करि शुद्ध अष्ट गुण पाय।
भये सिद्ध निज ध्यानतै नमूं मोक्ष सुखदाय।।१।।

इसप्रकार मंगलके लिये सिद्धोंको नमस्कार कर श्रीकुन्दकुन्द आचार्यकृत 'मोक्षपाहुड' ग्रंथ प्राकृत गाथाबद्ध है, उसकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं। प्रथम ही आचार्य मंगलके लिये परमात्मा को नमस्कार करते हैं:---

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स।।१।।

ज्ञानमय आत्मा उपलब्धः येन क्षरितकर्मणा।
त्यक्ता च परद्रव्यं नमो नमस्तस्मै देवाय।।१।।

अर्थः--आचार्य कहते हैं कि जिनने परद्रव्यको छोड़कर, द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म खिर गये हैं ऐसे होकर, निर्मल ज्ञानमयी आत्माको प्राप्त कर लिया है इसप्रकारके देवको हमारा नमस्कार हो – नमस्कार हो! दो बार कहने में अति प्रीतियुक्त भाव बताये हैं।

भावार्थः--यह 'मोक्षपाहुड' का प्रारंभ है। यहाँ जिनने समस्त परद्रव्य को छोड़ छोड़कर कर्मका अभाव करके केवलज्ञानानंदस्वरूप मोक्षपदको प्राप्त कर लिया है,

---

करीने क्षपण कर्मो तणुं, परद्रव्य परिहरी जेमणे
ज्ञानात्म आत्मा प्राप्त कीधो, नमुं नमुं ते देवने। १।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उन देवको मंगलके लिये नमस्कार किया यह युक्त है। जहाँ जैसा प्रकरण वहाँ वैसी योग्यता। यहाँ भाव–मोक्ष तो अरहंत के है और द्रव्य–भाव दोनों प्रकारके मोक्ष परमेष्ठी के हैं, इसलिये दोनों को नमस्कार जानो।। १।।

आगे इसप्रकार नमस्कार कर ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा करते हैं:–––

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परम जोईणं।। २।।

नत्वा च तं देवं अनंतवरज्ञानदर्शनं शुद्धम्।
वक्ष्ये परमात्मानं परमपदं परमयोगिनाम्।। २।।

अर्थ:––आचार्य कहेत हैं कि उस पूर्वोक्त देवको नमस्कार कर, परमात्मा जो उत्कृष्ट शुद्ध आत्मा उसको, परम योगीश्वर जो उत्कृष्ट – योग्य ध्यानके करने वाले मुनिराजों के लिये कहूँगा। कैसा है पूर्वोक्त देव? जिनके अनन्त और श्रेष्ठ ज्ञान – दर्शन पाया जाता है, विशुद्ध है – कर्ममल से रहित है, जिसका पद परम–उत्कृष्ट है।

भावार्थ:––इस ग्रंथ में मोक्ष को जिस कारणसे पावे और जैसा मोक्षपद है वैसा वर्णन करेंगे, इसलिये उस रीति उसी की प्रतीज्ञा की है। योगीश्वरोंके लिये कहेंगे, इसका आशय यह है कि ऐसे मोक्षपद को शुद्ध परमात्माके ध्यानके द्वारा प्राप्त करते हैं, उस ध्यान की योग्यता योगीश्वरों के ही प्रधानरूपसे पाई जाती है, गृहस्थों के यह ध्यान प्रधान नहीं है।। २।।

आगे कहते हैं कि जिस परमात्माको कहने की प्रतीज्ञा की है उसको योगी ध्यानी मुनि जानकर उसका ध्यान करके परम पदको प्राप्त करते हैं:–––

जं जाणिऊण जोई जोअत्थो जोइऊण अणवरयं।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं।। ३।।

ते देवने नमी अमित–वर–दृगज्ञानधरने शुद्धने,
कहुं परमपद–परमातमा प्रकरण परमयोगीन्द्रने। २।

जे जाणीने योगस्थ योगी, सतत देखी जेहने,
उपमाविहीन अनंत अव्याबाध शिवपदने लहे। ३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यत् ज्ञात्वा योगी योगस्थः द्रष्ट्वा अनवरतम्।
अव्याबाधमनंतं अनुपमं लभते निर्वाणम्।। ३।।

अर्थः––आगे कहेंगे कि परमात्माको जानकर योगी (– मुनि) योग (– ध्यान) में स्थित होकर निरन्तर उस परमात्मा को अनुभवगोचर करके निर्वाण को प्राप्त होता है। कैसा है निर्वाण? 'अव्याबाध' है, – जहाँ किसी प्रकार की बाधा नहीं है। 'अनंत' है –जिसका नाश नहीं है। 'अनुपम' है,–– जिसको किसी की उपमा नहीं लगती है।

भावार्थः––आचार्य कहते हैं कि ऐसे परमात्माको आगे कहेंगे जिसके ध्यानमें मुनि निरंतर अनुभव करके केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। यहाँ यह तात्पर्य है कि परमात्मा के ध्यान से मोक्ष होता है।। ३।।

आगे परमात्मा कैसा है ऐसा बतानेके लिये आत्माको तीन प्रकार दिखाते हैं:––

तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतो वाएण चइवि बहिरप्पा।। ४।।

त्रिप्रकारः स आत्मा परमन्तः बहिः स्फुटं देहिनाम्।
तत्र परं ध्यायते अन्तरुपायेन त्यज बहिरात्मानम्।। ४।।

अर्थः––वह आत्मा प्राणियोंके तीन प्रकारका है; अंतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। अंतरात्माके उपाय द्वारा बहिरात्माको छोड़कर परमात्माका ध्यान करना चाहिये।

भावार्थः––बहिरात्मपन को छोड़कर अंरतात्मारूप होकर परमात्माका ध्यान करना चाहिये, इससे मोक्ष होता है।। ४।।

आगे तीन प्रकारके आत्माका स्वरूप दिखाते हैं:––

---

१ – मुद्रित संस्कृत प्रतिमें 'हु हेऊणं' ऐसा पाठ है जिसकी संस्कृत 'तु हित्वा' की है।

ते आतमा छे परम–अंतर–बहिर त्रणधा देहीमां;
अंतर–उपाये परमने ध्याओ, तुं बहिरातमां। ४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अक्खाणि बाहिरप्पा अन्तरप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।।५।।

अक्षाणि बहिरात्मा अन्तरात्मा स्फुटं आत्मसंकल्पः।
कर्मकलंक विमुक्तः परमात्मा भण्यते देवः।।५।।

अर्थः––अक्ष अर्थात् स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ वह तो बाह्य आत्मा है, क्योंकि इन्द्रियों से स्पर्श आदि विषयोंका ज्ञान होता है तब लोग कहते हैं––––ऐसे ही जो इन्द्रियाँ हैं वही आत्मा है, इसप्रकार इन्द्रियों को बाह्य आत्मा कहते हैं। अंतरात्मा है वह अंतरंग में आत्माका प्रकट अनुभवगोचर संकल्प है, शरीर और इन्द्रियों से भिन्न मन के द्वारा देखने जानने वाला है वह मैं हूँ, इसप्रकार स्वसंवेदनगोचर संकल्प वही अन्तरात्मा है। तथा परमात्मा कर्म जो द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिक तथा भावकर्म जो राग–द्वेष–मोहादिक और नोकर्म जो शरीरादिक कलंकमल उससे विमुक्त–रहित, अनंतज्ञानादिक गुण सहित वही परमात्मा, वही देव है, अन्यदेव कहना उपचार है।

भावार्थः–––बाह्य आत्मा तो इन्द्रियों को कहा तथा अंतरात्मा देहमें स्थित देखना – जानने जिसके पाया जाता है ऐसा मन के द्वारा संकल्प है और परमात्मा कर्मकलंक से रहित कहा। यहाँ ऐसा बताया है कि यह जीव ही जबतक बाह्य शरीरादिक को ही आत्मा जानता है तब तक तो बहिरात्मा है, संसारी है, जब यही जीव अंतरंग में आत्मा को जानता है तब यह सम्यग्दृष्टि होता है, तब अन्तरात्मा है और यह जीव जब परमात्मा के ध्यान से कर्मकलंक से रहित होता है तब पहिले तो केवलज्ञान प्राप्त कर अरहंत होता है, पीछे सिद्धपद को प्राप्त करता है, इन दोनों ही को परमात्मा कहते हैं। अरहंत तो भाव–कलंक रहित हैं और सिद्ध द्रव्य–भावरूप दोनों ही प्रकार के कलंक से रहित हैं, इसप्रकार जानो।। ५।।

आगे उस परमात्मा विशेषण द्वारा स्वरूप कहते हैं:–––

छे अक्षधी बहिरात्म, आतमबुद्धि अंतर–आतमा,
जे मुक्त कर्मकलंकथी ते देव छे परमातमा। ५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो।। ६।।

मलरहित: कलत्यक्त: अनिंद्रिय केवल: विशुद्धात्मा।
परमेष्ठी परमजिन: शिवंकर: शाश्वत: सिद्ध:।। ६।।

अर्थ:––परमात्मा ऐसा है – मलरहित है – द्रव्यकर्म भावकर्मरूप मलसे रहित है, कलत्यक्त (– शरीर रहित) है अनिंद्रिय (– इन्द्रिय रहित) है, अथवा अनिंदित अर्थात् किसी प्रकार निंदायुक्त नहीं है सब प्रकारसे प्रशंसा योग्य है, केवल (– केवलज्ञानमयी) है, विशुद्धात्मा – जिसकी आत्माका स्वरूप विशेषरूपसे शुद्ध है, ज्ञानमें ज्ञेयोंके आकार झलकते हैं तो भी उनरूप नहीं होता है, और न उनसे रागद्वेष है, परमेष्ठी है – परमपद में स्थित है, परम जिन है –सब कर्मोंको जीत लिये हैं, शिवंकर है – भव्यजीवोंको परम मंगल तथा मोक्षको करता है, शाश्वता (– अविनाशी) है, सिद्ध है–––अपने स्वरूपकी सिद्धि करके निर्वाणपदको प्राप्त हुआ है।

भावार्थ:––ऐसा परमात्मा है, जो इसप्रकारके परमात्माका ध्यान करता है वह ऐसा ही हो जाता है।। ६।।

आगे भी यही उपदेश करते हैं:–––

आरुहवि अन्तरप्पा बहिरप्पा छंडिउण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं।। ७।।

आरुह्य अंतरात्मानं बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन।
ध्यायते परमात्मा उपदिष्टं जिनवरैन्द्रै:।। ७।।

अर्थ:––बहिरात्मपन को मन वचन काय से छोड़कर अन्तरात्माका आश्रय लेकर परमात्माका ध्यान करो, यह जिनवरेन्द्र तीर्थंकर परमदेव ने उपदेश दिया है।

તે છે વિશુદ્ધાત્મા, અનિન્દ્રિય, મળરહિત તનમુક્ત છે,
પરમેષ્ઠી, કેવળ, પરમજિન, શાશ્વત, શિવંકર સિદ્ધ છે। ૬।

થઈ અંતરાત્મારૂઢ, બહિરાત્મા તજીને ત્રણવિધે,
ધ્યાતવ્ય છે પરમાતમા–જિનવરવૃષભ–ઉપદેશ છે। ૭।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ:––परमात्मा के ध्यान करने का उपदेश प्रधान करके कहा है, इसीसे मोक्ष पाते हैं।। ७।।

आगे बहिरात्मा की प्रवृत्ति कहते हैं:–––

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मुढदिट्ठीओ।। ८।।

बहिरर्थे स्फुरितमना: इन्द्रियद्वारेण निद्धस्वरूपच्युत:।
निजदेहं आत्मानं अध्यवस्यति मूढद्रष्टिस्तु।। ८।।

अर्थ:––मूढ़दृष्टि अज्ञानी मोही मिथ्यादृष्टि है वह बाह्य पदार्थ – धन, धान्य, कुटुम्ब आदि इष्ट पदार्थों में स्फुरित (– तत्पर) मनवाला है तथा इन्द्रियोंके द्वारा अपने स्वरूप से च्युत है और इन्द्रियोंको ही आत्मा जानता है, ऐसा होता हुआ अपने देहको ही आत्मा जानता है––निश्चय करता है, इसप्रकार मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है।

भावार्थ:–––ऐसा बहिरात्माका भाव है उसको छोड़ना।। ८।।

आगे कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि अपनी देहके समान दूसरोंकी देहको देखकर उसको दूसरे की आत्मा मानता है:–––

णियदेहसरिच्छं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परम भावेण।। ९।।

निजदेहसदृशं द्रष्टवा परविग्रहं प्रयत्नेन।
अचेतनं अपि गृहीतं ध्यायते परम भावेन।। ९।।

अर्थ:–––मिथ्यादृष्टि पुरुष अपनी देहके समान दूसरे की देहको देख करके यह देह अचेतन है तो भी मिथ्याभाव से आत्मभाव द्वारा बड़ा यत्न करके परकी आत्मा ध्याया है अर्थात् समझता है।

---

१ – पाठान्तर – 'चुओ' के स्थान पर 'चओ' २– 'सरिच्छं' पाठान्तर 'सरिसं'

बाह्यार्थ प्रत्ये स्फुरितमन, स्वभ्रष्ट इन्द्रियद्वारथी,
निज देह अध्यवसित करे आत्मापणे जीव मूढधी। ८।

निजदेह सम परदेह देखी मूढ त्यां उद्यम करे,
रते छे अचेतन तोय माने तेहने आत्मापणे। ९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्वकर्म के उदय से (–उदयके वश होने से) मिथ्याभाव है इसलिये वह अपनी देह को आत्मा जानता है, वैसे ही परकी देह अचेतन है तो भी उसको परकी आत्मा मानता है (अर्थात् पर को भी देहात्मबुद्धि से मान रहा है और ऐसे मिथ्याभाव सहित ध्यान करता है) और उसमें बड़ा यत्न करता है, इसलिये ऐसे भावको छोड़ना यह तात्पर्य है।। ९।।

आगे कहते हैं कि ऐसी ही मान्यतासे पर मनुष्यादिमें मोहकी प्रवृत्ति होती है:––

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वइढण मोहो।। १०।।

स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अविदितार्थमात्मानम्।
सुतदारादिविषये मनुजानां वर्द्धते मोहः।। १०।।

अर्थः––इसप्रकार देहमें स्व–परके अध्यवसाय (निश्चय) के द्वारा मनुष्यों के सुत, दारादिक जीवोंमें मोह प्रवर्तता है कैसे हैं मनुष्य – जिनने पदार्थ का स्वरूप (अर्थात् आत्मा) नहीं जाना है ऐसे हैं।

दूसरा अर्थः--[**अर्थः**––––इसप्रकार देह में स्व–पर के अध्यवसाय (निश्चय) के द्वारा जिन मनुष्योंने पदार्थ के स्वरूपको नहीं जाना है उनके सुत, दारादिक जीवोंमें मोह की प्रवृत्ति होती है।] (भाषा परिवर्तनकार ने यह अर्थ लिखा है)

भावार्थः––जिन मनुष्योंने जीव–अजीव पदार्थ का स्वरूप यथार्थ नहीं जाना उनके देहमें स्वपराध्यवसाय है। अपनी देहको अपनी आत्मा जानते हैं और पर की देहको परकी आत्मा जानते हैं, उनके पुत्र स्त्री आदि कुटुम्बियोंमें मोह (ममत्व) होता है। जब वे जीव–अजीव के स्वरूप को जाने तब देह को अजीव मानें, आत्माको अमूर्तिक चैतन्य जानें, तब पर में ममत्व नहीं होता है। इसलिये जीवादिक पदार्थों का स्वरूप अच्छी तरह जानकर मोह नहीं करना यह बतलाया है।। १०।।

आगे कहते हैं कि मोहकर्म के उदयसे (– उदयमें युक्त होनेसे) मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव होते हैं, उससे आगामी भवमें भी यह मनुष्य देहको चाहता है:––

वस्तुस्वरूप जाण्या विना देहे स्व–अध्यवसायथ
अज्ञानी जनने मोह फाले पुत्रदारादिक महीं। १०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ सतो।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ।।११।।

मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्या भावेन भावितः सन्।
मोहोदयेन पुनरपि अंगं मन्यते मनुजः।।११।।

अर्थः––यह मनुष्य मोहकर्म के उदयसे (उदय के वश होकर) मिथ्याज्ञानके द्वारा मिथ्याभाव से भाया हुआ फिर आगामी जन्ममें इस अंग (देह) को अच्छा समझकर चाहता है।

भावार्थः––मोहकर्मकी प्रकृति मिथ्यात्व के उदय से (उदय के वश होनेसे) ज्ञान भी मिथ्या होता है; परद्रव्य को अपना जानता है और उस मिथ्यात्व ही के द्वारा मिथ्या श्रद्धान होता है, उससे निरन्तर परद्रव्य में यह भावना रहती है कि यह मुझे सदा प्राप्त होवे, इससे यह प्राणी आगामी देहको भला जानकर चाहता है।। ११।।

आगे कहते हैं कि जो मुनि देह में निरपेक्ष हैं, देह को नहीं चाहता है, उसमें ममत्व नहीं करता है वह निर्वाण को पाता है:–––

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं।।१२।।

यः देहे निरपेक्षः निर्द्वन्दः निर्ममः निरारंभः।
आत्मस्वभावे सुरतः योगी स लभते निर्वाणम्।।१२।।

अर्थः––जो योगी ध्यानी मुनि देह मेह निरपेक्ष है अर्थात् देहको नहीं चाहता है, उदासीन है, निर्द्वन्द्व है––रागद्वेषरूप इष्ट–अनिष्ट मान्यता से रहित है, निर्ममत्व है––देहादिक में 'यह मेरा' ऐसी बुद्धि से रहित है, निरारंभ है––इस शरीर के लिये तथा

---

१ – मु० सं० प्रति में 'सं मण्णए' ऐसा प्राकृत पाठ है जिसका 'स्वं मन्यते' ऐसा संस्कृत पाठ है।

रही लीन मिथ्याज्ञानमां, मिथ्यात्वभावे परिणमी,
ते देह माने 'हुं' पणे फरीनेय मोहोदय थकी। ११।

निर्द्वन्द्व, निर्मम, देहमां निरपेक्ष, मुक्तारंभ जे,
जे लीन आत्मस्वभावमां, ते योगी पामे मोक्षने। १२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तथा अन्य लौकिक प्रयोजन के लिये आरंभ से रहित है और आत्मस्वभावमें रत है, लीन है, निरन्तर स्वभावकी भावना सहित है, वह मुनि निर्वाण को प्राप्त करता है।

भावार्थः---जो बहिरात्माके भावके छोड़कर अन्तरात्मा बनकर परमात्मा में लीन होता है वह मोक्ष प्राप्त करता है। यह उपदेश बताया है।। १२।।

आगे बंध और मोक्षके कारणका संक्षेपरूप आगमका वचन कहते हैं:---

परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं।
एसो जिणउवदेसो समासदो[1] बंधमुक्खस्स।। १३।।

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुच्यते विविधकर्मभिः।
एषः जिनोपदेशः समासतः बंधमोक्षस्य।। १३।।

अर्थः--जो जीव परद्रव्यमें रत है, रागी है वह तो अनेक प्रकारके कर्मों से बाँधता है, कर्मोंका बंध करता है और जो परद्रव्यसे विरत है---रागी नहीं है वह अनेक प्रकारके कर्मों से छूटता है, तह बन्धका और मोक्षका संक्षेपमें जिनदेव का उपदेश है।

भावार्थः-- बंध-मोक्षके कारणकी कथनी अनेक प्रकार से है उसका यह संक्षेप है:-- जो परद्रव्य से रागभाव तो बंधका कारण और विरागभाव मोक्षका कारण है, इसप्रकार संक्षेप से जिनेन्द्रका उपदेश है।। १३।।

आगे कहते हैं कि जो स्वद्रव्य में रत है वह सम्यग्दृष्टि होता है और कर्मोंका नाश करता है:---

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण[2]।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ [3]दुट्ठट्ठकम्माइं।। १४।।

---

१ 'सदो' के स्थानपर ' 'सओ' पाठान्तर। २ पाठान्तरः – सो साहू। ३ मु० सं० प्रति में 'दुट्ठट्ठकम्माणि' पाठ है।

परद्रव्यरत बंधाय विरत मुकाय विधविध कर्मथी;
–आ, बंधमोक्ष विषे जिनेश्वरदेशना संक्षेपथी। १३।

रे! नियमथी निजद्रव्यरत साधु सुदृष्टि होय छे,
सम्यक्त्वपरिणत वर्ततो दुष्टाष्ट कर्मो क्षय करे। १४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टि भवति नियमेन[१]।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः [२]क्षपयति दुष्टाष्टकर्माणि।। १४।।

अर्थः––जो मुनि स्वद्रव्य अर्थात् अपनी आत्मामें रत है, रुचि सहित हे वह नियम से सम्यग्दृष्टि है और वह ही सम्यक्त्वस्वभावरूप परिणमन करता हुआ दुष्ट आठ कर्मों का क्षय – नाश करता है।

भावार्थः–– यह भी कर्मके नाश करने के कारणका संक्षेप कथन है। जो अपने स्वरूप की श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, आचरणसे युक्त है वह नियम से सम्यग्दृष्टि है, इस सम्यक्त्वभाव से परिणाम करता हुआ मुनि आठ कर्मों का नाश करके निर्वाण को प्राप्त करता है।। १४।।

आगे कहते हैं कि जो परद्रव्य में रत है वह मिथ्यादृष्टि होकर कर्मोंको बाँधता है:–––

जो पुण परवव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं।। १५।।

यः पुनः परद्रव्यरतः मिथ्यादृष्टिः भवति सः साधुः।
मिथ्यात्वपरिणतः पुनः बध्यते दुष्टाष्ट कर्मभिः।। १५।।

अर्थः––पुनः अर्थात् फिर जो साधु परद्रव्य में रत है, रागी हे वह मिथ्यादृष्टि होता है और वह मिथ्यात्वभावरूप परिणमन करता हुआ दुष्ट अष्ट कर्मों से बँधता है।

भावार्थः–––यह बंधके कारण का संक्षेप है। यहाँ साधु कहने से ऐसा बताया है कि जो बाह्य परिग्रह छोड़कर निर्ग्रंथ हो जावे तो भी मिथ्यादृष्टि होता हुआ संसार के दुःख देनेवाले अष्ट कर्मों से बँधता है।। १५।।

आगे कहते हैं कि परद्रव्य ही से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य ही से सुगति होती है:––
–

---

१ पाठान्तर :– स साधुः। २ मु० सं० प्रतिमेह 'क्षिपते' ऐसा पाठ है।

परद्रव्यमां रत साधु तो मिथ्यादरशयुत होय छे,
मिथ्यात्वपरिणत वर्ततो बांधे करम दुष्टाष्टने। १५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परदव्वादो दुग्गइ सद्व्वादो हु सुग्गई होइ।
इय णाऊण सदव्वे कुणइ रई विरह इयरम्मि।। १६।।

परद्रव्यात् दुर्गतिः स्वद्रव्यात् स्फुटं सुगतिः भवति।
इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये कुरुत रतिं विरतिं इतरस्मिन्।। १६।।

अर्थः––परद्रव्य से दुर्गति होती है और स्वद्रव्यसे सुगति होती है यह स्पष्ट (– प्रगट) जानो, इसलिये हे भव्यजीवो! तुम इस प्रकार जानकर स्वद्रव्यमें रति करो और अन्य जो परद्रव्य उनसे विरति करो।

भावार्थः––लोकमें भी यह रीति है कि अपने द्रव्यसे रति करके अपना ही भोगता है वह तो सुख पाता है, उस पर कुछ आपत्ति नहीं आती है और परद्रव्यसे प्रीति करके चाहे जैसे लेकर भोगता है उसको उसको दुःख होता है, आपत्ति उठानी पड़ती है। इसलिये आचार्य ने संक्षेप में उपदेश दिया है कि अपने आत्मस्वभावमें रति करो इससे सुगति है, स्वर्गादिक भी इसी से होते हैं और मोक्ष भी इसी से होता है और परद्रव्य से प्रीति मत करो इससे दुर्गति होती है, संसार में भ्रमण होता है।

यहाँ कोई कहता है कि स्वद्रव्यमें लीन होने से मोक्ष होता है और सुगति – दुर्गति तो परद्रव्य की प्रीति से होती है? उसको कहते हैं कि–––यह सत्य है परन्तु यहाँ इस आशय से कहा है कि परद्रव्य से विरक्त होकर स्वद्रव्य में लीन होवे तब विशुद्धता बहुत होती है, उस विशुद्धता के निमित्त से शुभकर्म भी बँधते हैं और जब अत्यंत विशुद्धता होती है तब कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष होता है, इसलिये सुगति–दुर्गतिका होना कहा यह युक्त है, इसप्रकार जानना चाहिये।। १६।।

आगे शिष्य पूछता है कि परद्रव्य कैसा है? उसका उत्तर आचार्य कहते हैं:––

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं।। १७।।

परद्रव्यथी दुर्गति, खरे सुगति स्वद्रव्यथी थाय छे;
–अे जाणी, निजद्रव्ये रमो, परद्रव्यथी विरमो तमे। १६।

आत्मस्वभावेतर सचित्त, अचित्त, तेमज मिजे,
ते जाणवुं परद्रव्य–सर्वज्ञे कह्युं अवितथपणे। १७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मस्वभावादन्यत् सच्चित्ताचित्तमिश्रितं भवति।
तत् परद्रव्यं भणितं अवितत्थं सर्वदर्शिभिः।। १७।।

अर्थः––आत्मस्वभावसे अन्य सचित्त तो स्त्री, पुत्रादिक जीव सहित वस्तु तथा अचित्त धन, धान्य, हिरण्य सुवर्णादिक अचेतन वस्तु और मिश्र आभूषणादि सहित मनुष्य तथा कुटुम्ब सहित गृहादिक ये सब परद्रव्य हैं, इसप्रकार जिसने जीवादिक पदार्थोंका स्वरूप नहीं जाना उसको समझाने के लिये सर्वदर्शी सर्वज्ञ भगवानने कहा है अथवा 'अवितत्थं' अर्थात् सत्यार्थ कहा है।

भावार्थः––अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा सिवाय अन्य चेतन, अचेतन, मिश्र वस्तु हैं वे सब ही परद्रव्य हैं, इसप्रकार अज्ञानी को समझानेके लिये सर्वज्ञ देवेने कहा है।। १७।।

आगे कहते हैं कि आत्मस्वभाव स्वद्रव्य काह वह इस प्रकार है:–––

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं।। १८।।

दुष्टाष्टकर्मरहितं अनुपमं ज्ञानविग्रहं नित्यम्।
शुद्धं जिनैः भणितं आत्मा भवति स्वद्रव्यम्।। १८।।

अर्थः––संसार के दुःख देने वाले ज्ञानावरादिक दुष्ट अष्टकर्मों से रहित ओर जिसको किसी की उपमा नहीं ऐसा अनुपम, जिसको ज्ञान ही शरीर है और जिसका नाश नहीं है ऐसा अविनाशी नित्य है और शुद्ध अर्थात् विकार रहित केवलज्ञानमयी आत्मा जिन भगवान् सर्वज्ञ ने कहा है वह ही स्वद्रव्य है।

भावार्थः––ज्ञानानन्दमय, अमूर्तिक, ज्ञानमूर्ति अपनी आत्मा है वही एक स्वद्रव्य है, अन्य सब चेतन, अचेतन, मिश्र परद्रव्य हैं।। १८।।

आगे कहते हैं कि जो ऐसे निजद्रव्यका ध्यान करते हैं वे निर्वाण पाते हैं:–––

जे झायंति सदव्वं परदव्व परम्मुहा दु सुचरिता।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहहिं णिव्वाणं।। १९।।

दुष्टाष्टकर्मविहीन, अनुपम, ज्ञानविग्रह, नित्य ने,
जे शुद्ध भाख्यो जिनवरे, ते आतमा स्वद्रव्य छे। १८।

परविमुख थई निज द्रव्य जे ध्यावे सुचारित्रीपणे,
जिनदेवना मारग महीं रसंलग्न ते शिवपद लहे। १९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

ये ध्यायंति स्वद्रव्यं परद्रव्यं पराङ्मुखास्तु सुचरित्राः।
ते जिनवराणां मार्गे अनुलग्नाः लभते निर्वाणम्।। १९।।

अर्थः––जो मुनि परद्रव्यसे पराङ्मुख होकर स्वद्रव्य जो निज आत्मद्रव्यका ध्यान करते हैं वे प्रगट सुचरित्र अर्थात् निर्दोष चारित्रयुक्त होते हुए जिनवर तीर्थंकरोंके मार्गका अनुलग्न – (अनुसंधान, अनुसरण) करते हुए निर्वाणको प्राप्त करते हैं।

भावार्थः––परद्रव्य का त्याग कर जो अपने स्वरूप का ध्यान करते हैं वे निश्चय – चारित्ररूप होकर जिनमार्ग में लगते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त करेत हैं।। १९।।

आगे कहते हैं कि जिनमार्ग में लगा हुआ शुद्धात्माका ध्यान कर मोक्षको प्राप्त करता है, तो क्या उससे स्वर्ग नहीं प्राप्त कर सकता है? अवश्य ही प्राप्त कर सकता है:––

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइकिं तिण सुरलोयं।। २०।।

जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायति शुद्धमात्मानम्।
येन लभते निर्वाणं न लभते किं तेन सुरलोकम्।। २०।।

अर्थः–– योगी ध्यानी मुनि है वह जिनवर भगवानके मतसे शुद्ध आत्माको ध्यानमें ध्याता है उससे निर्वाण को प्राप्त करता है, तो उससे क्या स्वर्ग लोक नहीं प्राप्त कर सकते हैं? अवश्य ही प्राप्त कर सकते हैं।

भावार्थः––कोई जानता होगा कि जो जिनमार्ग में लगकर आत्माका ध्यान करता है वह मोक्षको प्राप्त करता है और स्वर्ग तो इससे होता नहीं है, उसको कहा है कि जिनमार्ग में प्रवर्तने वाला शुद्ध आत्मा का ध्यान के मोक्ष प्राप्त करात है, तो उससे स्वर्ग लोक क्या कठिन है? यह तो उसके मार्गमें ही है।। २०।।

आगे इस अर्थको दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं:––

જિનદેવમત–અનુસાર ધ્યાવે યોગી નિજશુદ્ધાત્મને!
જેથી લહે નિર્વાણ, તો શું નવ લહે સુરલોકને? ૨૦।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्के ण लेवि गुरुभारं।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाउ भुवणचले।। २१।।

यः याति योजनशतं दिवसेनैकेन लात्वा गुरुभारम्।
स किं कोशार्द्धमपि स्फुटं न शक्नोति यातुं भुवनतले।। २१।।

अर्थः—— जो पुरुष बड़ा भार लेकर एक दिनमें सौ योजन चला जावे वह इस पृथ्वीतलपर आधा कोश क्या न चला जावे? यह प्रगट–स्पष्ट जानो।

भावार्थः——जो पुरुष बड़ा भार लेकर ेक दिन में सौ योजन चले उसके आधा कोश चलना तो अत्यंत सुगम हुआ, ऐसे ही जिनमार्ग से मोक्ष पावे तो स्वर्ग पाना तो अत्यंत सुगम है।। २१।।

आगे इसी अर्थका अन्य दृष्टांत कहते हैं:———

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं।
सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहडो।। २२।।

यः कोट्या न जीयते सुभटः संग्रामकैः सर्वैः।
स किं जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभटः।। २२।।

अर्थः——जो कोई सुभट संग्राममें सब ही संग्रमाके करनेवालोंके साथ करोड़ मनुष्योंको भी सुगमतासे जीते वह सुभट एक मनुष्यको क्या न जीते? अवश्य ही जीते।

भावार्थः——जो जिनमार्गमें प्रवर्ते वह कर्मका नाश करे ही, तो क्या स्वर्ग के रोकने वाले एक पापकर्म का नाश न करें? अवश्य ही करें।। २२।।

आगे कहते हैं कि स्वर्ग तो तपसे [शुभरागरूपी तप द्वारा] सब ही प्राप्त करते हैं, परन्तु ध्यानके योग से स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे उस ध्यानके योगसे मोक्ष भी प्राप्त करते हैं:———

बहु भार लई दिन अेकमां जे गमन सो योजन करे,
ते व्यक्तिथी क्रोशार्ध पण नव जई शकाय शुं भूतळे? २१।

जे सुभट होय अजेय कोटि नरोथी–सैनिक सर्वथी,
ते वीर सुभट जिताय शुं संग्राममां नर अेकथी? २२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहिं वि झाणजोएण।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं।। २३।।

स्वर्गं तपसा सर्वः अपि प्राप्नोति किन्तु ध्यानयोगेन।
यः प्राप्नोति सः प्राप्नोति परलोके शाश्वतं सौख्यम्।। २३।।

अर्थः––शुभरागरूपी तप द्वारा स्वर्ग तो सब ही पाते हैं तथापि जो ध्यानके योगसे स्वर्ग पाते हैं वे ही ध्यानके योगसे परलोक में शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं।

भावार्थः––कायक्लेशादिक तप तो सब ही मतके धारक करते हैं, वे तपस्वी मंदकषायके निमित्त से सब ही स्वर्गको प्राप्त करते हैं , परन्तु जो ध्यान के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे जिनमार्ग में कहे हुए ध्यान के योगसे परलोक में जिसमें शाश्वत सुख है ऐसे निर्वाण को प्राप्त करते हैं।। २३।।

आगे ध्यानके योग से मोक्षको प्राप्त करते हैं उसको दृष्टांत दार्ष्टांत द्वारा करते हैं:–––

अइसोहणजोएण सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि।। २४।।

अतिशोभनयोगेन शुद्धं हेमं भवति यथा तथा च।
कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति।। २४।।

अर्थः––जैसे सुवर्ण–पाषाण सोधने की सामग्रीके संबंध से शुद्ध सुवर्ण हो जाता है वैसे ही काल आदि लब्धि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सामग्री की प्राप्ति से यह आत्मा कर्मके संयोग से अशुद्ध है वही परमात्मा हो जाता है। भावार्थः–––सुगम है।।२४।।

आगे कहते है कि संसार में व्रत, तपसे स्वर्ग होता है वह व्रत तप भला है परन्तु अव्रतादिक से नरकादिक गति होती है वह अव्रतादिक श्रेष्ठ नहीं है:–––

तपथी लहे सुरलोक सौ, पण ध्यानयोगे जे लहे
ते आतमा परलोकमां पामे सुशाश्वत सौख्यने। २३।

ज्यम शुद्धता पामे सुवर्ण अतीव शोभन योगथी,
आत्मा बने परमातमा त्यम काळ–आदिक लब्धिथी। २४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वर वय तवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।
छाया तवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरु भेयं।। २५।।

वरं व्रततपोभि: स्वर्ग: मा दु:खं भवतु नरके इतरै:।
छाया तपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरु भेद:।। २५।।

अर्थ:––व्रत और तपसे स्वर्ग होता है वह श्रेष्ठ है, परन्तु अव्रत और अतपसे प्राणी को नरकगति में दु:ख होता है वह मत होवे, श्रेष्ठ नहीं है। छाया और आतप में बैठने वाले के प्रतिपालक कारणों में बड़ा भेद है।

भावार्थ:––जैसे छायाका कारण तो वृक्षादिक हैं उनकी छायामें जो बैठे वह सुख पावे और आतापका कारण सूर्य, अग्नि आदिक हैं इनके निमित्तसे आताप होता है, जो उसमें बैठता है वह दुखको प्राप्त करता है, इसप्रकार इनमें बड़ा भेद है; इसप्रकार ही जो व्रत, तपका आचरण करता है वह स्वर्गके सुखको प्राप्त करता है और जो इनका आचरण नहीं करता है, विषय–कषायादिकका सेवन करता है वह नरक के दु:ख को प्राप्त करता है, इसप्रकार इनमें बड़ा भेद है। इसलिये यहाँ कहनेका यह आशय है कि जब तक निर्वाण न हो तब तक व्रत तप आदिक में प्रवर्तना श्रेष्ठ है, इससे सांसारिक सुख की प्राप्ति है और निर्वाणके साधन में भी ये सहकारी हैं। विषय–कषायादिक की प्रवृत्तिका फलतो केवल नरकादिकके दु:ख हैं, उन दु:खोंके कारणोंका सेवन करना यह तो बड़ी भूल है, इसप्रकार जानना चाहिये।। २५।।

आगे कहते हैं कि संसार में रहे तबतक व्रत, तप पालना श्रेष्ठ कहा, परन्तु जो संसार से निकलना चाहे वह आत्माका ध्यान करे:–––

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसार महण्णवाउ रुंद्दाओ[१]।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं।। २६।।

---

१ – मुद्रित संस्कृत प्रति में 'संसारमहण्णवस्स रुद्दस्स' ऐसा पाठ है जिसकी संस्कृत 'संसारमहार्णवस्य रुद्रस्य' ऐसी है।

दिव–ठीक व्रततपथी, न हो दु:ख ईतरथी नरकादिके;
छांये अने तडके प्रतीक्षाकरणमां बहु भेद छे। २५।

संसार–अर्णव रुद्रथी नि:सरण ईच्छे जीव जे,
ध्यावे करम–ईन्धन तणा दहनार निज शुद्धात्मने। २६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

य: इच्छति नि:सत्तुं संसारमहार्णवात् रुद्रात्।
कर्मेन्धनानां दहनं स: ध्यायति आत्मानां शुद्धम्।। २६।।

अर्थ:––जो जीव रुद्र अर्थात् बड़े विस्ताररूप संसाररूपी समुद्र से निकलना चाहता है वह जीव कर्मरूपी ईंधनको दहन करनेवाले शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

भावार्थ:––निर्वाण की प्राप्ति कर्मका नाश हो तब होती है और कर्मका नाश शुद्धात्मा के ध्यान से होता है अत: जो संसारसे निकलकर मोक्षको चाहे वह शुद्ध आत्मा जो कि––– कर्ममलसे रहित अनन्तचतुष्टय सहित [निज निश्चय] परमात्मा है उसका ध्यान करता है। मोक्षका उपाय इसके बिना अन्य नहीं है।। २६।।

आगे आत्माका ध्यान करनेकी विधि बताते हैं:–––

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं।
लोय ववहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो।। २७।।

सर्वान् कषायान् मुक्त्वा गारवमदरागदोष व्यामोहम्।
लोकव्यवहारविरत: आत्मानं ध्यायति ध्यानस्थ:।। २७।।

अर्थ:––मुनि सब कषयोंको छोड़कर तथा गारव, मद, राग, द्वेष तथा मोह इनको छोड़कर और लोकव्यवहार से विरक्त होकर ध्यानमें स्थित हुआ आत्माका ध्यान करता है।

भावार्थ:––मुनि आत्माका ध्यान ऐसा होकर करे–––प्रथम तो क्रोध, मान, माया, लोभ इन सब कषायोंको छोड़े, गारवको छोड़े, मद जाति आदिके भेदसे आठ प्रकारका है उसको छोड़े, रागद्वेष छोड़े और लोकव्यवहार जो संघमें रहनेमें परस्पर विनयाचार, वैयावृत्य, धमोरुपदेश, पढ़ना, पढ़ाना है उसको भी छोड़े, ध्यान में स्थित होजावे, इसप्रकार आत्माका ध्यान करे।

यहाँ कोई पूछे कि–––सब कषायोंका छोड़ना कहा है उसमें तो गारव मदादिक आ गये फिर इनको भिन्न भिन्न क्यों कहे? उसका समाधान इसप्रकार है कि––ये सब कषायों में तो गर्भित हैं किन्तु विशेषरूपसे बतलाने के लिये भिन्न भिन्न कहे हैं। कषाय

सघळा कषायो मोहराग विरोध–मद–गारव तजी,
ध्यानस्थ ध्यावे आत्मने, व्यवहार लौकिकथी छूटी। २७।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की प्रवृत्ति इसप्रकार है––जो अपने लिये अनिष्ट हो उससे क्रोध करे, अन्यको नीचा मानकर मान करे, किसी कार्य निमित्त कपट करे, आहारादिकमें लोभ करे। यह गारव है वह रस, ऋद्धि और सात––ऐसे तीन प्रकारका है ये यद्यपि मानकषायमें गर्भित हैं तो भी प्रमादकी बहुलता इनमें है इसलिये भिन्नरूपसे कहे हैं।

मद–जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या, ऐश्वर्य इनका होता है वह न करे। राग–द्वेष प्रीति–अप्रीति को कहते हैं, किसीसे प्रीति करना, किसी से अप्रीति करना, इसप्रकार लक्षणके भेदसे भेद करके कहा। मोह नाम परसे ममत्वभावका है, संसारका ममत्व तो मुनिके है ही नहीं परन्तु धर्मानुरागसे शिष्य आदि में ममत्व का व्यवहार है वह भी छोड़े। इसप्रकार भेद–विवक्षा से भिन्न भिन्न कहे हैं, ये ध्यान के घातक भाव हैं, इनको छोड़े बिना ध्यान होता नहीं है इसलिये जैसे ध्यान हो वैसे करे।।२७।।

आगे इसीको विशेषरूप से कहते हैं:–––

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोइ जोयत्थो जोयए अप्पा।। २८।।

मिथ्यात्वं अज्ञानं पापं पुण्यं त्यक्त्वा त्रिविधेन।
मौनव्रतेन योगी योगस्थः द्योतयति आत्मानम्।। २८।।

अर्थः––योगी ध्यानी मुनि है वह मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप–पुण्य इनको मन–वचन–काय से छोड़कर मौनव्रतके द्वारा ध्यानमें स्थित होकर आत्माका ध्यान करता है।

भावार्थः––कई अन्यमती योगी ध्यानी कहलाते हैं, इसलिये जैनलिंगी भी किसी द्रव्यलिंगीके धारण करने से ध्यानी माना जाय तो उसके निषेध के निमित्त इसप्रकार कहा है––मिथ्यात्व और अज्ञान को छोड़कर आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानकर सम्यक् श्रद्धान तो जिसने नहीं किया उसके मिथ्यात्व–अज्ञान तो लगा रहा तब ध्यान किसका हो तथा पुण्य–पाप दोनों बंधस्वरूप हैं इनमें प्रीति–अप्रीति रहती है, जब तक मोक्षका स्वरूप भी जाना नहीं है तब ध्यान किसका हो और [सम्यक् प्रकार स्वरूपगुप्त स्वअस्तिमें ठहरकर] मन वचनकी प्रवृत्ति छोड़कर मौन न करे तो एकाग्रता कैसे हो?

त्रिविधे तज मिथ्यात्वने, अज्ञानने, अघ–पुण्यने,
योगस्थ योगी, मौनव्रतसंपन्न ध्यावे आत्मने। २८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिये मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य, पाप, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति छोड़ना ही ध्यान में युक्त कहा है; इसप्रकार आत्माका ध्यान करनेसे मोक्ष होता है।। २८।।

आगे ध्यान करनेवाला मौन धारण करके रहता है वह क्या विचारकर रहता है, यह कहते हैं:---

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे [१]णेव तम्हा झंपेमि केणहं।। २९।।

यत् मया दृश्यते रूपं तत् न जानाति सर्वथा।
ज्ञायकं दृश्यते न तत् तस्मात् जल्पामि केन अहम्।। २९।।

अर्थ:--जिसरूप को मैं देखता हूँ वह रूप मूर्तिक वस्तु है, जड़ है, अचेतन है, सब प्रकारसे, कुछ भी जानता नहीं है और मैं ज्ञायक हूँ, अमूर्तिक हूँ। यह तो जड़ अचेतन है सब प्रकारसे, कुछ भी जानता नहीं है, इसलिये मैं किससे बोलूँ?

भावार्थ:--यदि दूसरा कोई परस्पर बात करने वाला हो तब परस्पर बोलना संभव है, किन्तु आत्मा तो अमूर्तिक है उसको वचन बोलना नहीं है और जो रूपी पुद्गल है वह अचेतन है, किसी को जानता नहीं देखता नहीं। इसलिये ध्यान केनेवाला कहता है कि--मैं किससे बोलूँ? इसलिये मेरे मौन है।। २६।।

आगे कहते हैं कि इसप्रकार ध्यान करनेसे सब कर्मोंके आस्रवका निरोध करके संचित कर्मोंका नाश करता हैं:---

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं।। ३०।।

---

१ पाठान्तर :- णं तं, णंत।

देखाय मुजने रूप जे ते जाणतुं नहि सर्वथा,
ने जाणनार न दश्यमान; हुं बोलुं कोनी साथमां? २९।

आस्रव समस्त निरोधीने क्षय पूर्वकर्म तणो करे,
ज्ञाता ज बस रही जाय छे योगस्थ योगी;--जिन कहे। ३०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सर्वास्रवनिरोधेन कर्म क्षपयति संचितम्।
योगस्थः जानाति योगी जिनदेवेन भाषितम्।। ३०।।

अर्थः––योग ध्यानमें स्थित हुआ योगी मुनि सब कर्मोंके आस्रवका निरोध करके संवरयुक्त होकर पहिले बाँधे हुए कर्म जो संचयरूप हैं उनका क्षय करता है, इसप्रकार जिनदेवने कहा हे वह जानो।

भावार्थः––ध्यानसे कर्मका आस्रव रुकता है इससे आगामी बंध नहीं होता है और पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है तब केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष प्राप्त होता है, यह आत्माके ध्यानका महात्म्य है।। ३०।।

आगे कहते हैं कि जो व्यवहार तत्पर है उसके यह ध्यान नहीं होता है:---

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे।। ३१।।

य: सुप्त: व्यवहारे स: योगी जागर्ति स्वकार्ये।
य: जागर्ति व्यवहारे स: सुप्त: आत्मन: कार्ये।। ३१।।

अर्थः––जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है वह अपने स्वरूप के काममें जागता है और जो व्यवहार में जागता है वह अपने आत्ममकार्य में सोता है।

भावार्थः––मुनिके संसारी व्यवहार तो कुछ है नहीं और यदि है तो मुनि कैसा? वह तो पाखंड़ी है। धर्मका व्यवहार संघमें रहना, महाव्रतादिक पालना---ऐसे व्यवहारमें भी तत्पर नहीं है; सब प्रवृत्तियोंकी निवृत्ति करके ध्यान करता है वह व्यवहारमें सोता हुआ कहलाता है और अपने आत्मस्वरूपमें लीन होकर देखता है, जानता है वह अपने आत्मकार्य में जागता है। परन्तु जो इस व्यवहार में तत्पर है---सावधान है, स्वरूप की दृष्टि नहीं है वह व्यवहार में जागता हुआ कहलाता है।। ३१।।

आगे यह कहते हैं कि योगी पूर्वोक्त कथनको जानके व्यवहारको छोड़कर आतमकार्य करता है:---

---

योगी सूता व्यवहारमां ते जागता निजकार्यमां;
जे जागता व्यवहारमां ते सुप्त आतमकार्यमां। ३१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेहिं।। ३२।।

इति ज्ञात्वा योगी व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वम्।
ध्यायति परमात्मानं यथा भणितं जिनवरेन्द्रैः।। ३२।।

अर्थः––इसप्रकार पूर्वोक्त कथनको जानकर योगी ध्यानी मुनि है वह सर्व व्यवहारको सब प्रकार ही छोड़ देता है और परमात्माका ध्यान करता है––जैसे जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेव ने कहा है वैसे ही परमात्माका ध्यान करता है।

भावार्थः––सर्वथा सर्व व्यवहारको छोड़ना कहा, उसका आशय इसप्रकार है कि––– लोकव्यवहार तथा धर्मव्यवहार सब ही छोड़ने पर ध्यान होता है इसलिये जैसे जिनदेवने कहा है वैसे ही परमात्माका ध्यान करना। अन्यमती परमात्माका स्वरूप अनेक प्रकारसे अन्यथा कहते हैं उसके ध्यानका भी वे अन्यथा उपदेश करते हैं उसका निषेध किया है। जिनदेवने परमात्माका तथा ध्यानका भी स्वरूप कहा वह सत्यार्थ है, प्रमाणभूत है वैसे ही जो योगीश्वर करते हैं वे ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।। ३२।।

आगे जिनदेवने जैसे ध्यान अध्ययन प्रवृत्ति कही है वैसे ही उपदेश करते हैं:–––

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह।। ३३।।

पंचमहाव्रतयुक्तः पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु।
रत्नत्रयसंयुक्तः ध्यानाध्ययनं सदा कुरु।। ३३।।

अर्थः––आचार्य कहते हैं कि जो पाँच महाव्रत युक्त हो गया तथा पाँच समिति व तीन गुप्तियोंसे युक्त हो गया और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूपी रत्नत्रयसे संयुक्तहो गया, ऐसे बनकर हे मुनिराजों! तुम ध्यान और अध्ययन–शास्त्रके अभ्यासको सदा करो।

---

१ पाठान्तर :– जिणवरिदेणं।

ईम जाणी योगी सर्वथा छोडे सकळ व्यवहारने,
परमात्मने ध्यावे यथा उपदिष्ट जिनदेवो वडे। ३२।

तुं पंचसमित त्रिगुप्त ने संयुक्त पंचमहाव्रते,
रत्नत्रयी संयुतपणे कर नित्य ध्यानाध्ययनने।३३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग, ये पाँच महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना ये पाँच समिति और मन, वचन, कायके निग्रहरूप तीन गुप्ति–––यह तेरह प्रकारका चारित्र जिनदेव ने कहा है उससे युक्त हो और निश्चय–व्यवहाररूप, मन्यगदर्शन–ज्ञान–चारित्र कहा है, इनसे युक्त होकर ध्यान और अध्ययन करनेका उपदेश है। इनमें प्रधान तो ध्यान ही है और यदि इसमें मन न रुके तो शास्त्र अभ्यासमें मनको लगावे यह भी ध्यानतुल्य ही है, क्योंकि शास्त्रमें परमात्माके स्वरूपका निर्णय है सो यह ध्यानका ही अंग है।। ३३।।

आगे कहते हैं कि जो रत्नत्रय की आराधना करता है वह जीव आराधक ही है:–

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो।
आराहणाविहणं तस्स फलं केवलं णाणं।। ३४।।

रत्नत्रयमाराधयन् जीवः आराधकः ज्ञातव्यः।
आराधनाविधानं तस्य फलं केवलं ज्ञानम्।। ३४।।

अर्थः––रत्नत्रय समयग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी आराधना करते हुए जीवको आराधक जानना और आराधनाके विधानका फल केवलज्ञान है।

भावार्थः––जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी आराधना करता है वह केवलज्ञानको प्राप्त करता है वह जिनमार्ग में प्रसिद्ध है।। ३४।।

आगे कहते हैं कि शुद्धात्मा है वह केवलज्ञान है और केवलज्ञान है वह शुद्धात्मा है:––
–

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य।
सो जिणवरेहिं भणिओ जाण तुमं केवलं णाणं।। ३५।।

रत्नत्रयी आराधनारो जीव आराधक कह्यो;
आराधनानुं विधान केवलज्ञानफळदायक अहो! ३४।

छे सिद्ध, आत्मा शुद्ध छे सर्वज्ञानीदर्शी छे,
तुं जाण रे! –जिनवरकथित आ जीव केवळज्ञान छे। ३५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सिद्धः शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च।
सः जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानं।। ३५।।

अर्थः––आत्मा जिनवरदेव ने ऐसा कहा है, केसा है? सिद्ध है––किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है स्वयंसिद्ध है, शुद्ध है–––कर्ममलसे रहित है, सर्वज्ञ है–––सब लोकालोक को जानता है और सर्वदर्शी है–––सब लोक–अलोक को देखता है, इसप्रकार आत्मा है वह हे मुनि! उसहीको तू केवलज्ञान जान अथवा उस केवलज्ञान ही को आत्मा जान। आत्मा में और ज्ञान में कुछ प्रदेशभेद नहीं है, गुण–गुणी भेद है वह गौण है। यह आराधना का फल पहिले केवलज्ञान कहा, वही है।। ३५।।

आगे कहते हैं कि जो योगी जिनदेवके मतसे रत्नत्रयकी आराधना करता है वह आत्माका ध्यान करता है:–––

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो।। ३६।।

रत्नत्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन।
सः ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न सन्देहः।। ३६।।

अर्थः––जो योगी ध्यानी मुनि जिनेश्वरदेवके मतकी आज्ञासे रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी निश्चयसे आराधना करता है वह प्रगटरूप से आत्माका ही ध्यान करता है, क्योंकि रत्नत्रय आत्माका गुण है और गुण–गुणीमें भेद नहीं है। रत्नत्रय की आराधना है वह आत्माकी ही आराधना है वह ही परद्रव्यको छोड़ता है इसमें संदेह नहीं है।

भावार्थः––सुगम है।। ३६।।

पहिले पूछा था कि आत्मा में रत्नत्रय कैसे है उसका उत्तर अब आचार्य कहते हैं:–––

जे योगी आराधे रतनत्रय प्रगट जिनवरमार्गथी,
ते आत्मने ध्यावे अने पर परिहरे;–शंका नथी। ३६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं।। ३७।।

यत् जानाति तत् ज्ञानं यत्पश्यति तच्च दर्शनं ज्ञेयम्।
तत् चारित्रं भणितं परिहारः पुण्यपापानाम्।। ३७।।

अर्थः––जो जाने वह ज्ञान है, जो देखे वह दर्शन है और जो पुण्य तथा पापका परिहार है वह चारित्र है, इसप्रकार जानना चाहिये।

भावार्थः––यहाँ जाननेवाला तथा देखनेवाला और त्यागनेवाला दर्शन, ज्ञान, चारित्रको कहा ये तो गुणी के गुण हैं, ये कर्त्ता नहीं होते हैं इसलिये जानन, देखन, त्यागन क्रियाका कर्त्ता आत्मा है, इसलिये ये तीन आत्मा ही है, गुण–गुणीमें कोई प्रदेशभेद नहीं होता है। इसप्रकार रत्नत्रय है वह आत्मा ही है, इसप्रकार जानना।।३७।।

आगे इसी अर्थ को अन्य प्रकासे कहते हैं:––––

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं हवइ सण्णाणं।
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं।। ३८।।

तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वग्रहणं च भवति संज्ञानम्।
चारित्रं परिहारः प्रजल्पितं जिनवरेन्द्रैः।। ३८।।

अर्थः––तत्वरुचि सम्यक्त्व है, तत्त्वका ग्रहण सम्यग्ज्ञान है, परिहार चारित्र है, इसप्रकार जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेवने कहा है।

भावार्थः––जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन तत्त्वोंका श्रद्धान रुचि प्रतीति सम्यग्दर्शन है, इनही को जानना सम्यग्ज्ञान है और परद्रव्यके परिहार संबंधी क्रिया की निवृत्ति चारित्र है; इसप्रकार जिनेश्वरदेवने कहा है, इनको निश्चय–व्यवहार नयसे आगमके अनुसार साधना।। ३८।।

जे जाणवुं ते ज्ञान, देखे तेह दर्शन जाणवुं,
जे पाप तेम ज पुण्यनो परिहार ते चारित कह्युं। ३७।

छे तत्त्वरुचि, तत्त्वतणुं ग्रहण सद्ज्ञान छे,
परिहार ते चारित्र छे; जिनवरवृषभ निर्दिष्ट छे। ३८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं।। ३९।।

दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम्।
दर्शनविहीन पुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम्।। ३९।।

अर्थः––जो पुरुष दर्शनसे शुद्ध है वह ही शुद्ध है, क्योकि जिसका दर्शन शुद्ध है वही निर्वाण को पाता है और जो पुरुष सम्यग्दर्शन से रहित है वह पुरुष ईप्सित लाभ अर्थात् मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकता है।

भावार्थः––लोकमें प्रसिद्ध है कि कोई पुरुष कोई वस्तु चाहे और उसकी रुचि प्रतीति श्रद्धा न हो तो उसकी प्राप्ति नहीं होती है, इसलिये सम्यग्दर्शन ही निर्वाणकी प्राप्ति में प्रधान है।। ३९।।

आगे कहते हैं कि ऐसा सम्यग्दर्शनको ग्रहण करने का उपदेश सार है, उसको जो मानता है वह सम्यक्त्व है:––

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु।
तं सम्मत्तं भणियं सवणाणं सावयाणं पि।। ४०।।

इति उपदेशं सारं जरा मरण हरं स्फुटं मन्यते यत्तु।
तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणानां श्रावकाणामपि।। ४०।।

अर्थः––इसप्रकार सम्यग्दर्शन – ज्ञान – चारित्रका उपदेश सार है, जो जरा व मरण को हरनेवाला है, इसको जो मानता है श्रद्धान करता है वह ही सम्यक्त्व कहा है। वह मुनियों तथा श्रावकोंको सभी को कहा है इसलिये सम्यक्त्वपूर्वक ज्ञान चारित्र को अंगीकार करो।

भावार्थः––जीवके जितने भाव हैं उनमें समयग्दर्शन – ज्ञान –चारित्र सार हैं उत्तम

दृगशुद्ध आत्मा शुद्ध छे, दृगशुद्ध ते मुक्ति लहे,
दर्शनरहित जे पुरुष ते पामे न इच्छित लाभने। ३९।

जरमरणहर आ सारभूत उपदेश श्रद्धे स्पष्ट जे,
सम्यक्त्व भाख्युं तेहने, हो श्रमण के श्रावक भले। ४०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं, जीवके हित हैं, और इनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है क्योंकि इसके बिना ज्ञान, चारित्र भी मिथ्या कहलाते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन प्रधान जानकर पहिले अंगीकार करना, यह उपदेश मुनि तथा श्रावक सभीको है।। ४०।।

आगे सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कहते हैं:---

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं।। ४१।।

जीवाजीवविभक्ति योगी जानाति जिनवरमतेन।
तत् संज्ञानं भणितं अवितथं सर्वदर्शिभिः।। ४१।।

अर्थ:--जो योगी मुनि जीव –अजीव पदार्थके भेद जिनवरके मतसे जानता है वह सम्यग्ज्ञान है ऐसा सर्वदर्शी – सबको देखनेवाले सर्वज्ञ देव ने कहा है अत: वह ही सत्यार्थ है, अन्य छद्मस्थका कहा हुआ सत्यार्थ नहीं है असत्यार्थ है, सर्वज्ञका कहा हुआ ही सत्यार्थ है।

भावार्थ:--सर्वज्ञदेव ने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये जाति अपेक्षा छह द्रव्य कहे हैं। [संख्या अपेक्षा एक, एक, असंख्य और अनंतानंत हैं।] इनमें जीव को दर्शन–ज्ञानमयी चेतनास्वरूप कहा है, यह सदा अमूर्तिक है अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे रहित है। पुद्गल आदि पाँच द्रव्योंको अजीव कहे हैं ये अचेतन हैं – जड़ हैं। इनमें पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दसहित मूर्तिक (–रूपी) हैं, इन्द्रियगोचर है, अन्य अमूर्तिक हैं। आकश आदि चार तो जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। जीव और पुद्गल के अनादि संबंध हैं। छद्मस्थके इन्द्रियगोचर पुद्गल स्कंध हैं उनको ग्रहण करके जीव राग–द्वेष–मोहरूपी परिणमन करता है शरीरादिको अपना मानता है तथा इष्ट–अनिष्ट मानकर राग–द्वेषरूप होता है, इससे नवीन पुद्गल कर्मरूप होकर बंधको प्राप्त होता है, यह निमित्त–नैमित्तिक भाव है, इसप्रकार यह जीव अज्ञानी होता हुआ जीव–पुद्गलके भेदको न जानकर मिथ्याज्ञानी होता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिनदेवके मत से जीव–अजीवका भेद जानकर सम्यग्दर्शन का स्वरूप जानना। इसप्रकार जिनदेवने कहा वह ही सत्यार्थ है, प्रमाण–नयके द्वारा ऐसे ही सिद्ध होता है इसलिये जिनदेव सर्वज्ञने सब वस्तुको प्रत्यक्ष देखकर कहा है।

जीव–अजीव केरो भेद जाणे योगी जिनवरमार्गथी,
सर्वज्ञदेवे तेहने सद्ज्ञान भाख्युं तथ्यथी। ४१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्यमती छद्मस्थ हैं, इन्होंने अपनी बुद्धिमें आया वैसे ही कलपना करके कहा है वह प्रमाणसिद्धि नहीं है। इनमें कई वेदान्ती तो एक ब्रह्ममात्र कहते हैं, अन्य कुछ वस्तयभूत नहीं है मायारूप अवस्तु है ऐसा मानते हैं। कई नैयायिक, वैशेषिक जीव को सर्वथा नित्य सर्वगत कहते हैं, जीवके और ज्ञानगुण के सर्वथा भेद मानते हैं और अन्य कार्यमात्र है उनको ईश्वर करात है इसप्रकार मानते हैं। कई सांख्यमती पुरुषको उदासीन चैतन्यरूप मानकर सर्वथा अकर्ता मानते हैं ज्ञानको प्रधान का धर्म मानते हैं।

कई बौद्धमती सर्व वस्तु क्षणिक मानते हैं, सर्वथा अनित्य मानते हैं, इनमें भी अनेक मतभेद हैं, कई विज्ञानमात्र तत्त्व मानते हैं, कई सर्वथा शून्य मानते हैं, कोई अन्यप्रकार मानते हैं। मीमांसक कर्मकांडमात्र ही तत्त्व मानते हैं, जीवको अणुमात्र मानते हैं तो भी कुछ परमार्थ नित्य वस्तु नहीं है––इत्यादि मानते हैं, पंचभूतों से जीवकी उत्पत्ति मानते हैं।

इत्यादि बुद्धिकल्पित तत्त्व मानकर परस्पर में विवाद करते हैं, यह युक्त ही है– वस्तुका पूर्णस्वरूप दिखता नहीं है तब जैसे अंधे हस्तीला विवाद करते हैं वैसे विवाद ही होता है, इसलिये जिनदेव सर्वज्ञने ही वस्तुका पूर्णरूप देखा है वही कहा है। यह प्रमाण और नयोंके द्वारा अनेकान्तरूप सिद्ध होता है। इनकी चर्चा हेतुवाद के जैनके न्याय–शस्त्रोंसे जानी जाती है, इसलिये यह उपदेश है––जिनमतमें जीवाजीवका स्वरूप सत्यार्थ कहा है उसको जानना सम्यग्ज्ञान है, इसप्रकार जानकर जिनदेवकी आज्ञा मानकर सम्यग्ज्ञानको अंगीकार करना, इसीसे सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होती है, ऐसे जानना।। ४१।।

आगे सम्यक्चारित्रका स्वरूप कहते हैं:–––

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं।
तं चारित्तं भणियं अवियप्प कम्मरहिएहिं।। ४२।।

यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापानाम्।
तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कर्मरहितैः।। ४२।।

अर्थः––योगी ध्यानी मुनि उस पूर्वोक्त जीवाजीवके भेदरूप सत्यार्थ सम्यग्ज्ञानको

ते जाणी योगी परिहरे छे पाप तेम ज पुण्यने,
चारित्र ते अविकल्प भाख्युं कर्मरहित जिनेश्वरे। ४२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जानकर पुण्य तथा पाप इन दोनोंका परिहार करता है, त्याग करता है वह चारित्र है, जो निर्विकल्प है अर्थात् प्रवृत्तिरूपक्रियाके विकल्पोंसे रहित है वह चारित्र घातिकर्मसे रहित ऐसे सर्वज्ञदेवने कहा है।

भावार्थः---चारित्र निश्चय–व्यवहारके भेदसे दो भेदरूप है, महाव्रत–समिति–गुप्ति के भेदसे कहा है वह व्यवहार है। इसमें प्रवृत्तिरूप क्रिया शुभकर्मरूप बंध करती है और इन क्रियाओं में जितने अंश निवृत्ति है [अर्थात् उसीसमय स्वाश्रयरूप आंशिक निश्चय वीतराग भाव है] उसका फल बंध नहीं है, उसका फल कर्म की एकदेश निर्जरा है। सब कर्मोंसे रहित अपने आत्मस्वरूपमें लीन होना वह निश्चयचारित्र है, इसका फल कर्मका नाश ही है, यह पुण्य–पापके परिहाररूप निर्विकल्प है। पापका तो त्याग मुनिके है ही और पुण्य का त्याग इसप्रकार है---

शुभक्रिया का फल पुण्यकर्मका बंध है उसकी वांछा नहीं है, बंधके नाश का उपाय निर्विकल्प निश्चयचारित्र का प्रधान उद्यम है। इसप्रकार यहाँ निर्विकल्प अर्थात् पुण्य–पापसे रहित ऐसा निश्चयचारित्र कहा है। चौदहवें गुणस्थानके अंतसमयमें पूर्ण चारित्र होता है, उससे लगता ही मोक्ष होता है ऐसा सिद्धांत है।। ४२।।

आगे कहते हैं कि इसप्रकार रत्नत्रयसहित होकर तप संयम समितिको पालते हुए शुद्धात्माका ध्यान करने वाला मुनि निर्वाणको प्राप्त करता है:---

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं।। ४३।।

यः रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या।
सः प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं शुद्धम्।। ४३।।

अर्थः--जो मुनि रत्नत्रयसंयुक्त होता हुआ संयमी बनकर अपनी शक्तिके अनुसार तप करता है वह शुद्ध आत्माका ध्यान करता हुआ परमपद निवार्णको प्राप्त करता है।

भावार्थः--जो मुनि संयमी पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति यह तेरह प्रकारका चारित्र वही प्रवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र संयम है, उसको अंगीकार करके और पूर्वोक्त प्रकार निश्चयचारित्र युक्त होकर अपनी शक्तिके अनुसार उपवास,

---

रत्नत्रयीयुत संयमी निजशक्तिः तपने करे,
शुद्धात्मने ध्यातो थको उत्कृष्ट पदने ते वरे। ४३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कायक्लेशादि बाह्य तप करता है वह मुनि अंतरंग तप ध्यानके द्वारा शुद्ध आत्माका एकाग्र चित्त करके ध्यान करता हुआ निर्वाणको प्राप्त करता है।। ४३।।

[नोंध–––जो छठवें गुणस्थानके योग्य स्वाश्रयरूप निश्चयरत्नत्रय सहित है उसीके व्यवहार संयम–व्रतादिक को व्यवहारचारित्र माना है।]

आगे कहते हैं कि ध्यानी मुनि ऐसा बनकर परमात्माका ध्यान करता है:–––

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परिरयरिओ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई।। ४४।।

त्रिभि: त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहित: तथा त्रिकेण परिरकरित:।
द्वि दोषविप्रमुक्त: परमात्मानं ध्यायते योगी।। ४४।।

अर्थ:––'त्रिभि:' मन वचन कायसे, 'त्रीन्' वर्षा, शीत, उष्ण तीन कालयोगों को धारण कर,'त्रिकरहित' माया, मिथ्या, निदान तीन शल्योंसे रहित होकर,'त्रिकेण परिकरित:' दर्शन, ज्ञान, चारित्र से मंडित होकर और 'द्विदोषविप्रमुक्त:' दो दोष अर्थात् राग–द्वेष इनसे रहित होता हुआ योगी ध्यानी मुनि है, वह परमात्मा अर्थात् सर्वकर्म रहित शुद्ध परमात्मा उनका ध्यान करता है।

भावार्थ:––मन वचन काय से तीन कालयोग धारणकर परमात्माका ध्यान कर इसप्रकार कष्ट में दृढ़ रहे तब ज्ञात होता है कि इसके ध्यान की सिद्धि है, कष्ट आने पर चलायमान हो जाये तब ध्यान की सिद्धि कैसी? कोई प्रकार का चित्त में शल्य रहने से चित्त एकाग्र नहीं होता तब ध्यान कैसे हो? इसलिये शल्य रहित कहा; श्रद्धान, ज्ञान आचरण यथार्थ न हो तब ध्यान कैसे हो? इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र मंडित कहा और राग–द्वेष, इष्ट–अनिष्ट बद्धि रहे तब ध्यान कैसे हो? इसलिये परमात्मा का ध्यान करे वह ऐसा होकर करे, यह तात्पर्य है।। ४४।।

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार होता है वह उत्तम सुखको पाता है:–––

ત્રણથી ધરી ત્રણ, નિત્ય ત્રિકવિરહિતપણે ત્રિકયુતપણે,
રહી દોષયુગલ વિમુક્ત ધ્યાવે યોગી નિજ પરમાત્મને। ૪૪।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं।। ४५।।

मदमायाक्रोधरहितः लोभेन विवर्जितश्च यः जीवः।
निर्मलस्वभावयुक्तः सः प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम्।। ४५।।

अर्थः––जो जीव मद, माया, क्रोध इनसे रहित हो और लोभसे विशेषरूपसे रहित हो वह जीव निर्मल विशुद्ध स्वभावयुक्त होकर उत्तम सुखको प्राप्त करता है।

भावार्थः––लोकमें भी ऐसा है कि जो मद अर्थात् अति मानी तथा माया कपट और क्रोध इनसे रहित हो और लोभसे विशेष रहित हो वह सुख पाता है; तीव्र कषायी अति आकुलतायुक्त होकर निरन्तर दुःखी रहता है। अतः यही रीति मोक्षमार्ग में भी जानो–जो क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषायोंसे रहित होता है तब निर्मल भाव होते हैं और तब ही यथाख्यातचारित्र पाकर उत्तम सुखको प्राप्त करता है।। ४५।।

आगे कहते हैं कि जो विषय–कषायों में आसक्त है, परमात्माकी भावना से रहित है, रौद्रपरिणामी है वह जिनमतसे पराङमुख है, अतः वह मोक्ष के सुखोंको प्राप्त नहीं कर सकताः–––

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो।। ४६।।

विषयकषायैः युक्तः रुद्रः परमात्मभावरहितमनाः।
सः न लभते सिद्धिसुखं जिनमुद्रापराङ्मुखः जीवः।। ४६।।

अर्थः––जो जीव विषय–कषायपंसे युक्त है, रौद्रपरिणामी है, हिंसादिक विषय–कषायदिक पापों में हर्ष सहित प्रवृत्ति करता है और जिसका चित्त परमात्माकी भावना से रहित है, ऐसा जीव जिनमुद्रा से पराङमुख है वह ऐसे सिद्धिसुखको मोक्षके सुखको प्राप्त नहीं कर सकता।

जे जीव माया–क्रोध–मद परिवर्जीने, तजी लोभने,
निर्मळ स्वभावे परिणमे, ते सौख्य उत्तमने लहे। ४५।

परमात्मभावनहीन रूद्र, कषायविषये युक्त जे,
ते जीव जिनमुद्राविमुख पामे नहीं शिवसौख्यने। ४६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––जिनमत में ऐसा उपदेश है कि जो हिंसादिक पापों से विरक्त हो, विषय–कषायोंसे आसक्त न हो और परमात्माका स्वरूप जानकर उसकी भावनासहित जीव होता है वह मोक्षको प्राप्त कर सकता है, इसलिये जिनमत की मुद्रा से जो पराङमुख है उसको मोक्ष कैसे हो? वह तो संसार में ही भ्रमण करता है। यहाँ रुद्रका विशेषण दिया है उसका ऐसा भी आशय है कि रुद्र ग्यारह होते हैं, ये विषय–कषायों में आसक्त हो कर जिनमुद्रा से भ्रष्ट होते हैं, इनको मोक्ष नहीं होता है, इनकी कथा पुराणों से जानना।। ४६।।

आगे कहते हैं कि जिनमुद्रा से मोक्ष होता है किन्तु यह मुद्रा जिन जीवों को नहीं रुचती है वे संसार में ही रहते हैं:–––

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठं।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे।। ४७।।

जिनमुद्रा सिद्धिसुखं भवति नियमेन जिनवरोद्दिष्टा।
स्वप्नेऽपि न रोचते पुनः जीवाः तिष्ठंति भवगहने।। ४७।।

अर्थः––जिन भगवान के द्वारा कही गई जिन मुद्रा है वही सिद्धिसुख है मुक्तसुख ही है, यह कारण में कार्य का उपचार जानना; जिनमुद्रा मोक्ष का कारण है, मोक्षसुख उसका कार्य है। ऐसी जिनमुद्रा जिनभगवान ने जैसी कही है वैसी ही है। तो ऐसी जिनमुद्रा जिस जीव को साक्षात् तो दूर ही रहो, स्वप्न में भी कदाचित् भी नहीं रुचति है, उसका स्वप्न आता है तो भी अवज्ञा आती है तो वह जीव संसाररूप गहन वन में रहता है, मोक्ष के सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थः––जिनदेवभाषित जिनमुद्रा मोक्षका कारण है वह मोक्षरूपी ही है, क्योंकि जिनमुद्रा के धारक वर्तमान में भी स्वाधीन सुख को भोगते हैं और पीछे मोक्ष के सुख को प्राप्त करते हैं। जिस जीव को यह नहीं रुचती है वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता, संसार ही में रहता है।। ४७।।

आगे कहते हैं कि जो परमात्माका ध्यान करता है वह योगी लोभरहित होकर नवीन कर्मका आस्रव नहीं करता है:–––

जिनवरवृषभ–उपदिष्ट जिनमुद्रा ज शिवसुख नियमथी,
ते नव रूचे स्वप्नेय जेने, ते रहे भववन महीं। ४७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परमप्पय झायंतो जोइ मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।। ४८।।

परमात्मानं ध्यायन् योगी मुच्यते मलदलोभेन।
नाद्रियते नवं कर्म निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः।। ४८।।

अर्थः––जो योगी ध्यानी परमात्मा का ध्यान करता हुआ रहता है वह मल देने वाले लोभ कषाय से छूटता है, उसके लोभ मल नहीं लगता है इसी से नवीन कर्म का आस्रव उसके नहीं होता है, यह जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेव ने कहा है।

भावार्थः––मुनि भी हो और परजन्मसंबंधी प्राप्तिका लोभ होकर निदान करे उसके परमात्मा का ध्यान नहीं होता है, इसलिये जो परमात्मा का ध्यान करे उसके इसलोक परलोक संबंधी कुछ भी लोभ नहीं होता, इसलिये उसके नवीन कर्मका आस्रव नहीं होता ऐसा जिनदेवने कहा है। यह लोभ कषाय ऐसा ही की दसवें गुणस्थान तक पहुँच जाने पर भी अव्यक्त होकर आत्मा को मल लगाता है, इसलिये इसको काटना ही युक्त है, अथवा जब तक मोक्षकी चाहरूप लोभ रहता है तब तक मोक्ष नहीं होता है, इसलिये लोभ का अत्यंत निषेध है।। ४८।।

आगे कहते है कि जो ऐसा निर्लोभी बनकर दृढ़ सम्यक्त्व –ज्ञान – चारित्रवान होकर परमात्माका ध्यान करता है वह परम पदको पाता है:––

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई।। ४९।।

પરમાત્મને ધ્યાતાં શ્રમણ મળજનક લોભ થકી છૂટે,
નૂતન કરમ નહિ આસ્રવે–જિનદેવથી નિર્દિષ્ટ છે। ૪૮।

પરિણત સુદૃઢ–સમ્યક્ત્વરૂપ, લહી સુદૃઢ–ચારિત્રને,
નિજ આત્મને ધ્યાતાં થકાં યોગી પરમ પદને લહે। ૪૯।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

भूत्वा दृढचरित्रः दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः।
ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी।। ४९।।

अर्थः––पूर्वोक्त प्रकार जिसकी मति दृढ़ सम्यक्त्वसे भावित है ऐसा योगी ध्यानी मुनि दृढ़चारित्रवान होकर आत्माका ध्यान करता हुआ परमपद अर्थात् परमात्मपद को प्राप्त करता है।

भावार्थः––सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप दृढ़ होकर परिषह आने पर भी चलायमान न हो, इसप्रकार से आत्मा का ध्यान करता है वह परम पद को प्राप्त करता है ऐसा तात्पर्य है।। ४९।।

आगे दर्शन, ज्ञान, चारित्र से निर्वाण होता है – ऐसा कहते आये वह दर्शन, ज्ञान तो जीव का स्वरूप है, ऐसा जाना, परन्तु चारित्र क्या है? ऐसी आशंका उत्तर कहते हैं:–––

चरणं हवइ सधम्मो धम्मे सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्ण परिणामो।। ५०।।

चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः सः भवति आत्मसमभावः।
सः रागरोषरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः।। ५०।।

अर्थः––स्वधर्म अर्थात् आत्मा का धर्म है वह चरण अर्थात् चारित्र है। धर्म है वह आत्म समभाव है सब जीवों में समान भाव है। जो अपना धर्म है वही सब जीवों में है अथवा सब जीवों को अपने समान मानना है और जो आत्म स्वभाव से ही [स्वाश्रयके द्वारा] रागद्वेष रहित है, किसी से इष्ट–अनिष्ट बुद्धि नहीं है ऐसा चारित्र है, वह जैसे जीवके दर्शन – ज्ञान हैं वैसे ही अनन्य परिणाम हैं, जीव का ही स्वभाव है।

भावार्थः––चारित्र है वह ज्ञान में राग–द्वेष रहित निराकुलता रूप स्थिरता भाव है, वह जीव का ही अभेदरूप परिणाम है, कुछ अन्य वस्तु नहीं है।। ५०।।

आगे जीव के परिणाम की स्वच्छता को दृष्टांत पूर्वक दिखाते हैं:–––

चारित्र ते निज धर्म छे ने धर्म निज समभाव छे,
ते जीवना वण राग रोष अनन्यमय परिणाम छे। ५०।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुहो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो।। ५१।।

यथा स्फटिकमणि: विशुद्ध: परद्रव्ययुत: भवत्यन्य: स:।
तथा रागादिवियुक्त: जीव: भवति स्फुटमन्यान्यविध:।। ५१।।

अर्थ:––जैसे स्फटिकमणि विशुद्ध है, निर्मल है, उज्ज्वल है वह परद्रव्य जो पीत, रक्त, हरित पुष्पादिकसे युक्त होने पर अन्य सा दिखता है, पीतादिवर्णमयी दिखता है, वैसे ही जीव विशुद्ध है, स्वच्छ स्वभाव है परन्तु यह [अनित्य पर्याय में अपनी भूल द्वारा स्व से च्युत होता है तो] रागद्वेषदिक भावोंसे युक्त होने पर अन्य अन्य प्रकार हुआ दिखता है यह प्रगट है।

भावार्थ:––यहाँ ऐसा जानना कि रागादि विकार हैं वह पुद्गल के हैं और ये जीवके ज्ञान में आकार झलकते है तब उनसे उपयुक्त होकर इसप्रकार जानता है कि ये भाव मेरे ही हैं, जब तक इसका भेदज्ञान नहीं होता है तब तक जीव अन्य अन्य प्रकाररूप अनुभव में आता है। यहाँ स्फटिकमणिका दृष्टांत है, उसके अन्यद्रव्य– पुष्पादिकका डांक लगता है तब अन्यसा दिखता है, इसप्रकार जीवके स्वच्छभाव की विचित्रता जानना।। ५१।।

इसलिये आगे कहते हैं कि जब तक मुनिके [मात्र चारित्र–दोषमें] राग–द्वेष का अंश होता है तब तक सम्यग्दर्शन को धारण करता हुआ भी ऐसा होता है:––

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मियसंजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणर ओ होदि जोई सो।। ५२।।

देवे गुरौ च भक्त: साधर्मिके च संयतेषु अनुरक्त:।
सम्यक्त्वमुद्वहन् ध्यानरत: भवति योगी स:।। ५२।।

निर्मळ स्फटिक परद्रव्यसंगे अन्यरूपे थाय छे,
त्यम जीव छे नीराग पण अन्यान्यरूपे परिणमे। ५१।

जे देव–गुरुना भक्त ने सहधर्मीमुनि–अनुरक्त छे,
सम्यक्त्वना वहनार योगी ध्यानमां रत होय छे। ५२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––जो योगी ध्यानी मुनि सम्यक्त्व को धारण करता है किन्तु जब तक यथाख्यात चारित्र को प्राप्त नहीं होता है तब तक अरहंत–सिद्ध देवमें, और शिक्षा–दीक्षा देनेवाले गुरु में तो भक्ति युक्त होता ही है, इनकी भक्ति विनय सहित होती है और अन्य संयमी मुनि अपने समान धर्म सहित हैं उनमें भी अनुरक्त हैं, अनुराग सहित होता है वही मुनि ध्यान में प्रतिवान् होता है और जो मुनि होकर भी देव–गुरु–साधर्मियों में भक्ति व अनुराग सहित न हो उसको ध्यान में रुचिवान नहीं कहते हैं क्योंकि ध्यान होने वाले के, ध्यानवाले से रुचि, प्रीति होती है, ध्यानवाले न रुचें तब ज्ञात होता है कि इसको ध्यान भी नहीं रुचता है, इसप्रकार जानना चाहिये।। ५२।।

आगे कहते हैं कि जो ध्यान सम्यग्ज्ञानी के होता है वही तप करके कर्म का क्षय करता है:–––

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण।। ५३।।

उग्रतपसाऽज्ञानी यत् कर्म क्षपयति भवैर्बहुकैः।
तज्ज्ञानी त्रिभिः गुप्तः क्षपयति अन्तर्मुहूर्त्तेन।। ५३।।

अर्थः––अज्ञानी तीव्र तपके द्वारा बहुत भवोंमें जितने कर्मोंका क्षय करता है उतने कर्मोंका ज्ञानी मुनि तीन गुप्ति सहित होकर अंतर्मुहूर्त में ही क्षय कर देता है।

भावार्थः––जो ज्ञान का सामर्थ्य है वह तएव्र तपका भी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि ऐसा है कि––अज्ञानी अनेक कष्टोंको सहकर तीव्र तपको करता हुआ करोड़ों भवों में जितने कर्मोंका क्षय करता है वह आत्मभावना सहित ज्ञानी मुनि उतने कर्मोंका अंतमुहूर्त में क्षय कर देता है, यह ज्ञान का सामर्थ्य है।। ५३।।

आगे कहते हैं कि जो इष्ट वस्तुके संबंध से परद्रव्य में रागद्वेष करता है वह उस भावमें अज्ञानी होता है, ज्ञानी इससे उल्टा है:–––

तप उग्रथी अज्ञानी जे कर्मो खपावे बहु भवे,
ज्ञानी जे त्रिगुप्तिक ते करम अंतर्मुहूर्ते क्षय करे। ५३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहु।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीओ।। ५४।।

शुभ योगेन सुभावं परद्रव्ये करोति रागत: साधु:।
स:तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्मात्तु विपरीत:।। ५४।।

अर्थ:––शुभ योग अर्थात् अपने इष्ट वस्तु के संबंध से परद्रव्य में सुभाव अर्थात् प्रीतिभाव को करता है वह प्रगट राग–द्वेष है, इष्टमें राग हुआ तब अनिष्ट वस्तुमें द्वेषभाव होता ही है, इसप्रकार जो राग–द्वेष करता है वह उस कारण से रागी–द्वेषी–अज्ञानी है और जो इससे विपरीत अर्थात् उलटा है परद्रव्यमें राग–द्वेष नहीं करता है वह ज्ञानी है।

भावार्थ:––ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मुनिके परद्रव्यमें रागद्वेष नहीं है क्योंकि राग उसको कहते हैं कि––जो परद्रव्य को सर्वथा इष्ट मानकर राग करता है वैसे ही अनिष्टमानकर द्वेष करता है, परन्तु सम्यग्ज्ञानी परद्रव्य में इष्ट–अनिष्टकी कल्पना ही नहीं करता है तब राग–द्वेष कैसे हो? चारित्र मोहके उदयवश होने से कुछ धर्मराग होता है उसको भी राग जानता है भला नहीं समझता है तब अन्यसे कैसे राग हो? परद्रव्य से राग–द्वेष करता है वह तो अज्ञानी है, ऐसे जानना।। ५४।।

आगे कहते हैं कि जैसे परद्रव्य में रागभाव होता है वैसे मोक्षके निमित्त भी राग हो तो वह राग भी आस्रवका कारण है, उसे भी ज्ञानी नहीं करता है:––

आसवहेदु य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि।
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावा दु विवरीओ।। ५५।।

आस्रवहेतुश्च तथा भाव: मोक्षस्य कारणं भवति।
स: तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात्तु विपरीत:।। ५५।।

अर्थ:––जैसे परद्रव्यमें रागको कर्मबंधका कारण पहिले कहा वैसे ही राग–भाव

शुभ अन्य द्रव्ये रागथी मुनि जो करे रुचिभावने,
तो तेह छे अज्ञानी, ने विपरीत तेथी ज्ञानी छे। ५४।

आसरवहेतु भाव ते शिवहेतु छे तेना मते,
तेथी ज ते छे अज्ञ, आत्मस्वभावथी विपरीत छे। ५५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

यदि मोक्ष के निमित्त भी हो तो आस्रवका ही कारण है, कर्मका बंध ही करता है, इस कारण से जो मोक्षको परद्रव्यकी तरह इष्ट मानकर वैसे ही रागभाव करता है तो वह जीव मुनि भी अज्ञानी है क्योंकि वह आत्मस्वभावसे विपरीत है, उसने आत्मस्वभावको नहीं जाना है।

भावार्थः––मोक्ष तो सब कर्मोंसे रहित अपना ही स्वभाव है; अपने को सब कर्मोंसे रहित होना है इसलिये यह भी रागभाव ज्ञानीके नहीं होता है, यदि चारित्र–मोहका उदयरूप राग हो तो उस रागको भी बंधका कारण जानकर रोगके समान छोड़ना चाहे तो वह ज्ञानी है ही, और इस रागभावको भला समझकर प्राप्त करता है तो अज्ञानी है। आत्मा का स्वभाव सब रागादिकों से रहित है उसको इसने नहीं जाना, इसप्रकार रागभावको मोक्षका कारण और अच्छा समझकर करते हैं उसका निषेध है।। ५५।।

आगे कहते है कि जो कर्ममात्र से ही सिद्धि मानता है उसने आत्मस्वभावको नहीं जाना है वह अज्ञानी है, जिनमत से प्रतिकूल है:–––

जो कम्म जादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो।। ५६।।

यः कर्म जातमतिकः स्वभावज्ञानस्य खंडदूषणकरः
सः तेन तु अज्ञानी जिनशासनदूषकः भणितः।। ५६।।

अर्थः––जिसकी बुद्धि कर्म ही में उत्पन्न होती है ऐसा पुरुष स्वभावज्ञान जो केवलज्ञान उसको खंडरूप दूषण करनेवाला है, इन्द्रियज्ञान खंडखंडरूप है, अपने–अपने विषयको जानता है, जो जीव इतना मात्रही ज्ञानको मानता है इस कारणसे ऐसा माननेवाला अज्ञानी है जिनमत को दूषण करता है। (अपने में महादोष उत्पन्न करता है)

भावार्थः––मीमांसक मतवाला कर्मवादी है, सर्वज्ञको नहीं मानता है, इन्द्रिय–ज्ञानमात्रही ज्ञानको मानता है, केवलज्ञानको नहीं मानता है, इसका निषेध किया है, क्योंकि जिनमत में आत्माका स्वभाव सबको जाननेवाला केवलज्ञानस्वरूप कहा है।

कर्मजमतिक जे खंडदूषणकर स्वभाविकज्ञानमां,
ते जीवने अज्ञानी, जिनशासन तणा दूषक कह्या। ५६।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परन्तु वह कर्म के निमित्त से आच्छादित होकर इन्द्रियोंके द्वारा क्षयोपशमके निमित्तसे खंडरूप हुआ, खंड–खंड विषयोंको जानता है; [निज बलद्वारा] कर्मोंका नाश होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है तब आत्मा सर्वज्ञ होता है, इसप्रकार मीमांसक मतवाला नहीं मानता है अतः वह अज्ञानी है, जिनमत से प्रतिकूल है, कर्ममात्रमें ही उसकी बुद्धि गत हो रही है, ऐसे कोई और भी मानते हैं वह ऐसा ही जानना।। ५६।।

आगे कहते हैं कि जो ज्ञान–चारित्र रहित हो ओर तप–सम्यक्त्व रहित हो तथा अन्य भी क्रिया भावपूर्वक न हो तो इसप्रकार केवल लिंग–भेषमात्र ही से क्या सुख है? अर्थात् कुछ भी नहीं है:–––

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं।। ५७।।

ज्ञानं चारित्रहीनं दर्शनहीनं तपोभिः संयुक्तम्।
अन्येषु भावरहितं लिंगग्रहणेन किं सौख्यम्।। ५७।।

अर्थः––जहाँ ज्ञान तो चारित्र रहित है, तपयुक्त भी है, परन्तु वह दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व से रहित है, अन्य भी आवश्यक आदि क्रियायें हैं परन्तु उनमें भी शुद्धभाव नहीं है, इसप्रकार लिंग–भेष ग्रहण करने में क्या सुख है?

भावार्थः––कोई मुनि भेष मात्र से तो मुनि हुआ और शास्त्र भी पढ़ता है; उसको कहते हैं कि ––शास्त्र पढ़कर ज्ञान तो किया परन्तु निश्चयचारित्र जो शुद्ध आत्माका अनुभवरूप तथा बाह्य चारित्र निर्दोष नहीं किया, तपका क्लेश बहुत किया, सम्यक्त्व भावना नहीं हुई और आवश्यक आदि बाह्य क्रिया की, परन्तु भाव शुद्ध नहीं लगाये तो ऐसे बाह्य भेषमात्र से तो क्लेश ही हुआ, कुछ शांतभावरूप सुख तो हुआ नहीं और यह भेष परलोक के सुखमें भी कारण नहीं हआ; इसलिये सम्यक्त्वपूर्वक भेष (–जिन–लिंग) धारण करना श्रेष्ठ है।। ५७।।

आगे सांख्यमती आदिके आशयका निषेध करते हैं:–––

ज्यां ज्ञान चरितविहीन छे, तपयुक्त पण दगहीन छे,
वळी अन्य कार्यो भावहीन, ते लिंगथी सुख शुं अरे? ५७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी।
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा।।५८।।

अचेतनेपि चेतनं यः मन्यते सः भवति अज्ञानी।
सः पुनः ज्ञानी भणितः यः मन्यते चेतने चेतनम्।।५८।।

अर्थः––जो अचेतन में चेतनको मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतन में ही चेतनको मानता है उसे ज्ञानी कहा है।

भावार्थः––सांख्यमती ऐसे कहता है कि पुरुष तो उदासीन चेतनास्वरूप नित्य है और ज्ञान है वह प्रधानका धर्म है, इनके मतमें पुरुषको उदासीन चेतनास्वरूप माना है अतः ज्ञान बिना तो वह जड़ ही हुआ, ज्ञान बिना चेतन कैसे? ज्ञानी को प्रधानका धर्म माना है और प्रधानको जड़ माना तब अचेतनमें चेतना मानी तब अज्ञानी ही हुआ।

नैयायिक, वैशेषिक मतवाले गुण–गुणीके सर्वथा भेद मानते हैं, तब उन्होंने चेतना गुणको जीवसे भिन्न माना तब जीव तो अचेतन ही रहा। इसप्रकार अचेतनमें चेतनापना माना। भूतवादी चार्वाक – भूत पृथ्वी आदिकसे चेतनाकी उत्पत्ति मानता है, भूत तो जड़ है उसमें चेतना कैसे उपजे? इत्यादिक अन्य भी कई मानते हैं वे सब अज्ञानी हैं इसलिये चेतना माने वह ज्ञानी है, यह जिनमत है।। ५८।।

आगे कहते हैं कि तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप ये दोनों ही अकार्य हैं दोनों के संयुक्त होने पर ही निर्वाण है:–––

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।।५९।।

तपोरहितं यत् ज्ञानं ज्ञानवियुक्तं तपः अपि अकृतार्थम्।
तस्मात् ज्ञानतपसा संयुक्तः लभते निर्वाणम्।।५९।।

छे अज्ञ, जेह अचेतने चेतक तणी श्रद्धा धरे;
जे चेतने चेतक तणी श्रद्धा धरे, ते ज्ञानी छे। ५८।

तपथी रहित जे ज्ञान, ज्ञानविहीन तप अकृतार्थ छे,
ते कारणे जीव ज्ञानतपसंयुक्त शिवपदने लहे। ५९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––जो ज्ञान तप रहित है और जो तप है वह भी ज्ञानरहित है तो दोनों ही अकार्य हैं, इसलिये ज्ञान – तप संयुक्त होने पर ही निर्वाणको प्राप्त करता है।

भावार्थः––अन्यमती सांख्यादिक ज्ञानचर्चा तो बहुत करते हैं और कहते हैं कि––ज्ञानसे ही मुक्ति है और तप नहीं करते हैं, विषय–कषायों को प्रधानका धर्म मानकर स्वच्छन्द प्रवर्तते हैं। कई ज्ञानको निष्फल मानकर उसको यथार्थ जानते नहीं हैं और तप–क्लेशादिक से ही सिद्धि मानकर उसके करने में तत्पर रहते हैं। आचार्य कहते हैं कि ये दोनों ही अज्ञानी हैं, जो ज्ञानसहित तप करते हैं वे ज्ञानी हैं वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं, यह अनेकान्तस्वरूप जिनमतका उपदेश है।। ५९।।

आगे इसी अर्थको उदाहरण से दृढ़ करते हैंः–––––

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवचरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवचरणं णाणजुत्तो वि।। ६०।।

ध्रुवसिद्धिस्तीर्थंकरः चतुर्ज्ञानयुतः करोति तपश्चरणम्।
ज्ञात्वाध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणं ज्ञानयुक्तः अपि।। ६०।।

अर्थः––आचार्य कहते हैं–––कि देखो ––––, जिसको नियम से मोक्ष होना है–– और जो चार ज्ञान– मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इनसे युक्त है ऐसा तीर्थंकर भी तपश्चरण करता है, इसप्रकार निश्चयसे जानकर ज्ञानयुक्त होने पर भी तप करना योग्य है। [तप–मुनित्व, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता को तप कहा है।]

भावार्थः––तीर्थंकर मति–श्रुत–अवधि इन तनि ज्ञान सहित तो जन्म लेते हैं और दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, मोक्ष उनको नियमसे होना है तो भी तप करते हैं, इसलिये ऐसा जानकर ज्ञान होते हुए भी तप करने में तत्पर होना, ज्ञानमात्र ही से मुक्ति नहीं मानना।। ६०।।

आगे जो बाह्यलिंग सहित हैं और अभ्यंतरलिंग रहित है वह स्वरूपाचरण चारित्र से भ्रष्ट हुआ मोक्षमार्गका विनाश करने वाला है, इसप्रकार सामान्यरूपसे कहते हैंः––––

ધ્રુવસિદ્ધિ શ્રી તીર્થેશ જ્ઞાનચતુષ્કયુત તપને કરે,
એ જાણી નિશ્ચિત જ્ઞાનયુત જીવેય તપ કર્તવ્ય છે। ૬૦।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बहिरलिंगेण जुहो अब्भंतरलिंग रहिय परियम्मो।
सो सगचरित्त भट्ठो मोक्खपहविपासगो साहु।। ६१।।

बाह्यलिंगेन युतः अभ्यंतरलिंग रहित परिक्रर्म्मा।
सः स्वकचारित्रभ्रष्टः मोक्षपथविनाशकः साधुः।। ६१।।

अर्थः––जो जीव बाह्य लिंग – भेष सहित है और अभ्यंतर लिंग जो परद्रव्यों से सर्व रागादिक ममत्वभाव रहित ऐसे आत्मानुभव से रहित है तो वह स्व–चारित्र अर्थात् अपने आत्मस्वरूप के आचरण – चारित्र से भ्रष्ट है, परिकर्म अर्थात् बाह्य में नग्नता, ब्रह्मचर्यादि शरीर संस्कार से परिवर्तनवान द्रव्यलिंगी होने पर भी वह स्व–चारित्र से भ्रष्ट होने से मोक्षमार्गका विनाश करने वाला है। [अतः मुनि – साधुको शुद्धभावको जानकर निज शुद्ध बुद्ध एकस्वभावी आत्मतत्त्व में नित्य भावना (–एकाग्रता) करनी चाहिये।] (श्रुतसागरी टीका से)

भावार्थः––यह संक्षेप से कहा जानो कि जो बाह्यलिंग संयुक्त है और अभ्यंतर अर्थात् भावलिंग रहित है वह स्वरूपाचरण चारित्र से भ्रष्ट हुआ मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है ।। ६१।।

आगे कहते हैं कि – **जो सुख से भावित ज्ञान है वह दुःख आने पर नष्ट होता है, इसलिये तपश्चरण सहित ज्ञान को भानाः––**

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हां जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए।। ६२।।

सुखेन भावितं ज्ञानं दुःखे जाते विनश्यति।
तस्मात् यथा बलं योगी आत्मानं दुःखैः भावयेत्।। ६२।।

अर्थः––सुख से भाया हुआ ज्ञान है वह उपसर्ग–परिषहादि के द्वारा दुःख उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, इसलिये यह उपदेश है कि जो योगी ध्यानी मुनि है वह

जे बाह्यलिंगे युक्त, आंतरलिंग रहित क्रिया करे,
ते स्वकचरितथी भ्रष्ट, शिवमारगविनाशक श्रमण छे। ६१।

सुखसंग भावित ज्ञान तो दुःखकाळमां लय थाय छे,
तेथी यथा बळ दुःखसह भावो श्रमण निज आत्मने। ६२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तपश्चरणादि के कष्ट [दुःख] सहित आत्माको भावे। [अर्थात् बाह्य में जरा भी अनुकूल – प्रतिकूल न मानकर निज आत्मा में ही एकाग्रतारूपी भावना करे जिससे आत्मशक्ति और आत्मिकआनंद का प्रचुर संवेदन बढ़ता ही है]

भावार्थः––तपश्चरणका कष्ट अंगीकार करके ज्ञानको भावे तो परीषह आने पर ज्ञानभावना से चिगे नहीं इसलिये शक्ति के अनुसार दुःख सहित ज्ञान को भाना, सुख ही में भावे तो दुःख आने पर व्याकुल हो जावे तब ज्ञानभावना न रहे, इसलिये यह उपदेश है।। ६२।।

आगे कहते हैं कि आहार, आसन, निद्रा इनको जीतकर आत्मा का ध्यान करनाः–––

आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण।
झायव्वो णियअण्णा णाऊणं गुरुपसाएण।। ६३।।

आहारासन निद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन।
ध्यातव्यः निजात्मा ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन।। ६३।।

अर्थः––आहार, आसन, निद्रा इनको जीतकर और जिनवर के मत से तथा गुरुके प्रसाद से जानकर निज आत्माका ध्यान करना।

भावार्थः––आहार, आसन, निद्राको जीतकर आत्माका ध्यान करना तो अन्य मतवाले भी कहते हैं परन्तु उनके यथार्थ विधान नहीं है, इसलिये आचार्य कहते हैं कि जैसे जिनमत में कहा है उस विधान को गुरुके प्रसादसे जानकर ध्यान करना सफल है। जैसे जैन सिद्धांत में आत्मा का स्वरूप तथा ध्यानका स्वरूप और आहार, आसन, निद्रा इनके जीतनेका विधान कहा है वैसे जानकर इनमें प्रवर्तन करना।। ६३।।

आगे आत्मा का ध्यान करना; यह आत्मा कैसा है, यह कहते हैंः–––

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण।। ६४।।

आसन–अशन–निद्रातणो करी विजय, जिनवरमार्गथी,
ध्यातव्य छे निज आतमा, जाणी श्री गुरुपरसादथी। ६३।

छे आतमा संयुक्त दर्शन–ज्ञानथी, चारित्रथी;
नित्ये अहो! ध्यातव्य ते, जाणी श्री गुरुपरसादथी। ६४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुतः आत्मा।
सः ध्यातव्यः नित्यं ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन।। ६४।।

अर्थः––आत्मा चारित्रवान् है और दर्शन – ज्ञानसहित है, ऐसा आत्मा गुरुके प्रसाद से जानकर नित्य ध्यान करना।

भावार्थः––आत्मा का रूप दर्शन– ज्ञान –चारित्रमयी है, इसका रूप जैन गुरुओंके प्रसाद से जाना जाता है। अन्यमत वाले अपना बुद्धि कल्पित जेसे–तैसे मानकर ध्यान करते हैं उनके यथार्थ सिद्धि नहीं है, इसलिये जैनमतके अनुसार ध्यान करना ऐसा उपदेश है।। ६४।।

आगे कहते हैं कि आत्माका जानना, भाना और विषयों से विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ होने से दुःख से [– दृढ़तर पुरुषार्थसे] प्राप्त होते हैं:–––

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भाविय सहावपुरिसो विसयेसु विरच्चए दुक्खं।। ६५।।

दुःखेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दुःखम्।
भावित स्वभावपुरुषः विषयेषु विरज्यति दुःखम्।। ६५।।

अर्थः––प्रथम तो आत्मा को जानते हैं वह दुःखसे जाना जाता है, फिर आत्माको जानकर भी भावना करना, फिर–फिर इसीका अनुभव करना दुःखसे [–उग्र पुरुषार्थसे] होता है, कदाचित् भावना भी किसी प्रकार हो जावे तो भायी है जिनभावना जिसने ऐसा पुरुष विषयोंसे विरक्त बड़े दुःख से [––अपूर्व पुरुषार्थ से] होता है।

भावार्थः––आत्माका जानना, भाना, विषयोंसे विरक्त होना उत्तरोत्तर यह योग मिलना बहुत दुर्लभ है, इसलिये यह उपदेश है कि ऐसा सुयोग मिलने पर प्रमादी न होना।। ६५।।

आगे कहते हैं कि जब तक विषयोंमें यह मनुष्य प्रवर्तता है तब तक आत्मज्ञान नहीं होता है:–––

जीव जाणवो दुष्कर प्रथम, पछी भावना दुष्कर अरे!
भावित निजात्मस्वभावने दुष्कर विषयवैराग्य छे। ६५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं।। ६६।।

तावन्न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नर: प्रवर्तते यावत्।
विषये विरक्तचित्त: योगी जानाति आत्मानम्।। ६६।।

अर्थ:––जब तक यह मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवर्तता है तब तक आत्मा को नहीं जानता है, इसलिये योगी ध्यानी मुनि है वह विषयों से विरक्त चित्त होता हुआ आत्मा को जानता है।

भावार्थ:––जीवके स्वभाव के उपयोगकी ऐसी स्वच्छता है कि जो जिस ज्ञेय पदार्थ से उपयुक्त होता है वैसा ही हो जाता है, इसलिये आचार्य कहते हैं कि––जब तक विषयों में चित्त रहता है, तबतक उन रूप रहता है, आत्मा का अनुभव नहीं होता है, इसलिये योगी मुनि इसप्रकार विचार कर विषयों से विरक्त हो आत्मा में उपयोग लगावे तब आत्मा को जाने, अनुभव करे, इसलिये विषयोंसे विरक्त होना यह उपदेश है।। ६६।।

आगे इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं कि आत्माको जानकर भी भावना बिना संसार में ही रहता है:––––

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा।। ६७।।

आत्मानं ज्ञात्वा नरा: केचित् सद्भावभावप्रभ्रष्टा:।
हिण्डन्ते चातुरंगं विषयेषु विमोहिता: मूढा:।। ६७।।

अर्थ:––कई मनुष्य आत्मा को जानकर भी अपने स्वभावकी भावना से अत्यंत भ्रष्ट हुए विषयोंमें मोहित होकर अज्ञानी मूर्ख चार गतिरूप संसारमें भ्रमण करते हैं।

भावार्थ:––पहिले कहा था कि आत्मा को जानना, भाना, विषयोंसे विरक्त होना

आत्मा जणाय न, ज्यां लगी विषये प्रवर्तन नर करे;
विषये विरक्तमनस्क योगी जाणता निज आत्मने। ६६।

नर कोई, आतम जाणी, आतम भावना प्रच्युतपणे
चतुरंग संसारे भमे विषये विमोहित मूढ अे। ६७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ये उत्तरोत्तर दुर्लभ पाये जाते हैं, विषयोंमें लगा हुआ प्रथम तो आत्माको जानता नहीं है ऐसे कहा, अब यहाँ इसप्रकार कहा कि आत्माको जानकर भी विषयोंके वशीभूत हुआ भावना नहीं करे तो संसार ही में भ्रमण करता है, इसलिये आत्माको जानकर विषयों से विरक्त होना यह उपदेश है।। ६७।।

आगे कहते हैं कि जो विषयों विरक्त होकर आत्मा को जानकर भाते हैं वे संसार को छोड़ते हैं:---

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो।। ६८।।

ये पुनः विषयविरक्ताः आत्मानं ज्ञात्वा भावनासहिताः।
त्यजंति चातुरंगं तपोगुणयुक्ताः न संदेहः।। ६८।।

अर्थः--फिर जो पुरुष मुनि विषयोंसे विरक्त हो आत्माको जानकर भाते हैं, बारंबार भावना द्वारा अनुभव करते हैं वे तप अर्थात् बारह प्रकार तप और मूलगुण उत्तरगुणोंसे युक्त होकर संसारको छोड़ते हैं, मोक्ष पाते हैं।

भावार्थः--विषयों से विरक्त हो आत्मा को जानकर भावना करना, इससे संसार से छूट कर मोक्ष प्राप्त करो, यह उपदेश है।। ६८।।

आगे कहते हैं कि यदि परद्रव्य में लेशमात्र भी राग हो तो वह पुरुष अज्ञानी है, अपना स्वरूप उसने नहीं जाना:---

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ।। ६९।।

परमाणुप्रमाणं वा परद्रव्ये रतिर्भवति मोहात्।
सः मूढः अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः।। ६९।।

पण विषयमांही विरक्त, आतम जाणी भावनयुक्त जे,
निःशंक ते तपगुणसहित छोडे चतुर्गति भ्रमणने। ६८।

परद्रव्यमां अणुमात्र पण रति होय जेने मोहथी,
ते मूढ छे, अज्ञानी छे, विपरीत आत्मस्वभावथी। ६९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––जिस पुरुष के परद्रव्य में परमाणु प्रमाण भी लेशमात्र मोहसे रति अर्थात् राग–प्रीति हो तो वह पुरुष मूढ़ है, अज्ञानी है, आत्मस्वभावसे विपरीत है।

भावार्थः––भेदविज्ञान होने के बाद जीव–अजीवको भिन्न जाने तब परद्रव्य को अपना न जाने तब उससे [कर्तव्यबुद्धि स्वामित्व की भावनासे] राग भी नहीं होता है, यदि [ऐसा] हो तो जानो कि इसने स्व–परका भेद नहीं जाना है, अज्ञानी है, आत्मस्वभावसे प्रतिकूल है; और ज्ञानी होने के बाद चारित्र मोह का उदय रहता है तब तक कुछ राग रहता है उसको कर्मजन्य अपराध मानता है, उस राग से राग नहीं है इसलिये विरक्त ही है, अतः ज्ञानी परद्रव्यमें रागी नहीं कहलाता है, इसप्रकार जानना।। ६९।।

आगे इस अर्थ को संक्षेप में कहते हैं:––––

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढ चरिताणं।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्त चित्ताणं।। ७०।।

आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धीनां दृढचारित्राणाम्।
भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्त चित्तानाम्।। ७०।।

अर्थः–––पूर्वोक्त प्रकार जिनका चित्त विषयोंसे विरक्त है, जो आत्माका ध्यान करते रहते हैं, जिनके बाह्य–अभ्यंन्तर दर्शन की शुद्धता है ओर जिनके दृढ़ चारित्र है, उनको निश्चय से निर्वाण होता है।

भावार्थः–––पहिले कहा था कि जो विषयोंसे विरक्त हो आत्माका स्वरूप जानकर आत्माकी भावना करते हैं वे संसार से छूटते हैं। इस ही अर्थको संक्षेपसे कहा है कि––जो इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर बाह्य–अभ्यंतर दर्शनकी शुद्धता से दृढ़ चारित्र पालते हैं उनको नियम से निर्वाण की प्राप्ति होती है, इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति सब अनर्थोंका मूल है, इसलिये इनसे विरक्त होने पर उपयोग आत्मा में लगे तब कार्यसिद्धि होती है।। ७०।।

आगे कहते हैं कि जो परद्रव्यमें राग है वह संसारका कारण है, इसलिये योगीश्वर आत्मा में भावना करते हैं:––––

जे आत्मने ध्यावे सुदर्शनशुद्ध, दृढचारित्र छे,
विषये विरक्तमनस्क ते शिवपद लहे निश्चितपणे। ७०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे समायणं।। ७१।।

येन राग: परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम्।
तेनापि योगी नित्यं कुर्यात् आत्मनि स्वभावनाम्।। ७१।।

अर्थ:––जिस कारण से परद्रव्यमें राग है वह संसार ही का कारण है, उस कारण ही से योगीश्वर मुनि नित्य आत्मा ही में भावना करते हैं।

भावार्थ:––कोई ऐसी शंका करते हैं कि ––––परद्रव्य में राग करने से क्या होते है? परद्रव्य है वह पर है ही, अपने राग जिस काल हुआ उस काल है, पीछे मिट जाता है, उसको उपदेश दिया है कि––परद्रव्य से राग करने पर परद्रव्य अपने साथ लगता है, यह प्रसिद्ध है, और अपने राग का संस्कार दृढ़ होता है तब परलोक तक भी चला जाता है यह तो युक्ति सिद्ध है और जिनागम में राग से कर्म का बंध कहा है, इसका उदय अन्य जन्म का कारण है, इसप्रकार परद्रव्य में राग से संसार होता है, इसलिये योगीश्वर मुनि परद्रव्य से राग छोड़कर आत्मा में निरन्तर भावना रखते हैं।। ७१।।

आगे कहते हैं कि ऐसे समभाव से चारित्र होता है:––––

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य।
सत्तुणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो।। ७२।।

निंदायां च प्रशंसायां दु:खे च सुखेषु च।
शत्रूणां चैव बंधूनां चारित्रं समभावत:।। ७२।।

अर्थ:––निन्दा–प्रशंसा में, दु:ख–सुखमें ओर शत्रु–बन्धु–मित्रमें समभाव जो समतापरिणाम, राग–द्वेष से रहितपना, ऐसे भाव से चारित्र होता है।

भावार्थ:––चारित्रका स्वरूप यह कहा है कि जो आत्माका स्वभाव है वह कर्मके

परद्रव्य प्रत्ये राग तो संसारकारण छे खरे;
तेथी श्रमण नित्ये करो निजभावना स्वात्मा विषे। ७१।

निंदा–प्रशंसाने विषे, दु:खो तथा सौख्यो विषे,
शत्रु तथा मित्रो विषे समताथी चारित होय छे। ७२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निमित्तसे ज्ञानमें परद्रव्यसे इष्ट अनिष्ट बुद्धि होती है, इस इष्ट–अनिष्ट बुद्धि के अभाव से ज्ञान ही में उपयोग लगा रहे उसको शुद्धोपयोग कहते हैं, वही चारित्र है, यह होता है वहाँ निंदा–प्रशंसा, दुःख–सुख, शत्रु–मित्र में समान बुद्धि होती है, निंदा–प्रशंसाका द्विधाभाव मोहकर्म का उदयजन्य है, इसका अभाव ही शुद्धोपयोगरूप चारित्र है।।७२।।

आगे कहते हैं कि कई मूर्ख ऐसे कहते हैं जो अभी पंचमकाल है सो आत्मध्यानका काल नहीं है, उसका निषेध करते हैं:---

चरियावरिया वद समिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा।
केइ जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स।। ७३।।

चर्यावृताः व्रतसमितिवर्जिताः शुद्धभावप्रभ्रष्टाः।
केचित् जल्पंति नराः न स्फुटं कालः ध्यानयोगस्य।। ७३।।

अर्थः––कई मनुष्य ऐसे हैं जिनके चर्या अर्थात् आचार क्रिया आवृत है, चारित्र मोह का उदय प्रबल है इससे चर्या प्रकट नहीं होती है, इसी से व्रत समिति से रहित है और मिथ्याअभिप्राय के कारण शुद्धभाव से अत्यंत भ्रष्ट हैं, वे ऐसे कहते हैं कि---अभी पंचमकाल है, यह काल प्रकट ध्यान–योगका नहीं है।। ७३।।

वे प्राणी कैसे हैं वह आगे कहते हैं:---

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्य जीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
ससारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स।। ७४।।

सम्यक्त्वज्ञानरहितः अभव्यजीवः स्फुटं मोक्षपरिमुक्तः।
संसारसुखे सुरतः न स्फुटं कालः भणति ध्यानस्य।। ७४।।

अर्थः––पूर्वोक्त ध्यान का अभाव करने वाला जीव सम्यक्त्व और ज्ञानसे रहित है, अभव्य है, इसीसे मोक्ष रहित है और संसारके इन्द्रिय–सुखको भले जानकर उनमें

आवृतचरण, व्रतसमितिवर्जित, शुद्धभावविहीन जे,
ते कोई नर जल्पे अरे! 'नहि ध्याननो आ काळ छे।' ७३।

सम्यक्त्वविहीन, शिवपरिमुक्त जीव अभव्य जे,
ते सुरेत भवसुखमां कहे–'नहि ध्याननो आ काळ छे।' ७४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रत है, आसक्त है, इसलिये कहते हैं कि अभी ध्यानका काल नहीं है।

भावार्थः––जिसको इन्द्रियोंके सुख ही प्रिय लगते हैं और जीवाजीव पदार्थके श्रद्धान–ज्ञान से रहित है, वह इसप्रकार कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि इसप्रकार कहने वाला अभव्य है इसको मोक्ष नहीं होगा।। ७४।।

जो ऐसा मानता है–––कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं, तो उसने पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिका स्वरूप भी नहीं जाना:–––

पंचसु महव्वेदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स।। ७५।।

पंचसु महाव्रतेषु च पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिसु।
यः मूढः अज्ञानी न स्फुटं कालः भणिति ध्यानस्य।। ७५।।

अर्थः––जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इनमें मूढ़ है, अज्ञानी है अर्थात् इनका स्वरूप नहीं जानता है और चारित्रमोह के तीव्र उदय से इनको पाल नहीं सकता है, वह इसप्रकार कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है।। ७५।।

आगे कहते हैं कि अभी इस पंचमकाल में धर्मध्यान होता है, यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है:–––

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।। ७६।।

भरते दुःषमकाले धर्मध्यानं भवति साधोः।
तदात्म स्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी।। ७६।।

अर्थः––इस भरतक्षेत्र में दुःषम काल – पंचमकाल में साधु मुनि के धर्मध्यान होता है

त्रण गुप्ति, पंच समिति, पंच महाव्रते जे मूढ छे,
ते मूढ अज्ञ कहे अरे! –'नहि ध्याननो आ काळ छे।' ७५।

भरते दुषमकालेय धर्मध्यान मुनिने होय छे;
ते होय छे आत्मस्थने; माने न ते अज्ञानी छे। ७६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह धर्मध्यान आत्म स्वभाव में स्थित है उस मुनिके होता है, जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है उसको धर्मध्यानके स्वरूपका ज्ञान नहीं है।

भावार्थः––जिनसूत्र में इस भरतक्षेत्र पंचमकाल में आत्मस्वभाव में स्थित मुनि के धर्मध्यान कहा है, जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है, उसको धर्मध्यानके स्वरूपका ज्ञान नहीं है।। ७६।।

आगे कहते हैं कि जो इसकाल में रत्नत्रयका धारक मुनि होता है वह स्वर्ग लोक में लौकान्तिकपद, इन्द्रपद प्राप्त करके वहाँ से चयकर मोक्ष जाता है, इसप्रकार जिनसूत्र में कहा है:––

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहिं इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति।। ७७।।

अद्य अपि त्रिरत्नशुद्धा आत्मानं ध्यात्वा लभंते इन्द्रत्वम्।
लौकान्तिक देवत्वं ततः च्युत्वा निर्वृतिं यांति।। ७७।।

अर्थः––अभी इस पंचमकाल में भी जो मुनि सम्यग्दर्शन –ज्ञान –चारित्रकी शुद्धता युक्त होते हैं वे आत्माका ध्यान कर इन्द्रपद अथवा लौकान्तिक देवपद प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

भावार्थः––कोई कहते हैं कि अभी इस पंचमकाल में जिनसूत्र में मोक्ष होना कहा नहीं इसलिये ध्यान करना तो निष्फल खेद है, उसको कहते हैं कि हे भाई! मोक्ष जाने का निषेध किया है ओर शुक्लध्यान का निषेध किया है परन्तु धर्मध्यान का निषेध तो किया नहीं है। अभी भी जो मुनि रत्नत्रय से शुद्ध होकर धर्मध्यानमें लीन होते हुए आत्मा का ध्यान करते हैं, वे मुनि स्वर्ग में इन्द्रपद को प्राप्त होते हैं अथवा लोकान्तिक देव एक भवावतारी हैं, उनमें जाकर उत्पन्न होते हैं। वहाँ से चयकर मनुष्य को मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। इसप्रकार धर्मध्यान से परंपरा मोक्ष होता है तब सर्वथा निषेध क्यों करते हो? जो निषेध करते हैं वे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं, उनको विष्य–कषायों में स्वच्छंद रहना है इसलिये इसप्रकार कहते हैं।। ७७।।

आगे कहते हैं कि जो इसकाल में धर्मध्यान का अभाव मानते हैं और मुनिलिंग

आजे य विमलत्रिरत्न, निजने ध्याई इन्द्रपणुं लहे,
वा देव लौकांतिक बने, त्यांथी च्यवी सिद्धि वरे। ७७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पहिले ग्रहण कर लिया, अब उसको गौण करके पापमें प्रवृत्ति करते हैं वे मोक्ष मार्ग से च्युत हैं:–

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तुण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।। ७८।।

ये पापमोहितमतयः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम्।
पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्त्वा मोक्षमार्गे।। ७८।।

अर्थः––––जिनकी बुद्धि पापकर्म से मोहित है वे जिनवरेन्द्र तीर्थंकरका लिंग ग्रहण करके भी पाप करते हैं, वे पापी मोक्षमार्ग से च्युत हैं।

भावार्थः––जिन्होंने पहिले निर्ग्रंथ लिंग धारण कर लिया और पीछे ऐसी पाप बुद्धि उत्पन्न हो गई कि––––अभी ध्यानका काल तो नहीं इसलिये क्यों प्रयास करे? ऐसा विचारकर पापमें प्रवृत्ति करने लग जाते हैं वे पापी हैं, उनको मोक्षमार्ग नहीं है।। ७२।।

[※ 'इसकाल में धर्मध्यान किसी को नहीं होता' किन्तु भद्रध्यान (–व्रत, भक्ति, दान, पूजादिकके शुभभाव) होते हैं। इससे ही निर्जरा और परम्परा मोक्ष माना है और इसप्रकार सातवें गुणस्थान तक भद्रध्यान और पश्चात् ही धर्मध्यान मानने वालों ने ही श्री देवसेनाचार्य कृत 'आराधनासार' नाम देकर एक जालीग्रन्थ बनाया है, उसी का उत्तर केकड़ी निवासी पं० श्री मिलापचन्दजी कटारिया ने 'जैन निबंध रत्न माला' पृष्ठ ४७ से ६० में दिया है कि इस काल में धर्मध्यान गुणस्थान ४ से ७ तक आगम में कहा है। आधारः––––सूत्रजी की टीकाएँ––––श्री राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि।]

आगे कहते हैं कि जो मोक्षमार्ग से च्युत हैं वे कैसे हैं:––––

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।। ७९।।

जे पापमोहित बुद्धिओ ग्रही जिनवरोना लिंगने
पापो करे छे, पापीओ ते मोक्षमार्गे त्यक्त छे। ७८।

जे पंचवस्त्रासक्त, परिग्रहधारी याचनशीलछे,
छे लीन आधाकर्ममां, ते मोक्षमार्गे त्यक्त छे। ७९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ये पंचचेलसक्ता: ग्रंथग्राहिण: याचनाशीला:।
अध: कर्मणि रता: ते त्यक्ता: मोक्षमार्गे।। ७९।।

अर्थ:––पंच आदि प्रकाके चले अर्थात् वस्त्रोंमें आसक्त हैं, अंडज, कर्पासज, वल्कल, चर्मज और रोमज––––इसप्रकार वस्त्रोंसे किसी एक वस्त्रको ग्रहण करते हैं, ग्रन्थग्राही अर्थात् परिग्रहके ग्रहण करने वाले हैं, याचनाशील अर्थात् मांगने का ही जिनका स्वभाव है और अध:कर्म अर्थात् पापकर्म में रत हैं, सदोष आहार करते हैं वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं।

भावार्थ:––यहाँ आशय ऐसा है कि पहले तो निग्रर्थं दिगम्बर मुनि हो गये थे, पीछे कालदोष का विचार कर चारित्र पालने में असमर्थ हो निर्ग्रंथ लिंगसे भ्रष्ट होकर वस्त्रादिक अंगीकार कर लिये, परिग्रह रखने लगे, याचना करने लगे, अध:कर्म औद्देशिक आहार करने लगे उनका निषेध है वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं।पहिले तो भद्रबाहुस्वामी तक निग्रर्थं थे। पीछे दुर्भिक्षकाल में भ्रष्ट होकर जो अर्द्धफालक कहलाने लगे उनमें से श्वेताम्बर हुए, इन्होंने इस भेष को पुष्ट करने के लिये सूत्र बनाये, इनमें कई काल्पित आचरण तथा इसनी साधक कथायें लिखी। इसके सिवाय अन्य भी कई भेष बदले, इसप्रकार कालदोषसे भ्रष्ट लोगोंका संप्रदाय चल रहा है यह मोक्षमार्ग नहीं है, इसप्रकार बताया है। इसलिये इन भ्रष्ट लोगोंको देखकर ऐसा भी मोक्षमार्ग है, ––ऐसा श्रद्धान न करना।। ७९।।

आगे कहते हैं कि मोक्षमार्गी तो ऐसे मुनि होते हैं:––––

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गह्यिा मोक्खमग्गम्मि।। ८०।।

निर्ग्रंथा: मोहमुक्ता: द्वाविंशतिपरीषहा: जितकषाया:।
पापारंभविमुक्ता: ते गृहीता: मोक्षमार्गे।। ८०।।

अर्थ:––जो मुनि निर्ग्रंथ हैं, परिग्रह रहित हैं, मोह रहित हैं, जिनके किसी भी परद्रव्य से ममत्वभाव नहीं है, जो बाईस परीषहोंको सहते हैं, जिन्होंने क्रोधादि कषायों को जीत लिया है और पापारंभ से रहित हैं, गृहस्थके करने योग्य आरंभादिक पापोंमें नहीं प्रवर्तते हैं––ऐसे मुनियोंको मोक्षमार्ग में ग्रहण किया है अर्थात् माने हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समंतभद्राचार्यने भी कहा है कि––

निर्मोह, विजितकषाय, बावीश–परिषही, निर्ग्रंथ छे,
छे मुक्त पापारंभथी, ते मोक्षमार्गे गृहीत छे। ८०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

—— 'विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्तते।

भावार्थः——मुनि हैं वे लौकिक कष्टों और कार्योंसे रहित हैं। जैसे जिनेश्वर ने मोक्षमार्ग बाह्य–अभ्यंतर परिग्रहसे रहित नग्न दिगम्बररूप कहा है वैसे ही प्रवर्तते हैं वे ही मोक्षमार्गी हैं , अन्य मोक्षमार्गी नहीं हैं।। ८०।।

आगे फिर मोक्षमार्गी की प्रवृत्ति कहते हैं:——

उद्धद्धमज्झलोये केई मज्झं ण अहयमेगागी।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं।। ८१।।

उर्ध्वाधोमध्यलोके केचित् मम न अहकमेकाकी।
इति भावनया योगिनः प्राप्नुवंति स्फुटं शाश्वतं सौख्यम्।। ८१।।

अर्थः——मुनि ऐसी भावना करे———उर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक इन तीनों लोकोंमें मेरा कोई भी नहीं है, मैं एकाकी आत्मा हूँ, ऐसी भावना से योगी मुनि प्रकटरूप से शाश्वत सुखको प्राप्त करता है।

भावार्थः——मुनि ऐसी भावना करे कि त्रिलोकमें जीव एकाकी है, इसका संबंधी दूसरा कोई नहीं है, यह परमार्थरूप एकत्व भावना है। जिस मुनिके ऐसी भावना निरन्तर रहती है वही मोक्षमार्गी है, जो भेष लेकर भी लौकिक जनोंसे लाल–पाल रखता है वह मोक्षमार्गी नहीं है।। ८१।।

आगे फिर कहते हैं:———

देवगुरुणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतिंता।
झाणरया सुचरिता ते गह्या मोक्खमग्गम्मि।। ८२।।

देवगुरुणां भक्तः निर्वेद परंपरां विचिन्तयन्तः।
ध्यानरताः सुचरित्राः ते गृहीताः मोक्षमार्गे।। ८२।।

छुं अेकलो हुं, कोई पण मारां नथी लोकत्रये,
अे भावनाथी योगीओ पामे सुशाश्वत सौख्यने। ८१।

जे देव–गुरुना भक्त छे, निर्वेदश्रेणी चिंतवे,
जे ध्यानरत, सुचरित्र छे, ते मोक्षमार्गे गृहीत छे। ८२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ:––जो मुनि देव – गुरुके भक्त हैं निर्वेद अर्थात् संसार–देह–भोगों से विरागता की परंपरा का चिन्तन करते हैं, ध्यान में रत हैं रक्त हैं, तत्पर हैं और जिनके भला––उत्तम चारित्र है उनको मोक्षमार्ग में ग्रहण किये हैं।

भावार्थ:––जिनने मोक्षमार्ग प्राप्त किया ऐसे अरहंत सर्वज्ञ वीतराग देव और उनका अनुसरण करनेवाले बड़े मुनि दीक्षा देनेवाले गुरु इनकी भक्तियुक्त हो, संसार–देह–भोगोंसे विरक्त होकर मुनि हुए, वैसी ही जिनके वैराग्यभावना है, आत्मानुभवरूप शुद्ध उपयोगरूप एकाग्रतारूपी ध्यानमें तत्पर हैं और जिनके व्रत, समिति, गुप्तिरूप निश्चय–व्यवहारात्मक सम्यक्चारित्र होता है वे ही मुनि मोक्षमार्गी हैं, अन्य भेषी मोक्षमार्गी नहीं हैं।। ८२।।

आगे ऐसा कहते हैं कि––निश्चयनयसे ध्यान इसप्रकार करना:––––

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं।। ८३।।

निश्चयनयस्य एवं आत्मा आत्मनि आत्मने सुरतः।
सः भवति स्फुटं सुचरित्रः योगी सः लभते निर्वाणम्।। ८३।।

अर्थ:––आचार्य कहते हैं कि निश्चयनय का ऐसा अभिप्राय है––जो आत्मा आत्मा ही में अपने ही लिये भले प्रकार रत हो जावे वह योगी, ध्यानी, मुनि सम्यक्चारित्रवान् होता हुआ निर्वाण को पाता है।

भावार्थ:––निश्चयनयका स्वरूप ऐसा है कि––––एक द्रव्य की अवस्था जैसी हो उसी को कहे। आत्माकी दो अवस्थायें हैं––––एक तो अज्ञान–अवस्था और एक ज्ञान अवस्था। जब तक अज्ञान–अवस्था रहती है तब तक तो बंधपर्यायको आत्मा जानता है कि––––मैं मनुष्य हूं, मैं पशू हूं, मैं क्रोधी हूं, मैं मानी हूं, मैं मायावी हूं, मैं पुण्यवान्––धनवान् हूं, मैं निर्धन–दरिद्री हूं, मैं राजा हूं, मैं रंक हूं, मैं मुनि हूं, मैं श्रावक हूं इत्यादि पर्यायों में आपा मानता है, इन पर्यायों में लीन होता है तब मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, इसका फल संसार है उसको भोगता है।

जब जिनमत के प्रसाद से जीव–अजीव पदार्थोंका ज्ञान होता है तह स्व–परका

निश्चयनये–ज्यां आतमा आत्मार्थ आत्मामां रमे,
ते योगी छे सुचरित्रसंयुत; ते लहे निर्वाणने। ८३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भेद जानकर ज्ञानी होता है, तब इसप्रकार जानता है कि––मैं शुद्धज्ञानदर्शनमयी चेतनास्वरूप हूँ अन्य मेरा कुछ भी नहीं है। जब भावलिंगी निर्ग्रंथ मुनिपद की प्राप्ति करता है तब यह आत्मा हीमें अपने द्वारा अपने ही लिये विशेष लीन होता है तब निश्चयसम्यक्चारित्र स्वरूप होकर अपना ही ध्यान करता है, तब ही [साक्षात् मोक्षमार्ग में आरूढ़] सम्यग्ज्ञानी होता है, इसका फल निर्वाण है, इसप्रकार जानना चाहिये।। ८३।।

[नोंध–––प्रवचनसार गा० २४१ – २४२ में जो सातवें गुणस्थान में आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्व ओर निश्चय आत्मज्ञान में युगपत् आरूढ़ को आत्मज्ञान कहा है वह कथनकी अपेक्षा यहाँ है।] (गौण – मुख्य समझ लेना)]

आगे इस ही अर्थको दृढ़ करते हुए कहते हैं:–––

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो।
जो झायदि सो जोई पावहरो हवदि णिद्वंदो।। ८४।।

पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः।
यः ध्यायति सः योगी पापहरः भवति निर्द्वद्वः।। ८४।।

अर्थः––यह आत्मा ध्यान के योग्य कैसा है? पुरुषकार है, योगी है–जिसके मन, वचन, कायके योगोंका निरोध है, सर्वांग सुनिश्चल है और वर अर्थात् श्रेष्ठ सम्यक्रूप ज्ञान तथा दर्शनसे समग्र है––परिपूर्ण है, जिसके केवलज्ञान–दर्शन प्राप्त है, इस प्रकार आत्माका जो योगी ध्यानी मुनि ध्यान करता है वह मुनि पापको हरनेवाला है और निर्द्वन्द्व है–––रागद्वेष आदि विकल्पोंसे रहित है।

भावार्थः––जो अरहंतरूप शुद्ध आत्माका ध्यान करता है उसके पूर्व कर्मका नाश होता है और वर्तमान में रागद्वेष रहित होता है तब आगामी कर्मको नहीं बाँधता है।। ८४।।

आगे कहते हैं कि इसप्रकार मुनियोंको प्रवर्तन के लिये कहा। अब श्रावकोंको प्रवर्तनके लिये कहते हैं:–––

छे योगी पुरुषाकार, जीव वरज्ञानदर्शनपूर्ण छे;
ध्यानार योगी पापनाशक द्वंद्वविरहित होय छे। ८४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाणं पुण सुणसु।
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं।। ८५।।

एवं जिनैः कथितं श्रमणानां श्रावकाणां पुनः श्रृणुत।
संसारविनाशकारं सिद्धिकरं कारणं परमं।। ८५।।

अर्थः––एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार उपदेश तो श्रमण मुनियोंको जिनदेवने कहा है। अब श्रावकोंको संसारका विनाश करने वाला और सिद्धि जो मोक्ष उसको करने का उत्कृष्ट कारण ऐसा उपदेश कहते हैं सो सुनो।

भावार्थः––पहिले कहा वह तो मुनियों को कहा और अब आगे कहते हैं वह श्रावकोंको संसार का विनाश हो ओर मोक्षकी प्राप्ति हो।। ८५।।

आगे श्रावकोंको पहिले क्या करना, वह कहते हैं:–––

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं।
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए।। ८६।।

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरेरिव निष्कंपम्।
तत् ध्याने ध्यायते श्रावक! दुःखक्षयार्थे।। ८६।।

अर्थः––प्रथम तो श्रावकोंको सुनिर्मल अर्थात् भले प्रकार निर्मल और मेरुवत् निःकम्प अचल तथा चल मलिन अगाढ़ दूषणरहित अत्यंत निश्चल ऐसे सम्यक्त्वको ग्रहण करके दुःखका क्षय करने के लिये उसका अर्थात् सम्यग्दर्शन का (सम्यग्दर्शन के विषय) ध्यान करना।

भावार्थः––धावक पलि तो निरतिचार निश्चल सम्यक्त्वको ग्रहण करके उसका ध्यान करे, इस सम्यक्त्व की भावना से ग्रहस्थके गृहकार्य संबंधी आकुलता, क्षोभ, दुःख हेय है वह मिट जाता है, कार्य के बिगड़ने–सुधरने में वस्तुके स्वरूपका विचार

श्रमणार्थ जिन–उपदेश भाख्यो, श्रावकार्थ सुणो हवे,
संसारनुं हरनार शिव–करनार कारण परम अे। ८५।

ग्रही मेरूपर्वत–सम अकंप सुनिर्मळा सम्यक्त्वने,
हे श्रावको! दुःखनाश अर्थे ध्यानमां ध्यातव्य ते। ८६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आवे तब दुःख मिटता है। सम्यग्दृष्टिके इसप्रकार विचार होता है कि––वस्तुका स्वरूप सर्वज्ञने जैसा जाना है वैसा निरन्तर परिणमता है वही होता है, इष्ट–अनिष्ट मानकर दुःखी–सुखी होना निष्फल है। ऐसा विचार करने से दुःख मिटता है यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है, इसलिये सम्यक्त्वका ध्यान करना कहा है।। ८६।।

आगे सम्यक्त्वके ध्यान ही की महिमा कहते हैं:–––

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्त परिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि।। ८७।।

सम्यक्त्वं यः ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति सः जीवः।
सम्यक्त्व परिणतः पुनः क्षपयति दुष्टाष्ट कर्माणि।। ८७।।

अर्थः––जो श्रावक सम्यक्त्वका ध्यान करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है और सम्यक्त्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट जो आठ कर्म उनका क्षय करता है।

भावार्थः––सम्यक्त्वका ध्यान इसप्रकार है–––यदि पहिले सम्यक्त्व न हुआ हो तो भी इसका स्वरूप जानकर इसका ध्यान करे तो सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सम्यक्त्व होने पर इसका परिणाम ऐसा है कि संसारके कारण जो दुष्ट अष्ट कर्म उनका क्षय होता है, सम्यक्त्व के होते ही कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा होने लग जाती है, अनुक्रम से मुनि होने पर चारित्र और शुक्लध्यान इसके सहकारी हो जाते हैं, तब सन कर्मोंका नाश हो जाता है।। ८७।।

आगे इसको संक्षेप से कहते हैं:–––

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया त्तं जाणह सम्ममाहप्पं।। ८८।।

सम्यक्त्वने जे जीव ध्यावे ते सुदृष्टि होय छे,
सम्यक्त्वपरिणत वर्ततो दुष्टाष्टकर्मो क्षय करे। ८७।

बहु कथनथी शुं? नरवरो गत काळ जे सिद्धया अहो!
जे सिद्धशे भव्यो हवे, सम्यक्त्वमहिमा जाणवो। ८८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किं बहुना भणितेन ये सिद्धाः नरवराः गते काले।
सेत्स्यंति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यम्।। ८८।।

अर्थः––आचार्य कहते हैं कि–––बहुत कहने से क्या साध्य है, जो नरप्रधान अतीत कालमें सिद्ध हुए हैं और आगामी काल में सिद्ध होंगे वह सम्यक्त्वका महात्म्य जानो।

भावार्थः––इस सम्यक्त्वका ऐसा महात्म्य है कि जो अष्टकर्मों का नाशकर मुक्ति प्राप्त अतीतकाल में हुए है तथा आगामी होंगे वे इस सम्यक्त्वसे ही हुए हैं और होंगे, इसलिये आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या? यह संक्षेप से कहा जानो कि–––मुक्ति का प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है। ऐसा मत जानो कि गृहस्थके क्या धर्म है, यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है कि सब धर्मों के अंगों को सफल करता है।। ८८।।

आगे कहते हैं कि जो निरन्तर सम्यक्त्वका पालन करते हैं उनको धन्य है:–––

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं।। ८९।।

ते धन्याः सुकृतार्थाः ते शूराः तेऽपि पंडिता मनुजाः।
सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेऽपि न मलिनितं यैः।। ८९।।

अर्थः––जिन पुरुषों ने मुक्तिको करनेवाले सम्यक्त्व को स्वप्न अवस्था में भी मलिन नहीं किया, अतीचार नहीं लगाया उन पुरुषोंको धन्य है, वे ही मनुष्य हैं, वे ही भले कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित हैं।

भावार्थः––लोक में कुछ दानादिक करें उनको धन्य कहते हैं तथा विवाहादिक यज्ञादिक करते हैं उनको कृतार्थ कहते हैं, युद्धमें पीछा न लौटे उसको शूरवीर कहते हैं, बहुत शास्त्र पढ़े उसको पंडित कहते हैं। ये सब कहनेके हैं; जो मोक्ष के कारण सम्यक्त्वको मलिन नहीं करते हैं, निरतिचार पालते हैं उनको धन्य है, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित हैं, वे ही मनुष्य हैं, इसके बिना मनुष्य पशु समान है, इस प्रकार सम्यक्त्वका माहात्म्य कहा।।

आगे शिष्य पूछता है कि सम्यक्त्व कैसा है? उसका समाधान करने के लिये इस सम्यक्त्वके बाह्य चिन्ह बताते हैं:–––

नर धन्य ने, सुकृतार्थ ते, पंडित अने शूरवीर ते,
स्वप्नेय मलिन कर्युं न जेणे सिद्धिकर सम्यक्त्वने। ८९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं।। ९०।।

हिंसारहिते धर्मे अष्टादशदोषवर्जिते देवे।
निर्ग्रंथे प्रवचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम्।। ९०।।

अर्थः––हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रंथ प्रवचन अर्थात् मोक्षका मार्ग तथा गुरु इनमें श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है।

भावार्थः––लौकिकजन तथा अन्यमत वाले जीवोंकी हिंसासे धर्म मानते हैं और जिनमत में अहिंसा धर्म कहा है, उसी का श्रद्धान करे अन्यक श्रद्धान न करे वह सम्यग्दृष्टि है। लौकिक अन्यमत वाले मानते हैं वे सब देव क्षुधादि तथा रागद्वेषादि दोषोंसे संयुक्त हैं, इसलिये वीतराग सर्वज्ञ अरहंत देव सब दोषोंसे रहित हैं उनको देव माने, श्रद्धान करे वही सम्यग्दृष्टि है।

यहाँ अठारह दोष कहे वे प्रधानताकी अपेक्षा कहे हैं इनको उपलक्षणरूप जानना, इनके समान अन्य भी जान लेना। निर्ग्रंथ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग वही मोक्षमार्ग है, अन्यलिंग से अन्यमत वाले श्वेताम्बरादिक जैसाभास मोक्ष मानते हैं वह मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसा श्रद्धान करे वह सम्यग्दृष्टि है, ऐसा जानना।। ९०।।

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करेत हुए कहते हैं:–––

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंग परिचत्तं।
लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ वस्स सम्मत्तं।। ९१।।

हिंसासुविरहित धर्म, दोष अढार वर्जित देवनुं,
निर्ग्रंथ प्रवचन केरूं जे श्रद्धान ते समकित कह्युं। ९०।

सम्यक्त्व तेने, जेह माने लिंग परनिरपेक्षने,
रूपे यथ्थातक, सुसंयत, सर्वसंगविमुक्तने। ९१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यथाजातरूपरूपं सुसंयतं सर्वसंगपरित्यक्त्वम्।
लिंगं न परापेक्षं यः मन्यते तस्य सम्यक्त्वम्।। ९१।।

अर्थः––मोक्षमार्ग का लिंग भेष ऐसा है कि यथाजातरूप तो जिसका रूप है, जिसमें बाह्य परिग्रह वस्त्रादिक किंचित्मात्र भी नहीं है, सुसंयत अर्थात् सम्यक्प्रकार इन्द्रियों का निग्रह और जीवोंकी दया जिसमें पाई जाती है ऐसा संयम है, सर्व संग अर्थात् सबही परिग्रह तथा सब लौकिक जनोंकी संगति से रहित है और जिसमें परकी अपेक्षा कुछ नहीं है, मोक्षके प्रयोजन सिवाय अन्य प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है। ऐसा मोक्षमार्ग का लिंग माने–श्रद्धान करे उस जीवके सम्यक्त्व होता है।

भावार्थः––मोक्षमार्ग में ऐसा ही लिगं है, अन्य अनेक भेष हैं वे मोक्षमार्ग में नहीं हैं, ऐसा श्रद्धान करे उनके सम्यक्त्व होता है। यहाँ परापेक्ष नहीं है–––ऐसा कहने से बताया है कि–––ऐसा निर्ग्रंथ रूप भी जो किसी अन्य आशय से धारण करे तो वह भेष मोक्षमार्ग नहीं है, केवल मोक्ष ही की अपेक्षा जिसमें हो ऐसा हो उसको माने वह सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना।। ९१।।

आगे मिथ्यादृष्टि के चिन्ह कहते हैं:–––

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च बंदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु।। ९२।।

कुत्सितदेवं धर्मं कुत्सितलिंगं च वन्दते यः तु।
लज्जाभयगारवतः मिथ्यादृष्टिः भवेत् सः स्फुटम्।। ९२।।

अर्थः––जो क्षुधादिक और रागद्वेषादि दोषोंसे दूषित हो वह कुत्सित देव है, जो हिंसादि दोषोंसे सहित हो वह कुत्सित धर्म है, जो परिग्रहादि सहित हो वह कुत्सित लिंग है। जो इनकी वंदना करता है, पूजा करता है वह तो प्रगट मिथ्यादृष्टि है। यहाँ अब विशेष कहते हैं कि जो इनको भले–हित करने वाले मानकर वंदना करता है, पूजा करता है वह तो प्रगट मिथ्यादृष्टि है। परन्तु जो लज्जा, भय, गारण इन कारणोंसे भी वंदना करता है, पूजा करता है वह भी प्रगट मिथ्यादृष्टि है। लज्जा तो ऐसे कि––लोग इनकी वंदना करते हैं, हम नहीं पूजेंगे तो लोग हमको क्या कहेंगे? हमारी इस लोक में प्रतिष्ठा चली जायेगी, इसप्रकार लज्जा से वंदना व पूजा करे। भय ऐसे कि–––

जे देव कुत्सित, धर्म कुत्सित, लिंग कुत्सित वंदता,
भय, शरम वा गारव थकी, ते जीव छे मिथ्यात्वमां। ९२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसको राजादिक मानते हैं, हम नहीं मानेंगे तो हमारे ऊपर कुछ उपद्रव आ जायगा, इसप्रकार भय से वंदना व पूजा करे। गारव ऐसे कि हम बड़े हैं, महंत पुरुष हैं, सबही का सन्मान करते हैं, इन कार्यों से कमारी बड़ाई है, इस प्रकार गारव से वंदना व पूजना होता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के चिन्ह कहे हैं।। ९२।।

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि:---

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे।
मण्णइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो।। ९३।।

स्वपरापेक्षं लिंगं रागिणं देवं असंयतं वन्दे।
मानयति मिथ्यादृष्टि: न स्फुटं मानयति सुद्ध सम्यक्ती।। ९३।।

अर्थ:--स्वपरापेक्ष तो लिंग–आप कुछ लौकिक प्रयोजन मनमें धारणकर भेष ले वह स्वापेक्ष और किसी परकी अपेक्षा से धारण करे, किसी के आग्रह तथा राजादिकके भयसे धारण करे वह परापेक्ष है। रागी देव (जिसके स्त्री आदिका राग पाया जाता है) और संयमरहित को इसप्रकार कहे कि मैं वंदना करता हूँ तथा इनको माने, श्रद्धान करे वह मिध्यादृष्टि है। शुद्ध सम्यक्त्व होने पर न इनको मानता है, न श्रद्धान करता है और न वंदना व पूजन ही करता है।

भावार्थ:--ये ऊपर कहे इनसे मिथ्यादृष्टिके प्रीति भक्ति उत्पन्न होती है, जो निरतिचार सम्यक्त्ववान् है वह इनको नहीं मानता।। ९३।।

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो।। ९४।।

सम्यग्दृष्टि: श्रावक: धर्मं जिनदेव देशितं करोति।
विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टि: ज्ञातव्य:।। ९४।।

वंदन असंयत, रक्त देवो, लिंग सपरापेक्षने,
अे मान्य होय कुदृष्टिने, नहि शुद्ध सम्यग्दृष्टिने।९३।

सम्यक्त्वयुत श्रावक करे जिनदेवदेशित धर्मने;
विपरीत तेथी जे करे, कुदृष्टि ते ज्ञातव्य छे। ९४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थ:––जो जिनदेवसे उपदेशित धर्मला पालन करता है वह सम्यग्दृष्टि श्रावक है और जो अन्यमतके उपदेशित धर्मका पालन करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना।

भावार्थ:––इसप्रकार कहनेसे यहाँ कोई तर्क करे कि –यह तो अपना मत पुष्ट करने कीपक्षपातमात्र वार्त्ता कही, अब इसका उत्तर देते हैं कि–––ऐसा नहीं है, जिससे सब जीवोंका हित हो वह धर्म है ऐसे अहिंसारूप धर्मका जिनदेव ही ने प्ररूपण किया है, अन्यमत में ऐसे धर्मका निरूपण नहीं है, इसप्रकार जानना चाहये।। ९४।।

आगे कहते हैं कि जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह संसार में दुःख सहित भ्रमण करता है:–––

मिच्छादिट्ठि जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ।
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो।। ९५।।

मिथ्यादृष्टि: य: स: संसारे संसरति सुखरहित:।
जन्मजरामरणप्रचुरे दु:खसहस्राकुल: जीव:।। ९५।।

अर्थ:––जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह जन्म–जरा–मरणसे प्रचुर और हजारों दुःखोंसे व्याप्त इस संसार में सुखरहित दुःखी होकर भ्रमण करता है।

भावार्थ:––मिथ्यात्व भाव का फल संसार में भ्रमण करना ही है, यह संसार जनम–जरा–मरण आदि हजारों दुःखों से भरा है, इन दुःखोंको मिथ्यादृष्टि इस संसार में भ्रमण करता हुआ भोगता है। यहाँ दुःख तो अनन्त हैं हजारों कहने से प्रसिद्ध अपेक्षा बहुलता बताई है।। ९५।।

आगे सम्यक्त्व–मिथ्यात्व भावके कथनका संकोच करते हैं:–––

सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु।
जं ते मणस्स रूच्चइ किं बहुणा पलविएणं त्तु।। ९६।।

कुदृष्टि जे, ते सुखविहीन परिभ्रमे संसारमां,
जर–जन्म–मरण प्रचुरता, दुःखगणसहस्र भर्या जिहां। ९५।

'सम्यक्त्व गुण, मिथ्यात्व दोष' तुं अेम मन सुविचारीने,
कर ते तने जे मन रूचे; बहु कथन शुं करवुं अरे? ९६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यक्त्वे गुण मिथ्यात्वे दोषः मनसा परिभाव्य तत् कुरु।
यत् ते मनसे रोचते किं बहुना प्रलपितेन तु।। ९६।।

अर्थः––हे भव्य! ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वके गुण और मिथ्यात्व के दोषों की अपने मनसे भावना कर और जो अपने मन को रुचे–प्रिय लगे वह कर, बहुत प्रलापरूप कहने से क्या साध्य है? इसप्रकार आचार्य ने उपदेश दिया है।

भावार्थः––इसप्रकार आचार्य ने कहा है कि बहुत कहने से क्या? सम्यकत्व–मिथ्यात्वके गुण–दोष पूर्वोक्त जानकर जो मनमें रुचे, वह करो। यहाँ उपदेशका आशय ऐसा है कि मिथ्यात्व को छोड़ो सम्यक्त्वको ग्रहण करो, इससे संसारका दुःख मेटकर मोक्ष पाओ।। ९६।।

आगे कहते हैं कि यदि मिथ्यात्वभाव नहीं छोड़ा तब बाह्य भेष से कुछ लाभ नहीं है:––
–

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो।
किं तस्य ठाणमउणं ण वि जाणादि अप्पसमभावं।। ९७।।

बहिः संगविमुक्तः नापि मुक्तः मिथ्याभावेन निर्ग्रंथः।
किं तस्य स्थानमौनं न अपि जानाति आत्मसमभावं।। ९७।।

अर्थः––जो बाह्य परिग्रह रहित और मिथ्याभावसहित निर्ग्रन्थ भेष धारण किया है वह परिग्रह रहित नहीं है, उसके ठाण अर्थात् खड़े होकर कायोत्सर्ग करने से क्या साध्य है? और मौन धारण करने से क्या साध्य है? क्योंकि आत्माका समभाव जो वीतराग–परिणाम उसको नहीं जानता है।

भावार्थः––आत्मा के शुद्ध स्वभावको जानकर सम्यग्दृष्टि होता है। और जो मिथ्याभाव सहित परिग्रह छोड़कर निर्ग्रंथ भी हो गया है, कायोत्सर्ग करना, मौन धारण करना इत्यादि बाह्य क्रियायें करता है तो उसकी क्रिया मोक्षमार्ग में सराहने

---

१ पाठान्तरः –– अप्पसभावं।
२ पाठान्तरः –– आत्मस्वभावं।

निर्ग्रंथ, बाह्य असंग, पण नहि त्यक्त मिथ्याभाव ज्यां,
जाणे न ते समभाव निज; शुं स्थान–मौन करे तिहां? ९७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

योग्य नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना बाह्यक्रिया का फल संसार ही है।। ९७।।

आगे आशंका उत्पन्न होती है कि सम्यक्त्व बिना बाह्यलिंग निष्फल कहा, जो बाह्यलिंग मूलगुण बिगाड़े उसके सम्यक्त्व रहता या नहीं? इसका समाधान कहते हैं:---

मूलगुणं छिलूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंग विराहगो णियटं।। ९८।।

मूलगुणं छित्वा च बाह्यकर्म करोति यः साधुः।
सः न लभते सिद्धिसुखं जिणलिंग विराधकः नियतं।। ९८।।

अर्थः--जो मुनि निग्रर्थ होकर मूलगुण धारण करता है, उनका छेदनकर, बिगाड़कर केवल बाह्यक्रिया – कर्म करता है वह सिद्धि अर्थात् मोक्षके सुख को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि ऐस मुनि निश्चय से जिनलिंग विराधक है।

भावार्थः--जिन आज्ञा ऐसी है कि ---सम्यक्त्वसहित मूलगुण धारण अन्य जो साधु क्रिया हैं उनको करते हैं। मूलगुण अट्ठाईस कहे हैं:-- पाँच महाव्रत, पाँच समिति, इन्द्रियोंका निरोध ५, छह आवश्यक ६, भूमिशयन १, स्नानका त्याग ५, वस्त्रका त्याग १, केशलोच १, एकबार भोजन १, खड़ा भोजन १, दंतधोवनका त्याग १, इसप्रकार अट्ठाईस मूलगुण हैं, इनकी विराधना करके कायोत्सर्ग मौन तप ध्यान अध्ययन करता है तो इन क्रियाओंसे मुक्ति नहीं होती है। जो इसप्रकार श्रद्धान करे कि ---हमारे सम्यक्त्व तो है ही, बाह्य मूलगुण बिगड़े तो बिगड़ो, हम मोक्षमार्गी ही हैं---तो ऐसी श्रद्धानसे तो जिन-आज्ञा भंग करने से सम्यक्त्वका भी भंग होता है तब मोक्ष कैसे हो; और [तीव्र कषायवान हो जाय तो] कर्म के प्रबल उदयसे चारित्र भ्रष्ट हो। और यदि जिन-आज्ञाके अनुसार श्रद्धान रहे तो सम्यक्त्व रहता है किन्तु मूलगुण बिना केवल सम्यक्त्व ही से मुक्ति नहीं है और सम्यक्त्व बिना केवल मूलगुण बिना केवल क्रिया ही से मुक्ति नहीं है, ऐसे जानना।

प्रश्नः---मुनिके स्नान का त्याग कहा और हम ऐसे भी सुनते हैं कि यदि चांडाल आदिका स्पर्श हो जावे तो दंडस्नान करते हैं।

समाधानः--- जैसे गृहस्थ स्नान करता है वैसे स्नान करने का त्याग है, क्योंकि

જે મૂળગુણને છેદીને મુનિ બાહ્યકર્મો આચરે,
પામે ન શિવસુખ નિશ્ચયે જિન કથિત-લિંગ-વિરાધને। ૯૮।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसमें हिंसाकी अधिकता है, मुनिके स्नान ऐसा है––कमंडलु में प्रासुक जल रहता है उससे मंत्र पढ़कर मस्तकपर धारामात्र देते हैं और उस दिन उपवास करते हैं तो ऐसा स्नान तो नाममात्र स्नान है, यहाँ मंत्र और तपस्नान प्रधान है, जल स्नान प्रधान नहीं है, इस प्रकार जानना।। ९८।।

आगे कहते हैं कि जो आत्मस्वभाव से विपरीत बाह्य क्रियाकर्म है वह क्या करे? मोक्ष मार्ग में तो कुछ भी कार्य नहीं करते हैं:–––

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो।। ९९।।

किं करिष्यति बहि: कर्म किं करिष्यति बहुविधं च क्षमणं तु।
किं करिष्यति आताप: आत्मस्वभावात् विपरीत:।। ९९।।

अर्थ:––आत्मस्वभाव के विपरीत, प्रतिकूल बाह्यकर्म को क्रियाकाड़ वह क्या करगा? कुछ मोक्ष का कार्य तो किंचित्मात्र भी नहीं करेगा, बहुत अनेक प्रकार क्षमण अर्थात् उपवासादि बाह्य तप भी क्या करेगा? कुछ भी नहीं करेगा, आतापनयोग आदि कायक्लेश क्या करगा? कुछ भी नहीं करगा।

भावार्थ:––बाह्य क्रिया कर्म शरीराश्रित है और शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है, जड़ की क्रिया तो चेतन को कुछ फल करती नहीं है, जैसा चेतनाका भाव जितना क्रिया में मिलता है उसका फल चेतनाको लगता है। चेतनाका अशुभ उपयोग मिले तब अशुभकर्म बँधे और शुभोपयोग मिले तब शुभ कर्म बँधता है और जब शुभ–अशुभ दोनों से रहित उपयोग होता है तब कर्म नहीं बँधता है, पहिले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष करता है। इसप्रकार चेतना उपयोग के अनुसार फलती है, इसलिये ऐसे कहा है कि बाह्य क्रियाकर्मसे तो कुछ होता नहीं है, शुद्ध उपयोग होने पर मोक्ष होता है। इसलिये दर्शन–ज्ञान उपयोगोंका विकार मेट कर शुद्ध ज्ञानचेतनाका अभ्यास करना मोक्ष का उपाय है।। ९९।।

आगे इसी अर्थको फिर विशेषरूप से कहते हैं:–––

बहिरंग कर्मो शुं करे? उपवास बहुविध शुं करे?
रे! शुं करे आतापना? आत्मस्वभावविरूद्ध जे। ९९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जदि पढदि बहु सुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं च चारित्तं।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं।।१००।।

यदि पठति बहुश्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविधं च चारित्रं।
तत् बालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम्।।१००।।

अर्थः––जो आत्मसवभावसे विपरीत बाह्य बहुत शास्त्रोंको पढ़गा ओर बहुत प्रकारके चारित्रका आचरण करेगा तो वह सब ही बालश्रुत और बालचारित्र होगा। आत्मस्वभावसे विपरीत शास्त्रका पढ़ना और चारित्रका आचरण करना ये सब ही बालश्रुत और बालचारित्र हैं , अज्ञानी की क्रिया है, क्योंकि ग्यारह अंग और नो पूर्व तक तो अभव्य जीव भी पढ़ता है, और बाह्य मूलगुणरूप चारित्र पालता है तो भी मोक्ष योग्य नहीं है, इसप्रकार जानना चाहिये।। १००।।

आगे कहते हैं कि ऐसा साधु मोक्ष पाता है:–––

वेरग्गपरो साहु परदव्वपरम्मुहो य जो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्ध सुहसु अणुरत्तो।।१०१।।

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं।।१०२।।

पुष्कळ भणे श्रुतने भले, चारित्र बहुविध आचरे,
छे बालश्रुत ने बाळचारित, आत्मथी विपरीत जे। १००।

जे साधु छे वैराग्यपर ने विमुख परद्रव्यो विषे,
भवसुखविरक्त, स्वकीयशुद्ध सुखो विषे अनुरक्त जे। १०१।

आदेयहेय–सुनिश्चयी, गुणगणविभूषित–अंग जे,
ध्यानाध्ययनरत जेह, ते मुनि स्थान उत्तमने लहे, १०२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वैराग्यपरः साधुः परद्रव्यपराङ्मुखश्च यः भवति।
संसारसुखविरक्तः स्वकशुद्धसुखेषु अनुरक्तः।। १०१।।

गुणगणविभूषितांगः हेयोपादेयनिश्चितः साधुः।
ध्यानाध्ययने सुरतः सः प्राप्नोति उत्तमं स्थानम्।। १०२।।

अर्थः--ऐसा साधु उत्तम स्थान जो मोक्ष उसकी प्राप्ति करता है अर्थात् जो साधु वैराग्य तत्पर हो संसार–देह–भोगोंसे पहिले विरक्त होकर मुनि हुआ उसी भावना युक्त हो, परद्रव्यसे पराङ्मुख हो, जैसे वैराग्य हुआ वैसे ही परद्रव्यका त्याग उससे पराङ्मुख रहे, संसार संबंधी इन्द्रियोंसे द्वारा विषयों से सुखसा होता है उससे विरक्त हो, अपने आत्मीक शुद्ध अर्थात् कषायोंके क्षोभ से रहित निराकुल, शांतभावरूप ज्ञानानन्द में अनुरक्त हो, लीन हो, बारंबार उसी की भावना रहे।

जिसका आत्मप्रदेशरूप अंग गुणसे विभूषित हो, जो मूलगुण, उत्तरगुणों से आत्माको अलंकृत–शोभायमान किये हो, जिसके हेय–उपादेय तत्त्व का निश्चय हो, निज आत्मद्रव्य तो उपादेय है और ऐसा जिसके निश्चय हो कि---अन्य परद्रव्यके निमित्त से हुए अपने विकारभाव ये सब हेय हैं। साधु होकर आत्माके स्वभाव के साधने में भली भाँति तत्पर हो, धर्म–शुक्लध्यान और अध्यात्मशास्त्रों को पढ़कर ज्ञानकी भावना में तत्पर हो, सुरत हो, भले प्रकार लीन हो। ऐसा साधु उत्तमस्थान जो लोकशिखर पर सिद्धक्षेत्र तथा मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानोंसे परे शुद्धस्वभावरूप मोक्षस्थान को पाता है।

भावार्थः--मोक्षके साधने के ये उपाय हैं अन्य कुछ नहीं हैं।। १०१–१०२।।

आगे आचार्य कहते हैं कि सर्वसे उत्तम पदार्थ शुद्ध आत्मा है, वह देहमें ही रह रहा है उसको जानोः---

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह।। १०३।।

नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम्।
स्तूयमानैः स्तूयते देहस्थं किमपि तत् जानीत।। १०३।।

प्रणमे प्रणत जन, ध्यात जन ध्यावे निरंतर जेहने,
तुं जाण तत्त्व तनस्थ ते, जे स्तवनप्राप्त जनो स्तवे। १०३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––हे भव्यजीवों! तुम इस देहमें स्थित ऐसा कुछ क्यों है, क्या है उसे जानो, वह लोक में नमस्कार करने योग्य इन्द्रादिक हैं उनसे तो नमस्कार करने योग्य, ध्यान करने योग्य है और स्तुति केने योग्य जो तीर्थंकरादि हैं उनसे भी स्तुति करने योग्य है, ऐसा कुछ है वह इस देह ही में स्थित है उसको यथार्थ जानो।

भावार्थः–– शुद्ध परमात्मा है वह यद्यपि कर्मसे आच्छादित है, तो भी भेदज्ञानी इस देह ही में स्थित का ध्यान करके तीर्थंकरादि भी मोक्ष प्राप्त करते हैं, इसलिये ऐसा कहा है कि–– लोक में नमने योग्य तो इन्द्रादिक हैं और ध्यान करने योग्य तीर्थंकरादिक हैं तथा स्तुति करने योग्य तीर्थंकरादिक हैं वे भी जिसको नमस्कार करते हैं, जिसका ध्यान करते हैं स्तुति करते हैं ऐसा कुछ वचनके अगोचर भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर परमात्म वस्तु है, उसका स्वरूप जानो, उसको नमस्कार करो, उसका ध्यान करो, बाहर किसलिये ढूंढते हो इसप्रकार उपदेश है।। १०३।।

आगे आचार्य कहते हैं कि जो अरहंतादिक पंच परमेष्ठी हैं वे भी आत्मामें ही हैं इसलिये आत्मा ही शरण है:–––

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। १०४।।

अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंच परमेष्टिनः।
ते अपि स्फुटं तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा स्फुटं मे शरणं।। १०४।।

अर्थः––अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पंचपरमेष्ठी हैं ये भी आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, आत्माकी अवस्था हैं, इसलिये मेरे आत्माही का शरण है, इसप्रकार आचार्य ने अभेदनय प्रधान करके कहा है।

भावार्थः––ये पाँच पद आत्मा ही के हैं, जब यह आत्मा घातिकर्मका नाश करता है तब अरहंतपद होता है, वही आत्मा अघातिकर्मोंका नाश कर निर्वाण को प्राप्त होता है तब सिद्धपद कहलाता है, जब शिक्षा–दीक्षा देनेवाला मुनि होता है तब आचार्य कहलाता है, पठन–पाठनमें तत्पर मुनि होता है तब अपाध्याय कहलाता है और जन रत्नत्रयस्वरूप
मोक्षमार्ग को केवल साधता है तब साधु कहलाता है, इसप्रकार पाँचों पद आत्मा ही में हैं।

अर्हंत–सिद्धाचार्य–अध्यापक–श्रमण–परमेष्टी जे,
पांचेय छे आत्मा महीं; आत्मा शरण मारूं खरे। १०४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सो आचार्य विचार करते हैं कि जो इस देहमें आत्मा स्थिति है सो यद्यपि [स्वयं]कर्म आच्छादित है तो भी पाँचों पदोंके योग्य हैं, इसीके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करना पाँचों पदोंका ध्यान है, इसलिये मेरे इस आत्माही का शरण है ऐसी भावना की है पँचपरमेष्ठी का ध्यान रूप अंतमंगल बताया है।। १०४।।

आगे कहते हैं कि जो अंतसमाधिमरण में चार आराधना का आराधन कहा है यह भी आत्मा ही की चेष्टा है, इसलिये आत्मा ही का मेरे शरण है:---

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चैव।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।। १०५।।

सम्यक्त्वं सइज्ञानं सच्चारित्रं हि सत्तपः चैव।
चत्वारः तिष्ठंति आत्मनि तस्मादात्मा स्फुटं मे शरणं।। १०५।।

अर्थः--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यक तप ये चार आराधन हैं, ये भी आत्मामें ही चेष्टारूप हैं, ते चारों आत्मा ही की अवस्था है, इसलिये आचार्य कहते हैं कि मेरे आत्मा ही का शरण है।। १०५।[भगवती आताधना गाथा नं० २]

भावार्थः--आत्माका निश्चय-व्यवहारात्मक तत्त्वार्थश्रद्धानरूप परिणाम सम्यग्दर्शन है, संशय विमोह विभ्रम रहित और निश्चयुव्वहार से निजस्वरूप का यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञानसे तत्त्वार्थोंको जानकर रागद्वेषादिक रहित परिणाम होना सम्यक्चारित्र है, अपनी शक्ति अनुसार सम्यग्ज्ञानपूर्वक कष्टका ादर कर स्वरूपका साधना सम्यक्तप है, इसप्रकार ये चारों ही परिणाम आत्मा के हैं, इसलिये आचार्य कहते हैं कि मेरे आत्मा ही का शरण है, इसी की भावना में चारों आ गये।

अंतसल्लेखना में चार आराधना का आराधन कहा है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चारों का उद्योत, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण ऐसे पंचप्रकार आराधना कही है, वह आत्मा को भाने में (- आत्माकी भावना-एकाग्रता करने में) चारों आ गये, ऐसे अंतसल्लेखना की भावना इसी में आ गई ऐसे जानना तथा आत्मा ही परममंगलरूप है ऐसा भी बताया है।। १०५

आगे यह मोक्षपाहुड ग्रंथ पूर्व किया, इसके पढ़ने सुनने भाने का फल कहते हैं:---

---

सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान, सत्चारि५, सत्तप चरण जे,
चारेय छे आत्मा महीं; आत्मा शरण मारूं खरे। १०५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए।
जे पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं।। १०६।।

एवं जिनप्रज्ञप्तं मोक्षस्य च प्राभृतं सुभक्त्या।
यः पठति श्रृणोति भावयति सः प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यं।। १०६।।

अर्थः––पूर्वोक्त प्रकार जिनदेव के कहे हुए मोक्षपाहुड ग्रंथ को जीव भक्ति–भावसे पढ़ते हैं, इसकी बारंबार चिंतवनरूप भावना करते हैं तथा सुनते हैं, वे जीव शाश्वत सुख, नित्य अतीन्द्रिय ज्ञानानंदमय सुख को पाते हैं।

भावार्थः––मोक्षपाहुड मेह मोक्ष और मोक्षके कारण का स्वरूप कहा है और जो मोक्ष के कारण का स्वरूप अन्य प्रकार मानते हैं उनका निषेध किया है, इसलिये इस ग्रंथ के पढ़ने , सुनने से उसके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान–श्रद्धान आचरण होता है, उस ध्यान से कर्म का नाश होता है और इसकी बारंबार भावना करने से उसमें दृढ़ होकर एकाग्रध्यान की सामर्थ्य होती है, उस ध्यानसे कर्मका नाश होकर शाश्वत सुखरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिये इस ग्रंथको पढ़ना–सुनना निरन्तर भावना रखनी ऐसा आशय है।। १०६।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने यह मोक्ष पाहुड ग्रंथ संपूर्ण किया। इसका संक्षेप इस प्रकार है कि ––यह जवि शुद्ध दर्शनज्ञानमयी चेतनारूप है तो भी अनादि ही से पुद्गल कर्मके संयोग से अज्ञान मिथ्यात्व राग–द्वेषादिक विभावरूप परिणमता है इसलिये नवीन कर्मबंधके संतानसे संसार में भ्रमण करता है। जीवकी प्रवृत्ति के सिद्धांत में सामान्यरूप से चोदह गुणस्थान निरूपण किये हैं–––इनमें मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है , मिथ्यात्वकी सहकारिणी अनंतानुबंधी कषाय है, केवल उसके उदय से सासादन गुणस्थान होता है और सम्यक्त्व–मिथ्यात्व दोनोंके मिलापरूप मिश्रप्रकृति के उदय से मिश्रगुणस्थान होता है, इन तीन गुणस्थानों में तो आत्मभावना का अभाव ही है।

---

१ पाहुड का पाठान्तर 'कारण' है, सं० छाया में भी समझ लेना।

आ जिननिरूपित मोक्षप्राभृत शास्त्रने सद्भक्तिओ,
जे पठन–श्रवण करे अने भावे, लहे सुख नित्यने। १०६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जब *कालल्बधिके निमित्त से जीवाजीव पदार्थों का ज्ञान–श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है तब इस जीव को अपना और परका, हित–अहित का तथा हेय–उपादेय का जानना होता है तब आत्मा की भावना होती है तब अविरत नाम चौथा गुणस्थान होता है। जब एकदेश परद्रव्य से निवृत्ति का परिणाम होता है तब जो एकदेश चारित्ररूप पाँचवाँ गुणस्थान होता है उसको श्रावक पद कहते हैं। सर्वदेश परद्रव्य से निवृत्तिरूप परिणाम हो तब सकलचारित्ररूप छट्ठा गुणस्थान होता है, इसमें कुछ संज्वलन चारित्रमोह के तीव्र उदय से स्वरूप के साधन में प्रमाद होता है, इसलिये इसका नाम प्रमत्त है, यहाँ से लगाकर ऊपरके गुणस्थान वालों को साधु कहते हैं।

[* स्वसन्मुखतारूप निज परिणाम की प्राप्ति का नाम ही उपादानरूप निश्चयकालब्धि है, वह हो तो उस समय बाह्य द्रव्य – क्षेत्र – कालादि चित सामग्री निमित्त है–––उपचार कारण है, अन्यथा उपचार भी नहीं।]

जब संज्वलन चारित्रमोहका मंद उदय होता है तब प्रमादका अभाव होकर स्वरूपके साधने में बड़ा उद्यम होता है तब इसका नाम अप्रमत्त ऐसा सातवाँ गुणस्थान है, इसमें धर्मध्यान की पूर्णता है। जब इस गुणस्थान में स्वरूप में लीन हो तब सातिशय अप्रमत्त होता है। श्रेणी का प्रारम्भ करता है, तब इससे ऊपर चारित्रमोहका अव्यक्त उदयरूप अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय नाम धारक ये तीन गुणस्थान होते हैं। चौथे से लगाकर दसवें सूक्ष्मसांपराय तक कर्म की निर्जरा विशेषरूप से गुणश्रेणीरूप होती है।

इससे ऊपर मोहकर्म के आभावरूप ग्यारहवाँ, बारहवाँ, उपशांतकषाय, क्षीणकषाय गुणस्थान होते हैं। इसके पीछे शेष तीन घातिया कर्मोंका नाश कर अनंतचतुष्टय प्रगट होकर अरहंत होता है यह संयोगी जिन नाम गुणस्थान है, यहाँ योग की प्रवृत्ति है। योगोंका निरोधकर अयोगी जिन नामका चौदहवाँ गुणस्थान होता है, यहाँ अघातिया कर्मों का भी नाश करके लगता ही अनंतर समयमें निर्वाण पद को प्राप्त होता है, यहाँ संसार के अभावसे मोक्ष नाम पाता है।

इसप्रकार सब कर्मों का अभावरूप मोक्ष होता है, इसके कारण सम्यग्दर्शन – ज्ञान – चारित्र कहे, **इनकी प्रवृत्ति चौथे गुणस्थानसे सम्यक्त्व प्रगट होने पर एकदेश होती है,** यहाँ से लगाकर आगे जैसे जैसे कर्मका अभाव होता है वैसे वैसे सम्यग्दर्शन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आदि की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, जब घाति कर्मका अभाव होता है तब तेरहवें गुणस्थान में अरहंत होकर जीवन मुक्त कहलाते हैं ओर चौदहवें गुणस्थान के अंत में रत्नत्रय की पूर्णता होती है, इसलिये अघाति कर्मका भी नाश होकर अभाव होता है तब साक्षात मो सिद्ध कहलाते हैं।

इसप्रकार मोक्षका ओर मोक्षके कारण स्वरूप जिन–आगम से जानकर और सम्यगदर्शन – ज्ञान– चारित्र मोक्ष के कारण कहे हैं इनको निश्चय–व्यवहाररूप यथार्थ जानकर सेवन करना। तप भी मोक्षका कारण है उसे भी चारित्र में अंतर्भूत कर त्रयात्मक ही कहा है। इसप्रकार इन कारणोंसे प्रथम तो तद्भव ही मोक्ष होता है। जबतक कारणकी पूर्णता नहीं होती है उससे पहिले कदाचित् आयुकर्म की पूर्णता हो जाय तो स्वर्ग में देव होता है, वहाँ भी यह वांछा रहती है यह * शुभोपयोग का अपराध है, यहाँ से चय कर मनुष्य होऊँगा तब सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का सेवन कर मोक्ष प्राप्त करूँगा, ऐसी भावना रहती है तब वहाँ से चय के मोक्ष पाता है। [* पुरुषार्थ सिद्धि – उपाय श्लोक नं० २२० 'रत्नत्रयरूप धर्म है वह निर्वाणका ही कारण है और उस समय पुण्यका आस्रव होता है वह अपराध शुभोपयोगका कारण है।']

अभी इस पंवम काल में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्री का निमित्त नहीं है इसलिये तद्भव मोक्ष नहीं है, तो भी जो रत्नळय का शुद्धतापूर्वक पालन करे तो यहाँ से देव पर्याय पाकर पीछे मनुष्य होकर मोक्ष पाता है। इसलिये यह उपदेश है – जैसे बने वैसे रत्नत्रयकी प्राप्ति उपाय करना, इसमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है इसका उपाय तो अवश्य चाहिये इसलिये जिनागम को समझकर सम्यक्त्वका उपाय करना योग्य है, इसप्रकार इस ग्रंथका संक्षेप जानो।

❊ छप्पन ❊

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवकरण जानूं,
ते निश्चय ग्रवहाररूप नीकै लखि मानूं।
सेवो निशदिन भक्तिभाव धरि निजबल सारू,
जिन आज्ञा सिर धारि अन्यमत तजि अधकारू।।

ईस मानुषभवकूं पायकै अन्य चारित मति धरो,
भविजीवनिकूं उपदेश यह गहिकरि शिवपद संचरो।। १।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहा

वंदूं मंगलरूप जे अर मंगल करनार
पंच परम गुरु पद कमल ग्रंथ अंत हतिकार।। २।।

यहाँ कोई पूछे ––कि ग्रंथोंमें जहाँ तहाँ, पंच णमोकार की महिमा बहुत लिखी है, मंगलकार्य में विघ्नको दूर करने के लिये इसे ही प्रधान कहा है और इसमें पंच–परमेष्ठी को नमस्कार है वह पंचपरमेष्ठी की प्रधानता हुई, पंचपरमेष्ठी को परम गुरु कहे इसमें इसी मंत्र की महिमा तथा मंगलरूपपना और इससे विघ्न का निवारण, पंच–परमेष्ठी के प्रधानपना और गुरुपना तथा नमस्कार करने योग्यपना कैसे है? वह कहो।

इसके समाधानरूप कुछ लिखते हैं:–––प्रथम तो पंचणमोकार मंत्र है, इसके पैंतीस अक्षर हैं, ये मंत्र के बीजाक्षर हैं तथा इनका योग सब मंत्रोंसे प्रधान है, इन अक्षरोंका गुरु आम्नाय से शुद्ध उच्चारण हो तथा साधन यथार्थ हो तब ये अक्षर कार्य में विघ्न के दूर करने में कारण हैं इसलिये मंगलरूप हैं। 'म' अर्थात् पाप को गाले उसे मंगल कहते हैं तथा 'मंग' अर्थात् सुख को लावे, दे, उसको मंगल कहते हैं, इससे दोनों कार्य होते हैं। उच्चारण के विघ्न टलते हैं, अर्थ का विचार करने पर सुख होता है, इसी से इसको मंत्रों में प्रधान कहा है, इसप्रकार तो मंत्र के आश्रय महिमा है।

पंचपरमेष्ठी को नमस्कार इसमें है–––वे पंचपरमेष्ठी अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु ये हैं, इनका स्वरूप तो ग्रंथों में प्रसिद्ध है, तो भी कुछ लिखते हैं:–––यह अनादिनिधन अकृत्रिम सर्वज्ञ की परम्परा से आगम में कहा है ऐसा षद्द्रव्य स्वरूप लोक है, जिसमें जीवद्रव्य अनंतानंत हैं और पुद्गल द्रव्य इसके अनंतानंत गुणे हैं, एक–एक धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य हैं और कालद्रव्य असंख्यात द्रव्य हैं। जीव तो दर्शन–ज्ञानमयी चेतना स्वरूप है। अजीव पाँच हैं ये चेतना रहित जड़ हैं––धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो जैसे हैं वैसे ही रहते हैं, इनके विकार परिणति नहीं है, जीव पुद्गल द्रव्य के परस्पर निमित्त – नैमित्तिकभाव से विभाव परिणति है, इसमें भी पुद्गल तो जड़ है, इसके विभाव परणिति का दु:ख–सुख का वेदन नहीं है और जीव चेतन है इसके दु:ख – सुख का वेदन है।

जीव अनंतानंत हैं इसमें कई तो संसारी हैं, कई संसार से निवृत्त होकर सिद्ध हो चुके हैं। संसारी जीवों में कई तो अभव्य हैं तथा अभव्य के समान हैं ये दोनों जाति के संसार के निवृत्त कभी नहीं होते हैं, इसके संसार अनादि निधन है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कई भव्य हैं, ये संसार से निवृत्त होकर सिद्ध होते हैं, इसप्रकार जीवों की व्यवस्था है। अब इनके संसार की उत्पत्ति कैसे है वह कहते हैं:---

जीवों के ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का अनादिबंधरूप पर्याय है, इस बंध के उदय के निमित्त से जीव रागद्वेष मोहादि विभावपरिणतिरूप परिणमता है, इस विभाव परिणति के निमित्त से नवीन कर्मबंध होता है, इसप्रकार इनके संतान परम्परा से जीव के चतुर्गतिरूप संसार की प्रवृत्ति होती है, इस संसार में चारों गतियोंमें अनेक प्रकार सुख-दुःखरूप भ्रमण हुआ करता है; तब कोई काल ऐसा आवे जब मुक्त होना निकट हो तब सर्वज्ञ के उपदेश का निमित्त पाकर अपने स्वरूप को और कर्मबंधके स्वरूप को, अपने भीतरी विभाव के स्वरूप को जाने इनका भेदविज्ञान हो, तब परद्रव्य को संसार का निमित्त जानकर इससे विरक्त हो, अपने स्वरूप के अनुभव का साधन करे--दर्शन-ज्ञानरूप स्वभाव में स्थिर होने का साधन करे तब इसके बाह्य साधन हिंसादिक पंच पापों का त्यागरूप निर्ग्रंथ पद, --सब परिग्रह की त्यागरूप निर्ग्रंथ दिगम्बर मुद्रा धारण करे, पाँच महाव्रत, पाँच समितिरूप, तीन गुप्तिरूप प्रवर्ते तब सब जीवों पर दया करनेवाला साधु कहलाता है।

इसमें तीन पद होते हैं---जो आप साधु होकर अन्यको साधुपदकी शिक्षा-दीक्षा दे वह आचार्य कहलाता है, साधु होकर जिनसूत्र को पढ़े पढ़ावे वह उपाध्याय कहलाता है, जो अपने स्वरूपके साधन में रहे वह साधु कहलाता है, जो साधु होकर अपने स्वरूप के साधन के ध्यानके बलसे चार घातिया कर्मोंका नाश कर केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख ओर अनन्तवीर्य को प्राप्त हो वह अरहंत कहलाता है, तब तीर्थंकर तथा सामान्यकेवली--जिन इन्द्रादिकसे पूज्य होता है, इनकी वाणी खिरती है, जिससे सब जीवों का उपकार होता है, अहिंसा धर्म का उपदेश होता है, सब जीवों की रक्षा कराते हैं यथार्थ पदार्थों का स्वरूप बताकर मोक्षमार्ग दिखाते हैं, इसप्रकार अरहंत पद होता है और जो चार अघातिया कर्मों का भी नाशकर सब कर्मों से रहित हो जातें हैं वह सिद्ध कहलाते हैं।

इसप्रकार ये पाँच पद हैं, ये अन्य सब जीवोंसे महान हैं इसलिये पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं, इनके नाम तथा स्वरूपके दर्शन, स्मरण, ध्यान, पूजन नमस्कार से अन्य जीवों के शुभ परिणाम होते हैं इसलिये पाप का नाश होता है, वर्तमान विघ्नका विलय होता है आगामी पुण्य का बंध होता है, इसलिये स्वर्गादिक शुभगति पाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इनकी अज्ञानुसार प्रवर्तनसे परंपरासे संसार से निवृत्ति भी होती है, इसलिये ये पाँच परमेष्ठी सब जीवों के उपकारी परमगुरु हैं, सब संसारी जीवों से पूज्य हैं। इनके सिवाय अन्य संसारी जीव रागद्वेष मोहादि विकारों से मलिन हैं, ये पूज्य नहीं है, इनके महानपना, गुरुपना, पूज्यपना नहीं है, आप ही कर्मोंके वश मलिन हैं तब अन्यका पाप इनसे कैसे कटे?

इसप्रकार जिनमत में इन पंच परमेष्ठी का महानपना प्रसिद्ध है और न्यायके बल से भी ऐसा ही सिद्ध होता है, क्योंकि जो संसार के भ्रमण से रहित हों वे ही अन्य के संसारका भ्रमण मिटाने को कारण होते हैं। जैसे जिसके पास धनादि वस्तु हो वही अन्यको धनादिक दे और आप दरिद्री हो तब अन्य की दरिद्रता कैसे मेटे, इसप्रकार जानना। जिनको संसार के दुख मेटने हों और संसारभ्रमणके दुःखरूप जन्म–मरण से रहित होना हो वे अरहंतादिक पंच परमेष्ठी का नाम मंत्र जपो, इनके स्वरूप का दर्शन, स्मरण, ध्यान करो, इससे शुभ परिणाम होकर पापका नाश होता है, सब विघ्न टलते हैं, परंपरा से संसारका भ्रमण मिटता है, कर्मोंका नाश होकर मुक्तिकी प्राप्ति होती है, ऐसा जिनमतका उपदेश है अतः भव्य जीवों के अंगीकार करने योग्य है।

यहाँ कोई कहे—— अन्यमत में ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिक इष्टदेव मानते हैं उनके भी विघ्न टलते देखे जाते हैं तथा उनके मत में राजादि बड़े–बड़े पुरुष देखे जाते हैं, उनके भी वे इष्ट विघ्नादिक को मेटानेवाले हैं ऐसे ही तुम्हारे भी कहते हो, ऐसा क्यों कहते हो कि यह पँच परमेष्ठी ही प्रधान है अन्य नहीं? उसको कहते हैं, हे भाई! जीवों के दुःख तो संसारभ्रमण का है और संसार भ्रमण के कारण राग द्वेष मोहादि परिणाम हैं तथा रागादिक वर्तमान में आकुलतामयी दुःखस्वरूप हैं, इसलिये ये ब्रह्मादिक इष्ट देव कहे ये तो रागादिक तथा काम–क्रोधादि युक्त हैं, अज्ञानतप के फल से कई जीव सब लोक में चमत्कार सहित राजादिक बड़ा पद पाते हैं, उनको लोग बड़ा मानकर ब्रह्मादिक भगवान कहने लग जाते हैं और कहते हैं कि यह परमेश्वर ब्रह्माका अवतार है, तो ऐसे मानने से तो कुछ मोक्षमार्गी तथा मोक्षरूप होता नहीं है, संसारी ही रहता है।

ऐसे ही अन्यदेव सब पदवाले जानने, वे आप ही रागादिक से दुःखरूप हैं, जन्म–मरण सहित हैं वे परका–संसारका दुःख कैसे मेटेंगे? उनके मतमें विघ्नका टलना और राजादिक बड़े पुरुष होते कहे जाते हैं, वहाँ तो उन जीवों के पहिले कुछ शुभ कर्म बंधे थे उनका फल है। पूर्वजन्म में किंचित् शुभ परिणाम किया था इसलिये पुण्यकर्म बँधा था, उसके उदयसे कुछ विघ्न टलते हैं और राजादिक पद पाते हैं, वह तो पहिले

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कुछ अज्ञानतप किया है उसका फल है, यह तो पुण्यपापरूप संसार की चेष्टा है, इसमें कुछ बड़ाई नहीं है, बड़ाई तो वह है जिससे संसार का भ्रमण मिटे सो यह तो वीतराग विज्ञान भावोंसे ही मिटेगा, इस वीतरागविज्ञान भावयुक्त पँच परमेष्ठी हैं ये ही संसारभ्रमण का दुःख मिटाने में कारण हैं।

वर्तमान में कुछ पूर्व शुभकर्म के उदय से पुण्यका चमत्कार देखकर तथा पापका दुःख देखकर भ्रममें नहीं पड़ना, पुण्य पाप दोनों संसार हैं इनसे रहित मोक्ष है, अतः संसार से छूटकर मोक्ष हो ऐसा उपाय करना। वर्तमानका भी विघ्न जैसा पँच परमेष्ठी के नाम, मंत्र, ध्यान, दर्शन, स्मरण से मिटेगा वैसा अन्यके नामादिक से तो नहीं मिटेगा, क्योंकि ये पँचपरमेष्ठी ही शांतिरूप हैं, केवल शुभ परणिामों ही के कारण हैं। अन्य इष्ट के रूप तो रौद्ररूप हैं, इनके दर्शन स्मरण तो रागादिक तथा भयादिकके कारण हैं, इनसे तो शुभ परिणाम होते दिखते नहीं हैं। किसी के कदाचित् कुछ धर्मानुराग के वश से शुभ परिणाम हों तो वह उनसे हुआ नहीं कहलाता, उस प्राणी के स्वाभाविक धर्मानुराग के वश से होता है। इसलिये अतिशयवान शुभ परिणाम का कारण तो शांतिरूप पँच परमेष्ठी ही का रूप है, अतः इसी का आराधन करना, वद्यथा खोटी युक्ति सुनकर भ्रममें नहीं पड़ना, ऐसे जानना।

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामी विरचित मोक्षप्राभृत की
जयपुरनिवासी पं० जयचन्द्रजी छाबड़ा कृत देशभाषामय वचनिकाका
हिन्दी भाषानयवाद समाप्त ।। ६।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

लिंगपाहुड

-- ७ --

अथ लिंगपाहुडकी वचनिका का अनुवाद लिखते हैं:------

❋ दोहा ❋

जिन मुद्रा धारक मुनी निज स्वरूपकूं ध्याय।
कर्मनाशि शिवसुख लियो वंदूं तिन के पांय।। १।।

अर्थ:--इसप्रकार मंगल के लिये जिन मुनियोंने शिवसुख प्राप्त किया उनको नमस्कार करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत गाथा बद्ध लिंगपाहुड नामक ग्रंथकी देशभाषामय वचनिका का अनुवाद लिखा जाता है---प्रथम ही आचार्य मंगल के लिये इष्टको नमस्कार कर ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं:----

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण।। १।।

कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धानाम्।
वक्ष्यामि श्रमणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन।। १।।

अर्थ:---आचार्य कहते हैं कि मैं अरहंतों को नमस्कार करके और वैसे ही सिद्धों को नमस्कार करके तथा जिसमें श्रमणलिंग का निरूपण है इस प्रकार पाहुडशास्त्र को कहूँगा।

करीने नमन भगवंत श्री अर्हंतने, श्री सिद्धने,
भाखीश हुं संक्षेपथी मुनिलिंग प्राभृत शास्त्रने। १।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––इस काल में मुनिका लिंग जैसा जिनदेव ने कहा है उसमें विपर्यय हो गया, उसका निषेध करने के लिये लिंगनिरूपण शास्त्र आचार्य ने रचा है, इसकी आदि में घातिकर्म का नाशकर अनंतचतुष्टय प्राप्त करके अरहंत हुए, इन्होंने यथार्थरूप से श्रमण का मार्ग प्रवर्ताया और उस लिंग को साधकर सिद्ध हुए, इसप्रकार अरहंत सिद्धों को नमस्कार करने की प्रतिज्ञा की है।। १।।

आगे कहते हैं कि जो लिंग बाह्यभेष है वह अंतरंग धर्म सहित कार्यकारी है:––––

धम्मेण होइ लिंगं लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भाव धम्मं किं ते लिंगण कायव्वो।। २।।

धर्मेण भवति लिंगं न लिंगमात्रेण धर्मसंप्राप्तिः।
जानीहि भावधर्मं किं ते लिंगेन कर्तव्यम्।। २।।

अर्थः––धर्म सहित तो लिंग होता है परन्तु लिंगमात्र ही धर्म की प्राप्ति नहीं है, इसलिये हे भव्यजीव! तू भावरूप धर्म को जान और केवल लिंग ही से तेरा क्या कार्य होता है अर्थात् कुछ भी नहीं होता है।

भावार्थः––यहाँ ऐसा जानो कि ––लिंग ऐसा चिन्ह का नाम है, वह बाह्य भेष धारण करना मुनि का चिन्ह है, ऐसा यदि अंतरंग वीतराग स्वरूप धर्म हो तो उस सहित तो यह चिन्ह सत्यार्थ होता है और इस वीतरागस्वरूप आत्मा के धर्म के बिना लिंग जो बाह्य भेषमात्र से धर्म की संपत्ति–सम्यक् प्राप्ति नहीं है, इसलिये उपदेश दिया है कि अंतरंग भावधर्म राग–द्वेष रहित आत्मा का शुद्ध ज्ञान–दर्शनरूप स्वभाव धर्म है उसे हे भव्य! तू जान, इस बाह्य लिंग भेष मात्र से क्या काम? कुछ भी नहीं। यहाँ ऐसा भी जानना लि जिनमत में लिंग तीन कहे हैं––एक तो मुनिका यथाजात दिगम्बर लिंग १, दूजा उत्कृष्ट श्रावक का २, तीजा आर्यिका का ३, इन तीनों ही लिंगों को धारण कर भ्रष्ट हो जो कुक्रिया करते हैं इसका निषेध है। अन्यमत के कई भेष हैं इनको भी धारण करके जो कुक्रिया करते हैं वह भी निंदा पाते हैं, इसलिये भेष धारण करके कुक्रिया नहीं करना ऐसा बताया है।। २।।

आगे कहते हैं कि जो जिनलिंग निर्ग्रंथ दिगम्बररूप को ग्रहण कर कुक्रिया करके हँसी कराते हैं वे जीव पापबुद्धि हैं:––––

होये धरमथी लिंग, धर्म न लिंगमात्रथी होय छे;
रे! भावधर्म तुं जाण, तारे लिंगथी शुं कार्य छे? २।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो पावमोहिदमही लिंगं द्येत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसदि लिंगिभावं लिंगिम्मिय णारदो लिंगी।। ३।।

यः पापमोहितमतिः लिंगं गृहीत्वा जिनेवरन्द्राणाम्।
उपहसति लिंगिभावं लिंगिषु नारदः लिंगी।। ३।।

अर्थः––जो जिनवरेन्द्र अर्थात् तीर्थंकर देवके लिंग नग्न दिगम्बररूप को ग्रहण करके लिंगीपने के भाव को उपहासता है––हास्यमात्र समझाता है वह लिंगी अर्थात् भेषी जिसकी बुद्धि पापसे मोहित है वह नारद जैसा है अथवा इस गाथा के चौथे पादका पाठान्तर ऐसा है––'लिंगं णासेदि लिंगीणं' इसका अर्थ––यह लिंगी अन्य जो कोई लिंगोंके धारक हैं उनके लिंग को भी नष्ट करता है, ऐसा बताता है कि लिंगी सब ऐसे ही होते हैं।

भावार्थः––लिंगधारी होकर भी पापबद्धि से कुछ कुक्रिया करे तब उसने लिंगपने को हास्यमात्र समझा, कुछ कार्यकारी नहीं समझा। लिंगीपना तो भावशुद्धि से शोभा पाता है, जब भाव बिगड़े तब बाह्य कुक्रिया करने लग गया तब इसने इस लिंग को लजाया और अन्य लिंगियों के लिंग को भी कलंक लगाया, लोग कहने लगे कि लिंगी ऐसे ही होते हैं अथवा जैसे नारदका भेष है उसमें वह अपनी इच्छानुसार स्वच्छंद प्रवर्तता है, वैसे ही यह भी भेषी ठहरा, इसलिये आचार्य ने ऐसा आशय धारण करके कहा है कि जिनेन्द्र के भेष को लजाना योग्य नहीं है।। ३।।

आगे लिंग धारण करके कुक्रिया करे उसको प्रगट करते हैं:––

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरुवेण।
सो पावमोहिद मदी तिरिक्ख जोणी ण सो समणो।। ४।।

---

१ पाठान्तर– 'लिंगिम्मिय णारदो लिंगी' के स्थान पर 'लिंगं णासेदि लिंगीणं'।

जे पाप मोहित बुद्धि, जिनवरलिंग धरी, लिंगित्वने
उपहासत करतो, ते विघाते लिंगीओना लिंगने। ३।

जे लिंग धारी नृत्य, गायन, वाद्यवादनने करे,
ते पापमोहित बुद्धि छे तिर्यग्योनि, न श्रमण छे। ४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नृत्यति गायति तावत् वाद्यं वादयति लिंगरुपेण।
सः पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः।। ४।।

अर्थः––जो लिंगरूप करके नृत्य करता है गाता है वादित्र बजाता है सो पापसे मोहित बुद्धिवाला है, तिर्यंचयोनि है, पशु है, श्रमण नहीं है।

भावार्थः––लिंग धारण करके भाव बिगाड़कर नाचना, गाना, बजाना इत्यादि क्रियायें करता है वह पापबुद्धि है पशु है अज्ञानी है, मनुष्य नहीं है, मनुष्य हो तो श्रमणपना रक्खे। जैसे नारद भेषधारी नाचता है, गाता है, बजाता है, वैसे यह भी भेषी हुआ तब उत्तम भेष को लजाया, इसलिये लिंग धारण करके ऐसा होना युक्त नहीं है।।४।।

आगे फिर कहते हैं:–––

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पाव मोहिद मदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। ५।।

समूहयति रक्षति च आर्त्तं ध्यायति बहुप्रयत्नेन।
सः पापमोहितमतिः तिर्यग्योनि न सः श्रमणः।। ५।।

अर्थः––जो निर्ग्रंथ लिंग धारण करके परिग्रहको संग्रहरूप करता है अथवा उसकी वांछा चिंतवन ममत्व करता है और उस परिग्रह की रक्षा करता है उसका बहुत यत्न करता है, उसके लिये आर्त्तध्यान निरंतर ध्याता है, वह पापसे मोहित बुद्धिवाला है, तिर्यंचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण तो नहीं है श्रमणपने को बिगाड़ता है, ऐसे जानना।। ५।।

आगे फिर कहते हैं:–––

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणागव्विओ लिंगी।
[१]वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगरुवेण।। ६।।

---

१ पाठान्तरः – 'वच्च' 'वज्ज'।

जे संग्रहे, रक्षे, बहु श्रमपूर्व, ध्यावे आर्तने,
ते पापमोहितबुद्धि छे तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे। ५।

द्यूत जे रमे, बहुमान–गर्वित वाद–कलह सदा करे,
लिंगीरूपे करतो थको पापी नरकगामी बने। ६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कलहं वादं द्यूतं नित्यं बहुमानगर्वितः लिंगी।
व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरुपेण।।६।।

अर्थः––जो लिंगी बहुत मान कषायसे गर्वमान हुआ निरंतर कलह करता है, वाद करता है, द्यूतक्रीड़ा करता है वह पापी नरकको प्राप्त होता है और पापसे ऐसे ही करता रहता है।

भावार्थः––जो गृहस्थरूप करके ऐसी क्रिया करता है उसको तो यह उलाहना नहीं है, क्योंकि कदाचित् गृहस्थ तो उपदेशादिकका निमित्त पाकर कुक्रिया करता रह जाय तो नरक न जावे, परन्तु लिंग धारण करके उसरूप से कुक्रिया करता है तो उसको उपदेश भी नहीं लगता है, इससे नरक का ही पात्र होता है।। ६।।

आगे फिर कहते है:––––

पाओ पहदंभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरुवेण।
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकंतारे।।७।।

पापोपहतभावः सेवते च अब्रह्म लिंगिरुपेण।
सः पापमोहितमतिः हिंडते संसारकांतारे।।७।।

अर्थः––पाप से उपहत अर्थात् घात किया गया है आत्मभाव जिसका ऐसा होता हुआ जो लिंगी का रूप करके अब्रह्मका सेवन करता है वह पाप से मोहित बुद्धिवाला लिंगी संसाररूपी कांतार––––वन में भ्रमण करता है।

भावार्थः–– पहिले तो लिंग धारण किया और पीछे ऐसा पाप–परिणाम हुआ कि व्यभिचार सेवन करने लगा, उसकी पाप–बुद्धि का क्या कहना? उसका संसार में भ्रमण क्यों न हो? जिसके अमृत भी जहररूप परिणमे उनके रोग जाने की क्या आशा? वैसे ही यह हुआ, ऐसे का संसार कटना कठिन है।। ७।।

आगे फिर कहते हैं:––––

जे पाप–उपहतभाव सेवे लिंगमां अब्रह्मने,
ते पापमोहित बुद्धिने परिभ्रमण संसृतिकानने। ७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दंसणणाणचरित्ते उपहाणे जइ ण लिंगरुवेण।
अट्टं झायदि झाणं अणंत संसारिओ होदि।।८।।

दर्शनज्ञान चारित्राणि उपधानानि यदि न लिंगरुपेण।
आर्त्तं ध्यायाति ध्यानं अनंतसंसारिकः भवति।।८।।

अर्थः––यदि लिंगरूप करके दर्शन ज्ञान चारित्र को तो उपधानरूप नहीं किये [–धारण नहीं किये] और आर्त्तध्यान को ध्याता है तो ऐसा लिंगी अनंत संसारी होता है।

भावार्थः––लिंग धारण करके दर्शन ज्ञान चारित्रका सेवन करना था वह तो नहीं किया और परिग्रह कुटुम्ब आदि विषयोंका परिग्रह छोड़ा उसकी फिर चिंता करके आर्त्तध्यान–ध्याने लगा तब अनंत संसारी क्यों न हो? इसका तात्पर्य है कि––––सम्यग्दर्शनादि रूप भाव तो पहिले हुए नहीं और कुछ कारण पाकर लिंग धारण कर लिया, उसकी अवधि क्या? पहिले भाव शुद्ध करके लिंग धारण करना युक्त है।।८।।

आगे कहते हैं कि यदि भाव शुद्धिके बिना गृहस्थपद छोड़े तो यह प्रवृत्ति होती है:––––

जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जजीवद्यादं च।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरुवेण।।९।।

यः योजयति विवाहं कृषिकर्मवाणिज्यजीवघातं च।
व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरुपेण।।९।।

अर्थः––जो गृहस्थोंके परस्पर विवाह जोड़ता है––सम्बन्ध कराता है, कृषिकर्म खेती बहाना किसान का कार्य, वाणिज्य व्यापार अर्थात् वैश्यका कार्य और जीवघात अर्थात् वैद्यकर्म के लिये जीवघात करना अथवा धीवरादिका कार्य, इन कार्यों को करता है वह लिंगरूप धारण करके ऐसे पापकार्य करता हुआ पापी नरकको प्राप्त होता है।

भावार्थः––गृहस्थपद छोड़कर शुद्धभाव बिना लिंगी हुआ था, इसकी भावकी

ज्यां लिंग रूपे ज्ञानदर्शन चरणनुं धारण नहीं,
ने ध्यान ध्यावे आर्त, तेह अनंत संसारी मुनि। ८।

जोडे विवाह, करे कृषि–व्यापार–जीवविघात जे,
लिंगीरूपे करतो थको पापी नरकगामी बने। ९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वासना मिटी नहीं तब लिंगी का रूप धारण करके भी गृहस्थ कार्य करने लगा, आप विवाह नहीं करता है तो भी गृहस्थोंके सम्बंध कराकर विवाह कराता है तथा खेती, व्यापार जीवहिंसा आप करता है और गृहस्थोंको कराता है, तब पापी होकर नरक जाता है। ऐसे भेष धारने से तो गृहस्थ ही भला था, पदका पाप तो नहीं लगता, इसलिये ऐसे भेष धारण करना उचित नहीं है यह उपदेश है।। ९।।

आगे फिर कहते हैं:---

चोराण [१]लाउराण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं।। १०।।

चौराणां लापराणां च युद्धं विवादं च तीव्रकर्मभिः।
यंत्रेण दीव्यमानः गच्छति लिंगी नरकयासं।। १०।।

अर्थः---जो लिंगी ऐसे प्रवर्तता है वह नरकवास को प्राप्त होता है; जो चोरोंके और लापर अर्थात् झूठ बोलने वालोंके युद्ध और विवाद कराता है और तीव्रकर्म जिनमें बहुत पाप उत्पन्न हो ऐसे तएव्र कषायोंके कार्यों से तथा यंत्र अर्थात् चौपड़, शतरंज, पासा, हिंदोला आदि से क्रिड़ा करता रहता है, वह नरक जाता है। यहाँ 'लाउराणं' का पाठान्तर ऐसा भी है राउलाणं इसका अर्थ---रावल अर्थात् राजकार्य करने वालों के युद्ध विवाद कराता है, ऐसे जानना।

भावार्थः--- लिंग धारण करके ऐसे कार्य करे तो नरक ही पाता है इसमें संशय नहीं है।। १०।।

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके लिंगयोग्य कार्य करता हुआ दुःखी रहता है, उन कार्योंका आदर नहीं करता, वह भी नरक में जाता है:---

---

१ मुद्रित सटकि संस्कृत प्रति में 'समाएण' ऐसा पाठ है जिसकी छाया में 'मिथ्यात्वादिनां' इसप्रकार है।

चोरो–लबाडोने लडावे, तीव्र परिणामो करे,
चोपाट–आदिक जे रमे, लिंगी नरक गामी बने। १०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं।। ११।।

दर्शनज्ञानचारित्रेषु तपः संयमनियम नित्यकर्मसु।
पीडयते वर्तमानः प्राप्नोति लिंगी नरकवासम्।। ११।।

अर्थः––जो लिंग धारण करके इन क्रियाओंको करता हुआ बाध्यमान होकर पीड़ा पाता है, दुःखी होता है वह लिंगी नरकवासी को पाता है। वे क्रियायें क्या है? प्रथम तो दर्शन ज्ञान चारित्र में इनका निश्चय–व्यवहाररूप धारण करना, तप–अनशनादिक बारह प्रकारके शक्तिके अनुसार करना, संयम–इन्द्रियोंको और मन को वश में करना तथा जीवों की रक्षा करना, नियम अर्थात् नित्य कुछ त्याग करना और नित्यकर्म अर्थात् आवश्यक आदि क्रियाओंको नित्य समय पर नित्य करना, ये लिंगके योग्य क्रियायें हैं, इन क्रियाओंको करता हुआ दुःखी होता है वह नरक पाता है। ['आत्म हित हेतु विराग–ज्ञान सो लखै आपको कष्टदान' मुनिपद अर्थात् मोक्षमार्ग उसको तो वह कष्टदाता मानता है अतः वह मिथ्यारुचिवान है]

भावार्थः––लिंग धारण करके ये कार्य करने थे, इनका तो निरादर करे ओर प्रमाद सेवे, लिंगके योग्य कार्य करता हुआ दुःखी हो, तब जानो कि इसके भावशुद्धिपूर्वक लिंग ग्रहण नहीं हुआ और भाव बिगड़ने पर तो उसका फल नरक ही होता है, इसप्रकार जानना।। ११।।

आगे कहते हैं कि जो भोजनमें भी रसोंका लोलुपी होता है वह भी लिंगको लजाता है:–––

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १२।।

दग ज्ञान चरण, नित्यकर्मे, तपनियमसंयम विषे,
जे वर्ततो पीडा करे, लिंगी नरकगामी बने। ११।

जे भोजने रसगृद्धि करतो वर्ततो कामादिके,
मायावी लिंग विनाशी ते तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे। १२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कंदर्पादिषु वर्तते कुवार्ण: भोजनेषु रसगृद्धिम्।
मायावी लिंगव्यवायी तिर्यग्योनि: न स: श्रमण:।। १२।।

अर्थ:––जो लिहग धारण करके भोजन में भी रस की गृद्धि अर्थात् आसक्तता को करता रहता है वह कंदर्प आदिकमें वर्तता है, उसके काम–सेवनकी वांछा तथा प्रमाद निद्रादिक प्रचुर मात्रा में बढ़ जाते हैं तब 'लिंगव्यवायी' अर्थात् व्यभिचारी होता है, मायावी अर्थात् कामसेवन के लिये अनेक छल करना विचारता है, जो ऐसा होता है वह तिर्यंचयोनि है, पशुतुल्य है, मनुष्य नहीं है, इसलिये श्रमण भी नहीं है।

भावार्थ:––गृहस्थपद छोड़कर आहार में लोलुपता करने लगा तो गृहस्थपद में अनेक रसीले भोजन मिलते थे, उनको क्यों छोड़े? इसलिये ज्ञात होता है कि आत्मभावना के रस को पहिचाना ही नहीं है इसलिये विषयसुख की चाह रही तब भोजन के रसकी, साथके अन्य भी विषयों की चाह होती है तब व्यभिचार आदि में प्रवर्तन कर लिंग को लजाता है, ऐसे लिंग से तो गृहस्थपद ही श्रेष्ठ है, ऐसे जानना।। १२।।

आगे फिर इसी को विशेषरूप से कहते हैं:––––

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काउण भुञ्जदे पिंडं।
अवरपरुई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो।। १३।।

धावति पिंडनिमित्तं कलहं कृत्वा भुंक्ते पिंडम्।
अपरप्ररुपी सन् जिनमार्गी न भवति स: श्रमण:।। १३।।

अर्थ:––जो लिंगधारी पिंड अर्थात् आहारके निमित्त दौडा है, आहारके निमित्त कलह करके आहारको भोगता है, खाता है, और उसके निमित्त अन्यसे परस्पर ईर्षा करता है वह श्रमण जिनमार्गी नहीं है।

भावार्थ:––इस काल में जिनलिंगी से भ्रष्ट होकर पहिले अर्द्धफालक हुए, पीछे उनमें श्वेताम्बरादि संघ हुए, उन्होंने शिथिलाचार पुष्ट कर लिंग की प्रवृत्ति बिगाड़ी, उनका यह निषेध है। इनमें अब भी कई ऐसे देखे जाते हैं जो––––आहारके लिये शीघ्र दौड़ते हैं, ईर्यापथकी सुध नहीं है और आहार गृहस्थके घर से लाकर दो–चार शामिल

पिंडार्थ जे दोडे अने करी कलह भोजन जे करे,
ईर्षा करे जे अन्यनी, जिनमार्गनो नहि श्रमण ते। १३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बैठकर खाते हैं, इसमें बटवारे में सरस, नीरस, आवे तब परसपर कलह करते हैं और उसके निमित्त परस्पर ईर्षा करते हैं, इसप्रकार की प्रवृत्ति करें तब कैसे धमण हुए? वे जिनमार्गी तो हैं नहीं, कलिकाल के भेषी हैं। इनको साधु मानते हैं वे भी अज्ञानी हैं।। १३।।

आगे फिर कहते है:-----

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंग धारंतो चोरेण व होइ सो समणो।। १४।।

गृहणाति अदत्तदानं परिनिंदामपि च परोक्षदूषणै:।
जिनलिंगं धारयन् चौरेणेव भवति स: श्रमण:।। १४।।

अर्थ:--जो बिना दिया तो दान लेता है और परोक्ष परके दूषणोंसे परकी निंदा करता है वह जिनलिंगको धारण करता हुआ भी चोरके समान श्रमण है।

भावार्थ:--जो जिनलिंग धारण करके बिना दिया आहार आदिको ग्रहण करता है, परके देनेकी इच्छा नहीं है परन्तु कुछ भयादिक उत्पन्न करके लेना तथा निरादर से लेना, छिपकर कार्य करना ये तो चोरके कार्य हैं। यह भेष धारण करके ऐसे करने लगा तब चोर ही ठहरा, इसलिये ऐसा भेषी होना योग्य नहीं है।। १४।।

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके ऐसे प्रवर्तते हैं वे श्रमण नहीं हैं:---

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवी ओ खणदि लिंगरुवेण।
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १५।।

उत्पतति पतति धावति पृथिवी खनति लिंगरुपेण।
ईर्यापथं धारयन् तिर्यग्योनि: न स श्रमण:।। १५।।

अहदत्तनुं ज्यां ग्रहण, जे असमक्ष परनिंदा करे,
जिनलिंग धारक हो छतां ते श्रमण चोर समान छे। १४।

लिंगात्म ईर्यासमितिनो धारक छतां कूदे, पडे,
दोडे, उखाडे भोंय, ते तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे। १५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थः––जो लिंग धारण करके ईर्यापथ शोधकर चलना था उसमें शोधकर नहीं चले, दौड़ता चलता हुआ उछले, गिर पड़े, फिर उठकर दौड़े और पृथ्वी को खोदे, चलते हुए ऐसे पैर पटके जो उससे पृथ्वी खुद जाय, इसप्रकार से चले सो तिर्यंचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, मनुष्य नहीं है।। १५।।

आगे कहते हैं कि जो वनस्पति आदि स्थावर जीवोंकी हिंसा से कर्म बंध होते है उसको न गिनता स्वच्छंद होकर प्रवर्तता है, वह श्रमण नहीं है:–––

बंधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि।
छिंदहि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १६।।

बंधं नीरजाः सन् सस्यं खंडयति तथा च सुधामपि।
छिनत्ति तरुगणं बहुशः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः।। १६।।

अर्थः––जो लिंग धारण करके वनस्पति आदि की हिंसा से बंध होता है उसको दोष न मान कर बंध को नहीं गिनता हुआ सस्य अर्थात् अनाज को कूटता है और वैसे ही वसुधा अर्थात् पृथवी को खोदता है तथा बारबार तरुगण अर्थात् वृक्षों के समुह को छेदता है, ऐसा लिंगी तिर्यंचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

भावार्थः––वनस्पति आदि स्थावर जीव जिनसूत्र में कहे हैं और इनकी हिंसासे कर्मबंध होना भी कहा है उसको निर्दोष समझता हुआ कहता है कि–––इसमें क्या दोष है? क्या बंध है? इसप्रकार मानता हुआ तथा वैद्य–कर्मादिक के निमित्त औषधादिक को, धान्यको, पृथ्वी को तथा वृक्षोंको खंड़ता है, खोदता है, छेदता है वह अज्ञानी पशु है, लिंग धारण करके श्रमण कहलाता है वह श्रमण नहीं है।। १६।।

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके स्त्रियों से राग करता है और परको दूषण देता है वह श्रमण नहीं है:–––

जे अवगणीने बंध, खांडे धान्य, खोदे पृथ्वीने,
बहु वृक्ष छेदे जेह, ते तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे। १६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १७।।

रागं करोति नित्यं महिलावर्गं पर च दूषयति।
दर्शनज्ञानविहीनः तिर्यगयोनिः न सः श्रमणः।। १७।।

अर्थः––जो लिंग धारण करके स्त्रियों के समूह के प्रति तो निरंतर राग–प्रीति करता है और पर जो कोई अन्य निर्दोष हैं उनको दोष लगाता है वह दर्शन–ज्ञानरहित है, ऐसा लिंगी तिर्यंचयोनि है, पशु समान है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

भावार्थः––लिंग धारण करनेवाले के सम्यग्दर्शन–ज्ञान होता है और परद्रव्यों से राग–द्वेष नहीं करनेवाला चारित्र होता है। वहाँ जो स्त्री समूह से तो राग–प्रीति करता है और अन्यके दोष लगाकर द्वेष करता है, व्यभिचारी का सा स्वभाव है, तो उसके कैसा दर्शन–ज्ञान? और कैसा चारित्र? लिंग धारण करके लिंग के योग्य आचरण करना था वह नहीं किया तब अज्ञानी पशु समान ही है, श्रमण कहलाता है वह आप भी मिथ्यादृष्टि है अन्य को भी मिथ्यादृष्टि करनेवाला है, ऐसे का प्रसंग भी युक्त नहीं है।।१७।।

आगे फिर कहते हैं:–––

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि बट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो।। १८।।

प्रव्रज्याहीनगृहिणि स्नेहं शिष्ये वर्तते बहुशः।
आचारविनयहीनः तिर्यगयोनिः न सः श्रमणः।। १८।।

अर्थः–– जो लिंगी 'प्रवज्या–हीन' अर्थात् दीक्षा–रहित गृहस्थों पर और शिष्यों पर बहुर स्नेह रखता है और आचार अर्थात् मुनियों की क्रिया और गुरुओं के विनय से रहित होता है वह तिर्यंचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

स्त्रीवर्ग पर नित राग करतो, दोष दे छे अन्यने,
दगज्ञानथी जे शून्य, ते तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे। १७।

दीक्षविहीन गृहस्थ ने शिष्ये धरे बहु स्नेह जे,
आचार–विनयविहीन, ते तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे। १८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः—— गृहस्थों से तो बारंबार लालपाल रक्खे और शिष्यों से बहुत सनेह रक्खे, तथा मुनिकी प्रवृत्ति आवश्यक आदि कुछ करे नहीं, गुरुओं के प्रतिकूल रहे, विनयादिक करे नहीं ऐसा लिंगी पशु समान है, उसको साधु नहीं कहते।। १८।।

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके पूर्वोक्त प्रकार प्रवर्तता है वह श्रमण नहीं है ऐसा संक्षेप से कहते हैं:——

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो।। १९।।

एवं सहितः मुनिवर! संयतमध्ये वर्त्तते नित्यम्।
बहुलमपि जानन् भावविनष्टः न सः श्रमणः।। १९।।

अर्थः——एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार प्रवृत्ति सहित जो वर्तता है वह हे मुनिवर! यदि ऐसा लिंगधारी संयमी मुनियों के मध्य भी निरन्तर रहता है और बहुत शास्त्रोंको भी जानता है तो भी भावोंसे नष्ट है, श्रमण नहीं है।

भावार्थः——ऐसा पूर्वोक्त प्रकार लिंगी जो सदा मुनियों में रहता है और बहुत शास्त्रों को जानता है तो भी भाव अर्थात् शुद्ध दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप परिणाम से रहित है, इसलिये मुनि नहीं है, भ्रष्ट है, अन्य मुनियों के भाव बिगाड़ने वाला है।। १९।।

आगे फिर कहते हैं कि जो स्त्रियों का संसर्ग बहुत रखता है वह भी श्रमण नहीं है:——

दंसणणाण चरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वीसट्ठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो।। २०।।

ईम वर्तनारो संयतोनी मध्य नित्य रहे भले,
ने होय बहुश्रुत, तोय भावविनष्ट छे, नहि श्रमण छे। १९।

स्त्रीवर्गमां विश्वस्त दे छे ज्ञान–दर्शन–चरण जे,
पार्श्वस्थथी पण हीन भावविनष्ट छे, नहि श्रमण छे। २०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दर्शनज्ञान चारित्राणि महिलावर्गे ददाति विश्वस्तः।
पार्श्वस्थादपि स्फुटं विनष्टः भावविनष्टः न सः श्रमणः।। २०।।

अर्थः––जो लिंग धारण करके स्त्रियों के समूह में उनका विश्वास करके ओर उनको विश्वास उत्पन्न कराके दर्शन–ज्ञान–चारित्र को देता है उनको सम्यक्त्व बताता है, पढ़ना–पढ़ाना, ज्ञान देता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है, इसप्रकार विश्वास उत्पन्न करके उनमें प्रवर्तता है वह ऐसा लिंगी तो पार्श्वस्थ से भी निकृष्ट है, प्रगट भावसे विनष्ट है, श्रमण नहीं हैं।

भावार्थः–––जो लिंग धारण करके स्त्रियों को विश्वास उत्पन्न कराकर उनसे निरंतर पढ़ना, पढ़ाना, लालापाल रखना, उसको जानो कि इसका भाव खोटा है। पार्श्वस्थ तो भ्रष्ट मुनि को कहते हैं उससे भी वह निकृष्ट है, ऐसेको साधु नहीं कहते हैं।। २०।।

आगे फिर कहते हैं:–––

पुंच्छलिघरि जो भुञ्जइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं।
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो समणो।। २१।।

पुंश्चली गृहे यः भुंक्ते नित्यं संस्तौति पुष्णाति पिंडं।
प्राप्नोति बालस्वभावं भावविनष्टः न सः श्रमणः।। २१।।

अर्थः––जो लिंगधारी पुंश्चली अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्री के धर भोजन लेता है, आहार करता है और नित्य उसकी स्तुति करता है कि यह––बड़ी धर्मात्मा है, इसके साधुओं की बड़ी भक्ति है, इसप्रकार से नित्य उसकी प्रशंसा करता है इसप्रकार पिंडको [शरीरको] पालता है वह ऐसा लिंगी बालस्वभाव को प्राप्त होता है, अज्ञानी है, भाव से विनष्ट है, वह श्रमण नहीं है।

भावार्थः––जो लिंग धारण करके व्यभिचारिणी का आहर खाकर पिंड पालता है, उसकी नित्य प्रशंसा करता है, तब जानो कि–––यह भी व्यभिचारी है, अज्ञानी है, उसको लज्जा भी नहीं आती है, इसप्रकार वह भावसे विनष्ट है, मुनित्वके भाव नहीं हैं, तब मुनि कैसे ?

असतीगृहे भोजन, करे स्तुति नित्य, पोषे पिंड जे,
अज्ञानभावे युक्त भावविनष्ट छे, नहि श्रमण छे। २१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे इस लिंगपाहुड को सम्पूर्ण करते हैं और कहते हैं कि जो धर्मका यथार्थ स्वरूप से पालन करता है वह उत्तम सुख पाता है:-----

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहिं देसियं धम्मं।
पालेइ कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तम ठाणं।। २२।।

इति लिंगप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं धर्मम्।
पालयति कष्टसहितं सः गाहते उत्तम स्थानम्।। २२।।

अर्थः--इसप्रकार इस लिंगपाहुड शास्त्र का सर्वबुद्ध जो ज्ञानी गणधरादि उन्होंने-उपदेश दिया है, उसको जानकर जो मुनि धर्मको कष्टसहित बड़े यत्नसे पालता है, रक्षा करता है वह उत्तमस्थान-मोक्ष को पाता है।

भावार्थः--वह मुनि का लिंग है वह बड़े पुण्य के उदय से प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करके भी फिर खोटे कारण मिलाकर उसको बिगाड़ता है तो जानो कि यह बड़ा ही अभागा है--चिंतामणि रत्न पाकर कौड़ी के बदले में नष्ट करता है, इसीलिये आचार्य ने उपदेश दिया है कि ऐसा पद पाकर इसकी बड़े यत्न से रक्षा करना,----कुसंगति करके बिगाड़ेगा तो जैसे पहिले संसार-भ्रमण था वैसे ही फिर संसार में अनन्त काल भ्रमण होगा और यत्नपूर्वक मुनित्वका पालन करेगा तो शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करेगा, इसलिये जिसको मोक्ष चाहिये वह मुनिधर्म को प्राप्त करके यत्न सहित पालन करो, परिषह का, उपसर्गका उपद्रव आवे तो भी चलायमान मत होओ, यह श्री सर्वज्ञदेव का उपदेश है।। २२।।

इसप्रकार यह लिंगपाहुड ग्रंथ पूर्ण किया। इसका संक्षेप इस प्रकार है कि----इस पंचमकाल में जिनलिंग धारण करके फिर दुर्भिक्ष के निमित्त से भ्रष्ट हुए, भेष बिगाड़ दिया वे अर्द्धफालक कहलाये, इनमें से फिर श्वेताम्बर हुए, इनमें से भी यापनीय हुए, इत्यादि होकर के शिथिलाचार को पुष्ट करके के शास्त्र रचकर स्वच्छंद हो गये, इनमें से कितने ही निपट-बिल्कुल निंद्य प्रवृत्ति करने लगे, इनका निषेध करने के लिये तथा सबको सत्य उपदेश देनेके लिये यह ग्रंथ है, इसको समझकर श्रद्धान करना। इसप्रकार निंद्य आचरणवालों को साधु-मोक्षमार्गी न मानना, इनकी वंदना व पूजा न करना यह उपदेश है।

એવી રીતે સર્વજ્ઞે કથિત આ લિંગપ્રાભૃત જાણીને,
જે ધર્મ પાળે કષ્ટ સહ, તે સ્થાન ઉત્તમને લહે। ૨૨।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

❋ छप्पन ❋

लिंग मुनीको धारि पाप जो भाव बिगाड़ै
वह निंदाकूं पाय आपको अहित विथारै।

ताकूं पूजै थुवै वंदना करै जु कोई
वे भी तैसे होई साथि दुरगतिकूं लेई।।

ईससे जे सांचे मुनि भये भाव शुद्धिमैं थिर रहे।
तिनि उपदेश्या मारग लगे ते सांचे ज्ञानी कहे।। १।।

❋ दोहा ❋

आंतर बाह्य जु शुद्ध जिनमुद्राकूं धारि।
भये सिद्ध आनंदमय बंदू जोग संवारि।। २।।

इति श्री कुन्दकुन्दाचार्यस्वामि विरचित श्री लिंगप्राभृत शास्त्रकी
जयपुरनिवासी पं० जयचन्द्रजी छाबड़ाकृत देशभाषामय वचनिका का
हिन्दी भाषानुवाद समाप्त।। ७।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 शीलपाहुड 卐

卐 -- ८ -- 卐

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

अब शीलपाहुड ग्रंथ की देशभाषावचनिका का हिन्दी भाषनुवाद लिखते हैं:---

दोहा

भव की प्रकृति निवारिकै, प्रगट किये निज भाव।
ह्वै अरहंत जु सिद्ध फुनि, वंदूं तिनि धरी चाव।। १।।

इसप्रकार इष्ट के नमस्काररूप मंगल करके शीलपाहुड ग्रंथ श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्राकृत गाथाबद्ध की देशभाषामय वचनिका का हिन्दी भाषानुवाद लिखते हैं। प्रथम कुन्दकुन्दाचार्य ग्रंथ की आदिमें इष्ट को नमस्काररूप मंगल करके ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा करते हैं:---

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसोमेह।। १।।

वीरं विशालनयनं रक्तोत्पलकोमलसमपादम्।
त्रिविधेन प्रणम्य शीलगुणान् निशाभ्यामि।। १।।

अर्थ:---अचार्य कहते हैं कि मैं वीर अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानस्वामी परम भट्टारक को मन वचन काय से नमस्कार करके शील अर्थात् निजभावरूप प्रकृति उसके गुणोंको अथवा शील और सम्यक्दर्शनादिक गुणोंको कहूँगा, कैसे हैं श्री वर्द्धमानस्वामी--- विशाल नयन हैं, उनके बाह्य में तो पदार्थोंको देखने का नेत्र तो विशाल है, विस्तीर्ण है, सुन्दर है और अंतरंग में केवलदर्शन केवलज्ञानरूप नेत्र सम्स्त पदार्थोंको देखने वाले हैं और वे कैसे हैं------'रक्तोत्पलकोमलसमपादं' अर्थात् उनके चरण रक्त कमल के समान कोमल हैं, ऐसे अन्य के नहीं हैं, इसलिये सबसे प्रशंसा करने योग्य हैं, पूजने योग्य हैं। इसका दूसरा अर्थ ऐसा भी होता है कि रक्त अर्थात्

विस्तीर्ण लोचन, रक्तकजकोमल–सुपद श्री वीरने
त्रिविधे करीने वंदना, हुं वर्णवुं शीलगुणने। १।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रागरूप आत्माका भाव, उत्पल अर्थात् दूर करनेमें, कोमल अर्थात् कठोरतादि दोष रहित और सम अर्थात् रागद्वेष रहित, पाद अर्थात् जिनके वाणी के पद हैं, जिनके वचन कोमल हितमित मधुर राग–द्वेष रहित प्रवर्तते हैं उनसे सबका कल्याण होता है।

भावार्थः––इसप्रकार वर्द्धमान स्वामी को नमस्काररूप मंगल करके आचार्य ने शीलपाहुड ग्रन्थ करने की प्रतीज्ञा की है।। १।।

आगे शील का रूप तथा इससे (ज्ञान) गुण होता है वह कहते हैं:–––

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्दिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति।। २।।

शीलस्य च ज्ञानस्य च नास्ति विरोधो बुधैः निर्दिष्टः।
केवलं च शीलेन विना विषयाः ज्ञानं विनाशयंति।। २।।

अर्थः––शील के और ज्ञान के ज्ञानियोंने विरोध नहीं कहा है। ऐसा नहीं है कि जहाँ शील हो वहाँ ज्ञान न हो और ज्ञान हो वहाँ शील न हो। यहाँ णवरि अर्थात् विशेष है वह कहते हैं–––शीलके बिना विषय अर्थात् इन्द्रियोंके विषय हैं यह ज्ञान को नष्ट करते हैं––– ज्ञान को मिथ्यात्व रागद्वेषमय अज्ञानरूप करते हैं।

यहाँ ऐसा जानना कि–––शील नाम स्वभावका – प्रकृति का प्रसिद्ध है, आत्मा का सामान्यरूप से ज्ञान स्वभाव है। इस ज्ञानस्वभाव में अनादिकर्म संयोग से [परसंग करने की प्रवृत्ति से] मिथ्यात्व रागद्वेषरूप परिणाम होता है इसलिये यह ज्ञान की प्रवृत्ति कुशील नाम को प्राप्त करती है इससे संसार बनता है, इसलिये इसको संसार प्रकृति कहते हैं, इस प्रकृति को अज्ञानरूप कहते हैं, इस कुशील प्रकृति से संसार पर्याय में अपनत्व मानता है तथा परद्रव्यों में इष्ट–अनिष्ट बुद्धि करता है।

यह प्रकृति पलटे तब मिथ्यात्व अभाव कहा जाय, तब फिर न संसार–पर्यायमें अपनत्व मानता है, न परद्रव्योंमें इष्ट–अनिष्टबुद्धि होती है और (पद अनुसार अर्थात्) इस भाव की पूर्णता न हो तब तक चारित्रमोह के उदय से (–उदय में युक्त होनेसे)

न विरोध भाख्यो ज्ञानीओअे शीलने ने ज्ञानने;
विषयो करे छे नष्ट केवळ शीलविरहित ज्ञानने। २।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कुछ राग–द्वेष कषाय परिणाम उत्पन्न होते हैं उनको कर्म का उदय जाने, उन भावों को त्यागने योग्य जाने, त्यागना चाहे ऐसी प्रकृति हो तब सम्यग्दर्शनरूप भाव कहते हैं, इस सम्यग्दर्शन भाव से ज्ञान भी सम्यक् नाम पाता है और पद के अनुसार चारित्र की प्रवृत्ति को सुशील कहते हैं, इसप्रकार कुशील सुशील शब्दका सामान्य अर्थ है।

सामान्यरूप से विचारे तो ज्ञान ही कुशील है और ज्ञान ही सुशील है, इसलिये इसप्रकार कहा है कि ज्ञानके और शीलके विरोध नहीं है, जब संसार–प्रकृति पलट कर मोक्षसन्मुख प्रकृति हो तब सुशील कहते हैं, इसलिये ज्ञानमें और शील में विशेष नहीं कहा है, यदि ज्ञान में सुशील न आवे तो ज्ञानको इन्द्रियों के विषय नष्ट करते हैं, ज्ञान को अज्ञान करते हैं तब कुशील नाम पाता है।

यहाँ कोई पूछे–––गाथा में ज्ञान–अज्ञान का तथा सुशील–कुशीलका नाम तो नहीं कहा, ज्ञान और शील ऐसा ही कहा है, इसका समाधान–––पहिले गाथा में ऐसी प्रतीज्ञा की है कि मैं शील के गुणों को कहूँगा अतः इस प्रकार जाना जाता है कि आचार्य के आशय में सुशील ही के कहने का प्रयोजन है, सुशील ही को शीलनाम से कहते हैं, शील बिना कुशील कहते हैं।

यहाँ गुण शब्द उपकारवाचक लेना तथा विशेषवाचक लेना, शीलसे उपकार होता है तथा शीलके विशेष गुण हैं वह कहेंगे। इसप्रकार ज्ञानमें जो शील न आवे तो कुशील होता है, इन्द्रियों के विषयों से आसक्ति होती है तब वह ज्ञान नाम नहीं प्राप्त करता, इस प्रकार जानना चाहिये। व्यवहारमें शीलका अर्थ स्त्री–संसर्ग वर्जन करने का भी है, अतः विषय सेवन का ही निषेध है। पर द्रव्य मात्र का संसर्ग छोड़ना, आत्मामें लीन होना वह परमब्रह्मचर्य है। इसप्रकार ये शील ही के नामान्तर जानना।। २।।

आगे कहते हैं कि ज्ञान होने पर भी ज्ञान की भावना करना और विषयों से विरक्त होना कठिन है [दुर्लभ है] :–––

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

[1]दुक्खे णज्जदि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियमई व जीवो दिसयेसु विरज्जए दुक्खं।। ३।।

[2]दु:खेनेयते ज्ञानं ज्ञानं ज्ञात्वा भावना दु:खम्।
भावितमतिश्च जीव: विषयेषु विरज्यति दुक्खम्।। ३।।

अर्थ:––प्रथम तो ज्ञान ही दु:ख से प्राप्त होता है, कदाचित् ज्ञान भी प्राप्त करे तो उसको जानकर उसकी भावना करना, बारंबार अनुभव करना दु:ख से [–दृढ़तर सम्यक् पुरुषार्थ से] होता है और कदाचित् ज्ञानकी भावना सहित भी जीव हो जावे तो विषयों को दु:ख से त्यागता है।

भावार्थ:––ज्ञान की प्राप्ति करना, फिर उसकी भावना करना, फिर विषयों का त्याग करना ये, उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं और विषयों का त्याग किये बिना प्रकृति पलटी नहीं जाती है, इसलिये पहिले ऐसा कहा है कि विषय ज्ञान को बिगाड़ते हैं अत: विषयों का त्यागना ही सुशील है।। ३।।

आगे कहते हैं कि यह जीव जब तक विषयों में प्रवर्तता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता है और ज्ञानको जाने बिना विषयों से विरक्त हो तो कर्मों का क्षय नहीं करता है:––

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं।। ४।।

तावत् न जानाति ज्ञानं विषयबल: यावत् वर्त्तते जीव:।
विषये विरक्त मात्र: न क्षिपते पुरातनं कर्म।। ४।।

अर्थ:–– जब तक यह जीव विषयबल अर्थात् विषयों के वशीभूत रहता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता है और ज्ञान को जाने बिना केवल विषयों में विरक्तिमात्र ही

---

१ पाठान्तर : ––दु:खे णज्जदि। २ पाठान्तर : ––दु:खेन ज्ञायते।

दुष्कर जणावुं ज्ञाननुं, पछी भावना दुष्कर अरे!
वळी भावनायुत जीवने दुष्कर विषयवैराग्य छे। ३।

जाणे न आत्मा ज्ञानने, वर्ते विषयवश ज्यां लगी;
नहि क्षपण पूरव कर्मनुं केवळ विषयवैराग्यथी। ४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से पहिले बाँधे हुए कर्मोंका क्षय नहीं करता है।

भावार्थः––जीवका उपयोग क्रमवर्ती है और स्वस्थ (–स्वच्छत्व) स्वभाव है अतः जैसे ज्ञेयको जानता है उस समय उससे तन्मय होकर वर्त्तता है, अतः जब तक विषयों में आसक्त होकर वर्त्तता है तब तक ज्ञान का अनुभव नहीं होता है, इष्ट–अनिष्ट भाव ही रहते हैं और ज्ञानका अनुभव हुए बिना कदाचित् विषयोंको त्यागे तो वर्तमान विषयोंको छोड़े परन्तु पूर्वकर्म बाँधे थे उनका तो – ज्ञानका अनुभव हुए बिना क्षय नहीं होता है, पूर्व कर्म बंध को क्षय करने में (स्वसन्मुख) ज्ञान ही की सामर्थ्य है इसलिये ज्ञान सहित होकर विषय त्यागना श्रेष्ठ है, विषयों को त्यागकर ज्ञानकी भावना करना यही सुशील है।

आगे ज्ञान का, लिंगग्रहण का तथा तपका अनुक्रम कहते हैं:–––

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसण विहूणं।
संजम हीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।।५।।

ज्ञानं चारित्रहीनं लिंगग्रहणं च दर्शनविहीनं।
संयमहीनं च तपः यदि चरति निरर्थकं सर्वम्।।५।।

अर्थः––ज्ञान यदि चारित्र रहित हो तो वह निरर्थक है और लिंग का ग्रहण यदि दर्शनरहित हो तो वह भी निरर्थक है त–ा संयमरहित तप भी निरर्थक है, इस प्रकार ये आचरण करे तो सब निरर्थक हैं।

भावार्थः–––हेय–उपादेय का ज्ञान तो हो और त्याग–ग्रहण न करे तो ज्ञान निष्फल है, यथार्थ श्रद्धान के बिना भेष ले तो वह भी निष्फल है, (स्वात्मानुभूति के बल द्वारा) इन्द्रियों को वश में करना, जीवों की दया करना यह संयम है इसके बिना कुछ तो करे तो अहिंसादिक का विपर्यय हो तब तप भी निष्फल हो, इस प्रकार से इनका आचरण निष्फल होता है।। ५।।

आगे इसी लिये कहते हैं कि ऐसा करके थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है:–––

જે જ્ઞાન ચરણ વિહીન, ધારણ લિંગનું દગહીન જે,
તપચરણ જે સંયમ સુવિરહિત, તે બધુંય નિરર્થ છે। ૫।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ।। ६।।

ज्ञानं चारित्रसुद्धं लिंगग्रहणं च दर्शन विशुद्धम्।
संयमसहितं च तपः स्तोकमपि महाफलं भवति।। ६।।

अर्थः––ज्ञान तो चारित्रसे शुद्ध और लिंगका ग्रहण दर्शन से शुद्ध तथा संयमसहित तप, ऐसे थोड़ा भी आचरण करे तो महाफलरूप होता है।

भावार्थः––ज्ञान थोड़ा भी हो और आचरण शुद्ध करे तो बड़ा फल हो और यथार्थ श्रद्धानपूर्वक भेष ले तो बड़ा फल करे; जैसे सम्यग्दर्शन सहित श्रावक ही हो तो श्रेष्ठ और उसके बिना मुनिका भेष भी श्रेष्ठ नहीं है, इन्द्रिय संयम प्राणसंयम सहित उपवासादिक तप थोड़ा भी करे तो बड़ा होता है और विषयाभिलास तथा दयारहित बड़े कष्ट सहित तप करे तो भी फल नहीं होता है, ऐसे जानना।। ६।।

आगे कहते हैं कि यदि कोई ज्ञानको जानकर भी विषयासक्त रहते हैं वे संसार ही में भ्रमण करते हैं:–––

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइ भाव संसत्ता।
हिंडंति चादुरगद्दिं विसएसु विमोहिया मूढा।। ७।।

ज्ञानं ज्ञात्वा नराः केचित् विषयादिभाव संसक्ताः।
हिंडंते चर्तुगतिं विषयेषु विमोहिता मूढाः।। ७।।

अर्थः––कई मूढ़ मोही पुरुष ज्ञानको जानकर भी विषयरूप भावों में आसक्त होते हुए चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करते हैं,क्योंकि विषयों से विमोहित होने पर ये फिर भी जगत में प्राप्त होंगे इसमें भी विषय–कषयों का ही संस्कार है।

भावार्थः––ज्ञान प्राप्त करके विषय–कषाय छोड़ना अच्छा है, नहीं तो ज्ञान भी अज्ञान तुल्य ही है।। ७।।

जे ज्ञान चरणविशुद्ध, धारण लिंगनुं दृगशुद्ध जे,
तप जे ससंयम, ते भले थोडुं, महाफलयुक्त छे। ६।

नर कोई जाणी ज्ञानने, आसक्त रही विषयादिके,
भटके चतुर्गतिमां अरे! विषये विमोहित मूढ अे। ७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि जब ज्ञान प्राप्त करके इसप्रकार करे तब संसार कटे:---

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा।
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो।।८।।

ये पुनः विषयविरक्ताः ज्ञानं ज्ञात्वा भावनासहिताः।
छिन्दन्ति चतुर्गतिं तपोगुण युक्ताः न संदेहः।।८।।

अर्थः--जो ज्ञान को जानकर और विषयों से विरक्त होकर ज्ञानकी बारबार अनुभवरूप भावना सहित होते हैं वे तप और गुण अर्थात् मूलगुण उत्तरगुणयुक्त होकर चतुर्गतिरूप संसार को छेदते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

भावार्थः--ज्ञान प्राप्त करके विषय-कषाय छोड़कर ज्ञान की भावना करे, मूलगुण-उत्तरगुण ग्रहण करके तप करे वह संसार का अभाव करके मुक्तिरूप निर्मलदशा को प्राप्त होता है--यह शीलसहित ज्ञानरूप मार्ग है।। ८।।

आगे इसप्रकार शीलसहित ज्ञानसे जीव शुद्ध होता है उसका दृष्टांत कहते हैं:-

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण।
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण।।९।।

यथा कांचनं विशुद्धं धमत् खटिकालवणलेपेन।
तथा जीवोऽपि विशुद्धः ज्ञानविसलिलेन विमलेन।।९।।

अर्थः--जैसे कांचन अर्थात् सुवर्ण खडिया अर्थात् सुहागा [- खडिया क्षार] और नमक के लेप से विशुद्ध निर्मल कांतियुक्त होता है वैसे ही जीव भी विषय-कषायों के मलरहित निर्मल ज्ञानरूप जलसे प्रक्षालित होकर कर्मरहित विशुद्ध होता है।

भावार्थः--ज्ञान आत्माका प्रधान गुण है परन्तु मिथ्यात्व विषयों से मलिन है,

---

पण विषयमांही विरक्त,जाणी ज्ञान, भावनयुक्त जे,
निःशंक ते तप गुण सहित छेदे चतुर्गतिभ्रमणने। ८।

धमतां लवण-खडी लेपपूर्वक कनक निर्मळ थाय छे,
त्यम जीव पण सुविशुद्ध ज्ञानसलिलथी निर्मळ बने छे। ९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिये मिथ्यात्व विषयरूप मल को दूर करके इसकी भावना करे, इसका एकाग्रता से ध्यान करे तो कर्मों का नाश करे, अनन्तचतुष्टय प्राप्त करके मुक्त हो शुद्धात्मा होता है, यहाँ सुवर्ण का तो दृष्टांत है वह जानना।। ९।।

आगे कहते हैं कि जो ज्ञान पाकर विषयासक्त होता है वह ज्ञान का दोष नहीं है, कुपुरुष का दोष है:---

णाणस्स णत्थि दोसो कुप्पुरिसाणं वि मंदबुद्धीणं।
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति।। १०।।

ज्ञानस्य नास्ति दोषः कापुरुषस्यापि मंदबुद्धेः।
ये ज्ञानगर्विताः भूत्वा विषयेषु रज्जन्ति।। १०।।

अर्थः--जो पुरुष ज्ञान गर्वित होकर ज्ञान मद से विषयों में रंजित होते हैं सो यह ज्ञान का दोष नहीं है, वे मंदबुद्धि कुपुरुष हैं उनका दोष है।

भावार्थः--कोई जाने की ज्ञान से बहुत पदार्थों को जाने तब विषयों में रंजायमान होता है सो यह ज्ञान का दोष है, यहाँ आचार्य कहते हैं कि-- ऐसे मत जानो, ज्ञान प्राप्त करके विषयों में रंजायमान होता है सो यह ज्ञान का दोष नहीं है--यह पुरुष मंदबुद्धि है और कुपुरुष है उसका दोष है, पुरुष का होनहार खोटा होता है तब बुद्धि बिगड़ जाती है, फिर ज्ञान को प्राप्त कर उसके मद में मस्त हो विषय-कषायों में आसक्त हो जाता है तो यह दोष-अपराध पुरुष का है, ज्ञान का नहीं है। ज्ञान का कार्य तो वस्तु को जैसी हो वैसी बता देना ही है, पीछे प्रवर्तना तो पुरुष का कार्य है, इसप्रकार जानना चाहिये।। १०।।

आगे कहते हैं कि पुरुष को इस प्रकार निर्वाण होता है:---

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदि परिणिव्वाणं जीवानां चरित सुद्धाणं।। ११।।

जे ज्ञानथी गर्वित बनी विषयो महीं राचे जनो,
ते ज्ञाननो नहि दोष, दोष कुपुरुष मंदमति तणो। १०।

सम्यक्त्वसंयुत ज्ञान दर्शन, तप अने चारित्रथी,
चारित्रशुद्ध जीवो करे उपलब्धि परिनिर्वाणनी। ११।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन।
भविष्यति परिनिर्वाणं जीवानां चारित्रशुद्धानाम्।। ११।।

अर्थः––ज्ञान दर्शन तप इनका सम्यक्त्वभाव सहित आचरण हो तब चारित्र से शुद्ध जीवोंको निर्वाण की प्राप्ति होती है।

भावार्थः––सम्यक्त्वसहित ज्ञान दर्शन तप का आचरण करे तब चारित्र शुद्ध हो कर राग–द्वेषभाव मिट जावे तब निर्वाण पाता है, यह मार्ग है।। ११।। [तप–शुद्धोपयोगरूप मुनिपना, यह हो तो २२ प्रकार व्यवहार के भेद हैं।]

आगे इसी को शील की मुख्यता द्वारा नियम से निर्वाण कहते हैं:–––

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्त चित्ताणं।। १२।।

शीलं रक्षतां दर्शनशुद्धानां दृढचारित्राणाम्।
अस्ति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम्।। १२।।

अर्थः––जिन पुरुषों का चित्त विषयों से विरक्त है, शील की रक्षा करते हैं, दर्शन से शुद्ध हैं और जिनका चारित्र दृढ़ है ऐसे पुरुषों को ध्रुव अर्थात् निश्चयसे–नियमसे निर्वाण होता है।

भावार्थः––विषयों से विरक्त होना ही शील की रक्षा है, इसप्रकार से जो शील की रक्षा करते हैं उनही के सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है और चारित्र अतिचार रहित शुद्ध–दृढ़ होता है, ––– ऐसे पुरुषोंको नियम से निर्वाण होता है। जो विषयों में आसक्त है, उनके शील बिगड़ता है तब दर्शन शुद्ध न होकर चारित्र शिथिल हो जाता है, तब निर्वाण भी नहीं होता है, इसप्रकार निर्वाण मार्ग में शील ही प्रधान है।। १२।।

आगे कहते हैं कि कदाचित् कोई विरक्त न हुआ और 'मार्ग' विषयों से विरक्त होने रूप ही कहता है, उसको मार्ग की प्राप्ति होती भी है परन्तु जो विषय सेवन को ही 'मार्ग' कहता है तो उसका ज्ञान भी निरर्थक है:–––

जे शीलने रक्षे, सुदर्शन शुद्ध दृढ चारित्र जे,
जे विषयमांही विरक्तमन, निश्चित लहे निवार्णने। १२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विसएसु मोहिदाणं कह्यिं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं।
उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं।। १३।।

विषयेषु मोहितानां कथितो मार्गोऽपि इष्टदर्शिनां।
उन्मार्ग दर्शिनां ज्ञानमपि निरर्थकं तेषाम्।। १३।।

अर्थः–– जो पुरुष इष्ट मार्ग को दिखाने वाले ज्ञानी हैं और विषयों से विमोहित हैं तो भी उनको मार्ग की प्राप्ति कही है, परन्तु जो उन्मार्ग को दिखाने वाले हैं उनको तो ज्ञान की प्राप्ति भी निरर्थक है।

भावार्थः––पहिले कहा था कि ज्ञान के और शील के विरोध नहीं है। और यह विषय है कि ज्ञान हो और विषयासक्त होकर ज्ञान बिगड़े तब शील नहीं है। अव यहाँ इस प्रकार कहा है कि–––ज्ञान प्राप्त करके कदाचित् चारित्र मोह के उदय से [–उदयवश] विषय न छूटे वहाँ तक तो उनमें विमोहित रहे और मार्ग की प्ररूपणा करे विषयोंके त्याग रूप ही करे उसको तो मार्ग की प्राप्ति होती भी है, परन्तु जो मार्ग ही को कुमार्गरूप प्ररूपण करे विषय–सेवन को सुमार्ग बतावे तो उसकी तो ज्ञान–प्राप्ति भी निरथर्र ही है, ज्ञान प्राप्त करके भी मिथ्यामार्ग प्ररूपे उसके ज्ञान कैसा? वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

यहाँ आशय सूचित होता है कि––म्यक्त्वसहित अविरत सम्यक्दृष्टि तो अच्छा है क्योंकि सम्यग्दृष्टि कुमार्ग की प्ररूपणा नहीं करता, अपने को [चारित्रदोष से] चारित्रमोह का उदय प्रबल हो तब तक विषय नहीं छूटते है इसलिये अविरत है, परन्तु जो सम्यग्दृष्टि नहीं है और ज्ञान भी बड़ा हो, कुछ आचरण भी करे, विषय भी छोड़े और कुमार्ग का प्ररूपण करे तो वह अच्छा नहीं है, उसका ज्ञान और विषय छोड़ना निरर्थक है, इसप्रकार जानना चाहिये।। १३।।

आगे कहते हैं कि जो उन्मार्ग के प्ररूपण करने वाले कुमत कुशास्त्र की प्रशंसा करते हैं, वे बहुत शास्त्र जानते है तो भी शीलव्रतज्ञान से रहित हैं, उनके आराधन नहीं है:–––

છે ઇષ્ટદર્શી માર્ગમાં, હો વિષયમાં મોહિત ભલે;
ઉન્માર્ગદર્શી જીવનું જે જ્ઞાન તે ય નિરર્થ છે। ૧૩।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाई सत्थाइं।
शीलवदणाण रहिदा ण हु ते आराधया होंति।। १४।।

कुमतकुश्रुतप्रशंसका: जानंतो बहुविधानि शास्त्राणि।
शीलव्रतज्ञानरहिता न स्फुटं ते आराधका भवंति।। १४।।

अर्थ:––जो बहुत प्रकारके शास्त्रों को जानते हैं और कुमत कुशास्त्रकी प्रशंसा करने वाले हैं वे शीलव्रत और ज्ञान रहित हैं वे इनके आराधक नहीं हैं।

भावार्थ:––हो बहुत शास्त्रों को जानकर ज्ञान को बहुत जानते हैं और कुमत कुशास्त्रों की प्रशंसा करते हैं तो जानो की इनके कुमत से और कुशास्त्र से राग है–प्रीति है तब उनकी प्रशंसा करते हैं––ये तो मिथ्यात्व के चिन्ह हैं, जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ ज्ञान भी मिथ्या है और विषय–कषायों से रहित होने को शील कहते हैं वह भी उनके नहीं है, व्रत भी उनके नहीं है, कदाचित् कोई व्रताचरण करते हैं तो भी मिथ्याचारित्ररूप है, इसलिये दर्शन–ज्ञान–चारित्र के आराधने वाले नहीं हैं, मिथ्यादृष्टि हैं।। १४।।

आगे कहते हैं कि यदि रूप सुन्दरादिक सामग्री प्राप्त करे और शील रहित हो तो उसका मनुष्य जन्म निरर्थक है:–––

रुवसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म।। १५।।

रुपश्रीगर्वितानां यौवनलावण्यकांतिकलितानाम्।
शील गुणवर्जितानां निरर्थकं मानुषं जन्म।। १५।।

अर्थ:––जो पुरुष यौवन अवस्था सहित हैं और बहुतों को प्रिय लगते हैं ऐसे लावण्य सहित हैं, शरीर की कांति–प्रभा से मंडित हैं और सुन्दर रूप लक्ष्मी संपदा से गर्वित हैं, मदोन्मत्त हैं , परन्तु वे यदि शील और गुणों से रहित हैं तो उनका मनुष्य जनम निरर्थक है।

दुर्मत–कुशास्त्र प्रशंसको जाणे विविध शास्त्रो भले,
व्रत–शील–ज्ञानविहीन छे तेथी न आराधक खरे। १४।

हो रूपश्री गर्वित, भले लावण्य यौवन कान्ति हो,
मानव जन्म छे निष्प्रयोजन शीलगुणवर्जित तणो। १५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः–– मनुष्य जन्म प्राप्त करके शीलरहित हैं, विषयों में आसक्त रहते हैं, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रसे रहित हैं और यौवन अवस्था में शरीर की लावण्यता कांतिरूप सुन्दर, धन, संपदा प्राप्त करके इनके गर्व से मदोन्मत्त रहेत हैं तो उन्होंने मनुष्य जन्म निष्फल खोया, मनुष्यजन्म में सम्यग्दर्शनादिक का अंगीकार करना और शील संयम पालना योगय था, वह तो अंगीकार किया नहीं तब निष्फल ही गया।

ऐसा भी बताया है कि पहिली गाथा में कुमत कुशास्त्र की प्रशंसा करनेवाले का ज्ञान निरर्थक कहा था वैसे ही यहाँ रूपादिक का मद करो तो यह भी मिथ्यात्व का चिन्ह है, जो मद करे उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना तथा लक्ष्मीरूप यौवन कांति से मंडित हो और शीलरहित व्यभिचारी हो तो उसकी लोक में निंदा ही होती है।। १५।।

आगे कहते हैं कि बहुत शास्त्रोंका ज्ञान होते हुए भी शील ही उत्तम है:–––

वायरण छंद वइसेसियववहारणायसत्थेसु।
वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तम शीलं।। १६।।

व्याकरणछन्दो वैशेषिकव्यवहारन्यायशास्त्रेषु।
विदित्वा श्रुतेषु च तेषु श्रुतं उत्तमं शीलम्।। १६।।

अर्थः––व्याकरण, छहद, वैशेषिक, व्यवहार, न्यायशास्त्र–––ये शास्त्र और श्रुत अर्थात् जिनागम इनमें उन व्याकरणादिक को और श्रुत अर्थात् जिनागम को जानकर भी, इनमें शील हो वही उत्तम है।

भावार्थः––व्याकरणादि शास्त्र जाने और जिनागम को भी जाने तो भी उनमें शील ही उत्तम है। शास्त्रों को जानकर भी विषयों में ही आसक्त है तो उन शास्त्रों का जानना वृथा है, उत्तम नहीं है।। १६।।

आगे कहते हैं कि जो शीलगुण से मंडित हैं वे देवों के भी वल्लभ हैं:–––

---

१ पाठान्तर : – मदं ।

व्याकरण, छंदो, न्याय, वैशेषिक व्यवहारादिनां,
शास्त्रो तणुं हो ज्ञान तोपण शील उत्तम सर्वमां। १६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति।
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए।। १७।।

शीलगुणमंडितानां देवा भव्यानां वल्लभा भवंति।
श्रुतपारग प्रचुराः णं दुःशीला अल्पकाः लोके।। १७।।

अर्थः—— जो भव्य प्राणी शील और सम्यग्दर्शन गुण अथवा शील वही गुण उससे मंडित हैं उनका देव भी वल्लभ होता है, उनकी सेवा करने वाले सहायक होते हैं। जो श्रुतपारग अर्थात् शास्त्र के पार पहुँचे हैं, ग्यारह अंग तक पढ़े हैं ऐसे बहुत हैं और उनमें कई शीलगुण से रहित हैं, दुःशील हैं, विषय–कषायों में असक्त हैं तो वे लोक में 'अल्पका' अर्थात् न्यून हैं, वे मनुष्यों के भी प्रिय नहीं होते हैं तब देव कहाँ से सहायक हों?

भावार्थः——शास्त्र बहुत जाने और विषयासक्त हो तो उसका कोई सहायक न हो, चोर और अन्यायकी लोकमें कोई सहायता नहीं करता है, परन्तु शीलगुण से मंडित हो और ज्ञान थोड़ा भी हो तो उसके उपकारी सहायक देव भी होते हैं तब मनुष्य तो सहायक होते ही हैं। शील गुणवाला सबका प्यारा होता है।। १७।।

आगे कहते हैं कि जिने शील है——सुशील हैं उनका मनुष्य भव में जीना सफल है अच्छा है:———

सव्वे वि य परिहीणा रुपविरुवा वि पडिदसुवया वि।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं।। १८।।

सर्वेऽपि च परिहीनाः रुपविरुपा अपि पतित सुवयसोऽपि।
शीलं येषु सुशीलं सुजीविदं मानुष्यं तेषाम्।। १८।।

अर्थः——जो सब प्राणियों में हीन है, कुलादिक से न्यून है और रूप से विरूप है सुन्दर नहीं है, 'पतितसुवयसः' अर्थात् अवस्था से सुन्दर नहीं है, वृद्ध हो गये हैं,

---

रे! शीलगुणमंडित भविकना देव वल्लभ होय छे;
लोके कुशील जनो, भले श्रुतपारगत हो, तुच्छ छे। १७।

सौथी भले हो हीन, रूपविरूप, यौवनभ्रष्ट हो,
मानुष्य तेनुं छे सुजीवित, शील जेनुं सुशील हो। १८।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परन्तु जिनमें शील सुशील है, स्वभाव उत्तम है, कषायादिक की आसक्तता नहीं है उनका मनुष्यपना सुजीवित है, जीना अच्छा है।

भावार्थः––लोक में सब सामग्री से जो न्यून है परन्तु स्वभाव उत्तम है, विषयकषयों में आसक्त नहीं है तो वे उत्तम ही हैं, उनका मनुष्यभव सफल है, उनका जीवन प्रशंसा के योग्य है।। १८।।

आगे कहते हैं कि जितने भी भले कार्य हैं वे सब शील के परिवार हैं:–––

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेर संतोसे।
सम्मद्दंसण णाणं तओय सीलस्स परिवारो।। १९।।

जीवदया दमः सत्यं अचौर्य ब्रह्मचर्य संतोषौ।
सम्यग्दर्शन ज्ञान तपश्य शीलस्य परिवारः।। १९।।

अर्थः–––जीव दया, इन्द्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप–––ये सब शील के परिवार हैं।

भावार्थः––शीलस्वभाव का तथा प्रकृति का नाम प्रसिद्ध है। मिथ्यात्व सहित कषयरूप ज्ञानकी परिणति तो दुःशील है, इसको संसारप्रकृति कहते हैं, यह प्रकृति पलटे और सम्यक् प्रकृति हो वह सुशील है, इसको मोक्षसन्मुख प्रकृति कहते हैं। ऐसे सुशील के 'जीवदयादिक' गाथा में कहे वे सब ही परिवार हैं, क्योंकि संसारप्रकृति पलटे तब संसार देह से वैराग्य हो और मोक्ष से अनुराग हो तब ही सम्यग्दर्शनादिक परिणाम हों, फिर जितनी प्रकृति हो वह सब मोक्षके सन्मुख हो, यही सुशील है। जिसके संसारका अंत आता है उसके यह प्रकृति होती है और यह प्रकृति न हो तब तक संसार भ्रमण ही है, ऐसे जानना।। १९।।

आगे शील ही तप आदिक है ऐसे शीलकी महिमा कहते हैं:–––

प्राणीदया, दम, सत्य, ब्रह्म अचौर्य ने संतुष्टता,
सम्यक्त्व, ज्ञान तपश्चरण छे शीलना परिवारमां। १९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाण सुद्धीय।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं।। २०।।

शीलं तपः विशुद्ध दर्शनशुद्धिश्च ज्ञान शुद्धिश्च।
शीलं विषयाणामरिः शीलं मोक्षस्य सोपानम्।। २०।।

अर्थः––शील ही विशुद्ध निर्मल तप है, शील ही दर्शन की शुद्धता है, शील ही ज्ञान की शुद्धता है, शील ही विषयोंका शत्रु है और शील ही मोक्ष की सीढ़ी है।

भावार्थः––जीव अजीव पदार्थों का ज्ञान करके उसमें से मिथ्यात्व और कषायों का अभाव करान वह सुशील है, यह आत्मा का ज्ञान स्वभाव है वह संसार प्रकृति मिटकर मोक्ष सन्मुख प्रकृति हो तो तब इस शील ही के तप आदिक सब नाम हैं–––निर्मल तप, शुद्ध दर्शन ज्ञान, विषय – कषायों का मेटना, मोक्ष की सीढ़ी ये सब शील के नाम के अर्थ हैं, ऐसे शील के महात्म्य का वर्णन किया है और यह केवल महिमा ही नहीं है इन सब भावों के अविनाभावीपना बताया है।। २०।।

आगे कहते हैं कि विषयरूप विष महा प्रबल हैः–––

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं।
सव्वेसिं पिविणासदि विसयविसं दारुणं होई।। २१।।

यथा विषय लुब्धः विषदः तथा स्थावर जंगमान् घोरान्।
सर्वान् अपि विनाशयति विषयविसं दारुणं भवति।। २१।।

अर्थः––जैसे विषय सेवनरूपी विष विषय–लुब्ध जीवों को विष देनेवाला है, वैसे ही घोर तएव्र स्थावर–जंगम सब ही विष प्राणियों का विनाश करते हैं तथापि इन सब विषों में विषयों का विष उत्कृष्ट है तीव्र है।

भावार्थः––जैसे हस्ती मीन भ्रमर पतंग आदि जीव विषयों में लुब्ध होकर विषयों

छे शील ते तप शुद्ध, ते दृग शुद्धि, ज्ञानविशुद्धि छे,
छे शील अरि विषयो तणो ने शील शीव सोपान छे। २०।

विष घोर जंगम–स्थावरोनुं नष्ट करतुं सर्वने,
पण विषयलुब्धतणुं विघातक विषयविष अति रौद्र छे। २१।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के विष हो नष्ट होते हैं वैसे ही स्थावर विष मोहरा, सोमल आदिक और जंगम का विष सर्प, घोहरा आदिक का---इन विषों से भी प्राणी मारे जाते हैं, परंतु सब विषों में विषयों का विष अति ही तीव्र है।। २१।।

आगे इसी का समर्थन करने के लिये विषयों के विषका तीव्रपना कहते हैं कि--विषकी वेदना से तो एकबार मरता है और विषयों से संसार में भ्रमण करता है:---

वारि एक्कम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकंतारे।। २२।।

वारे एकस्मिन् जन्मनि गच्छेत् विषवेदनाहतः जीवः।
विषयविषपरिहता भ्रमंति संसारकांतारे।। २२।।

अर्थ:--विष की वेदना से नष्ट जीव तो एक जन्म में ही मरता है परन्तु विषयरूप विषसे नष्ट जीव अतिशयतया – बारबार संसाररूपी वन में भ्रमण करते हैं। (पुण्य की और राग की रुचि वही विषय बुद्धि है।)

भावार्थ:--अन्य सपारदिक के विषसे विष्यों का विष प्रबल है, इनकी आसक्ति से ऐसा कर्मबंध होता है कि उससे बहुत जन्म–मरण होते हैं।। २२।।

आगे कहते हैं कि विषयों की आसक्ति से चतुर्गति में दुःख ही पाते हैं:---

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणवेसु दुक्खाइं।
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासिया जीवा।। २३।।

नरकेषु वेदनाः तिर्यक्षु मानुषेषु दुःखानि।
देवेषु अपि दौर्भाग्यं लभंते विषयासक्ता जीवाः।। २३।।

अर्थ:--विषयों में आसक्त जीव नरकमें अत्यंत वेदना पाते हैं, तिर्यंचों में तथा

विषवेदनाहत जीव अेक ज वार पामे मरणने,
पण विषयविषहत जीव तो संसारकांतारे भमे। २२।

बहु वेदना नरको विषे, दुःखो मनुज–तिर्यंचमां,
देवेय दुर्भगता लहे विषयावलंबी आतमा। २३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मनुष्यों में दुःखों को पाते हैं और देवों में उत्पन्न हों तो वहाँ भी दुभारुग्यपना पाते हैं, नीच देव होते हैं, इसप्रकार चारों गतियों में दुःख ही पाते हैं।

भावार्थः––विषयासक्त जीवों को कहीं भी सुख नहीं है, परलोक में तो नरक आदि के दुःख पाते ही हैं परन्तु इस लोक में भी इनके देवन करने में आपत्ति व कष्ट आते ही हैं तथा सेवन से आकुलता दुःख ही है, यह जीव भ्रम से सुख मानता है, सत्यार्थ ज्ञानी तो विरक्त ही होता है।। २३।।

आगे कहते हैं कि विषयों को छोड़ने से कुछ भी हानि नहीं है:––

तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि।
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विस व खलं।। २४।।

तुषधमद्बलेन च यथा द्रव्यं न हि नराणां गच्छति।
तपः शीलमंतः कुशलाः क्षिपंते विषयं विषमिव खलं।। २४।।

अर्थः––जैसे तुषों के चलाने से, उड़ाने से मनुष्य का कुछ द्रव्य नहीं जाता है, वैसे ही तपस्वी और शीलवान् पुरुष विषयोंको खलकी तरह क्षेपते हैं, दूर फेंक देते हैं।

भावार्थः––जो ज्ञानी तप शील सहित है उनके इन्द्रियों के विषय खल की तरह हैं, जैसे ईखका रस निकाल लेने के बाद खल–चूसे नीरस हो जाते हैं तब वे फेंक देने योग्य ही हैं, वैसे ही विषयों को जानना। रस था वह तो ज्ञानियों ने जान लिया तब विषय तो खल के समान रहे, उनके त्यागने में क्या हानि? अर्थात् कुछ भी नहीं है। उन ज्ञानियों को धन्य है जो विषयों को ज्ञेयमात्र जानकर आसक्त नहीं होते हैं।

जो आसक्त होते हैं वे तो अज्ञानी ही हैं। क्योंकि विषय तो जड़ पदार्थ है सुख तो उनको जानने से ज्ञान में ही था, अज्ञानी ने आसक्त होकर विषयों में सुख माना। जैसे श्वान सूखी हड्डी चबाता है तब हड्डी की नोक मुखके तलवे में चुभती है, इससे तलवा फट जाता है और उसमें से खून बहने लगता है, तब अज्ञानी श्वान जानता है कि यह रस हड्डी में से निकला है और उस हड्डी को बार बार चबा कर सुख मानता है; वैसे ही अज्ञानी विषयों में सुख मानकर बार बार भोगता है, परन्तु ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में ही सुख जाना है, उनको विषयों के त्याग में दुःख नहीं है, ऐसे जानना।। २४।।

तुष दूर करतां जे रीते कंई द्रव्य नरनुं न जाय छे,
तप शीलवंत सुकुशल खल माफक, विषयविषने तजे। २४।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि कोई प्राणी शरीर के अवयव सुन्दर प्राप्त करता है तो भी सब अंगों में शील ही उत्तम है:---

*वट्टेसु य खंडेसु य भद्देसु य विसाले सु अंगेसु।
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं शीलं।। २५।।

वृत्तेषु च खंडेषु च भद्रेषु च विशालेषु अंगेषु।
अंगेषु च प्राप्तेषु च सर्वेषु च उत्तमं शीलं।। २५।।

अर्थ:---प्राणी के देह में कई अंग तो वृत्त अर्थात् गोल सुघट प्रशंसा योग्य होते हैं, कई अंग खंड़ अर्थात् अर्द्ध गोल सदृश प्रशंसा योग्य होते हैं, कई अंग भद्र अर्थात् सरल सीधे प्रशंसा योग्य होते हैं और कई अंग विशाल अर्थात् विस्तीर्ण चोड़े प्रशंसा योग्य होते हैं, इसप्रकार सबही अंग यथास्थान शोभा पाते हुए भी अंगों में यह शील नामका अंग ही उत्तम है, यह न हो तो सबही अंग शोभा नहीं पाते हैं, यह प्रसिद्ध है।

भावार्थ:--- लोक में प्राणी सर्वांग सुन्दर हो परन्तु दु:शील हो तो सब लोक द्वारा निंदा करने योग्य होता है, इसप्रकार लोकमें भी शील ही की शोभा है तो मोक्ष में भी शील ही को प्रधान कहा है, जितने सम्यग्दर्शनादिक मोक्ष के अंग हैं वे शील ही के परिवार हैं ऐसा पहिले कह आये हैं।। २५।।

आगे कहते हैं कि जो कुबुद्धि से मूढ़ हो गये हैं वे विषयों में आसक्त हैं कुशील हैं संसार में भ्रमण करते हैं:---

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलेहिं।
संसारे भमिदव्यं अरयघरट्टं व भूदेहिं।। २६।।

---

* 'वट्टे' पाठान्तर

छे भद्र, गोळ, विशाळ ने खंडात्म अंग शरीरमां,
ते सर्व होय सुप्राप्त तो पण शील उत्तम सर्वमां। २५।

दुर्मतविमोहित विषयलुब्ध जनो ईतरजन साथमां,
अरघट्टिकाना चक्र जेम परिभ्रमे संसारमां। २६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुरिषेणापि सहितेन कुसमयमूढैः विषयलौलैः।
संसारे भ्रमितव्यं अरहटघरट्टं इव भूतैः।। २६।।

अर्थः––जो कुसमय अर्थात् कुमत से मूढ़ हैं वे ही अज्ञानी हैं और वे ही विषयों में लोलुपी हैं–––आसक्त हैं, वे जैसे अरहट में घड़ी भ्रमण करती है वैसे ही संसार में भ्रमण करते हैं, उनके साथ अन्य पुरुषों के भी संसार में दुःख सहित भ्रमण होता है।

भावार्थः––कुमती विषयासक्त मिथ्यादृष्टि आप तो विषयों को अच्छे मानकर सेवन करते हैं। कई कुमती ऐसे भी हैं जो इसप्रकार कहते हैं कि सुन्दर विषय सेवन करने से ब्रह्म प्रसन्न होता है, [–यह तो ब्रह्मानंद है] यह परमेश्वर की बड़ी भक्ति है, ऐसा कह कर अत्यंत आसक्त होकर सेवन करते हैं। ऐसा ही उपदेश दूसरों को देकर विषयों में लगते हैं, वे आप तो अरहट की घड़ी की तरह संसार में भ्रमण करते ही हैं, अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं परन्तु अन्य पुरुषों को भी उनमें लगा कर भ्रमण कराते हैं, इसलिये यह विषय सेवन दुःख ही के लिये है, दुःख ही का कारण है, ऐसा जानकर कुमतियों का प्रसंग न करना, विषयासक्त्पना छोड़ना, इससे सुशीलपना होता है।।२६।।

आगे कहते हैं कि जो कर्म की गांठ विषय–सेवन करके आप ही बांधी है उसको सत्पुरुष तपश्चरणादि करके आप ही काटते हैं:–––

आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरंगेहिं।
तं छिन्दन्ति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण।। २७।।

आत्मनि कर्मग्रन्थिः या बद्धा विषयरागरागैः।
तां छिन्दन्ति कृतार्थाः तपः संयमशील गुणे न।। २७।।

अर्थः––जो विषयों के रागरंग करके आप ही कर्म की गाँठ बाँधी है उसको कृतार्थ पुरुष [––उत्तम पुरुष] तप संयम शील के द्वारा प्राप्त हुआ जो गुण उसके द्वारा छेदते हैं–– खोलते हैं।

भावार्थः––जो कोई आप गाँठ घुलाकर बाँधे उसको खोलने का विधान भी आप

---

१ संस्कृत प्रति में – 'विषयरायमोहेहि' ऐसा पाठ है, छाया में 'विषयरागमोहैः' है।

जे कर्मग्रंथि विषय रागे बद्ध छे आत्मा विषे,
तपचरण–संयम–शीलथी सुकृतार्थ छेदे तेहने। २७।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही जाने, जैसे सुनार आदि कारीगर आभूषणादिक की संधि के टाँका ऐसा झाले कि वह संधि अदृष्ट हो जाय, तब उस संधि को टाँके का झालने वाला ही पहिचान कर खोले, वैसे ही आत्माने अपने ही रागादिक भावों से कर्मों की गाँठ बांधी है उसको आप ही भेदविज्ञान करके रागादिकके और आपके जो भेद हैं उस संधि को पहिचान कर तप संयम शीलरूप भावरूप शस्त्रों के द्वारा कर्म बंध को काटता है, ऐसा जानकर जो कृतार्थ पुरुष है वे अपने प्रयोजन के करनेवाले हैं, वे इस शीलगुणको अंगीकार करके आत्मा को कर्म से भिन्न करते हैं, यह परुषार्थ पुरुषों का कार्य है।। २७।।

आगे जो शील के द्वारा आत्मा शोभा पाता है उसको दृष्टांत द्वारा दिखाते है:--

उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं।
सोहेंतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो।। २८।।

उदधिरिव रत्नभृत: तपोविनयशीलदानरत्नानाम्।
शोभते च सशील: निर्वाणमनुत्तरं प्राप्त:।। २८।।

अर्थ:--जैसे समुद्र रत्नों से भरा है तो भी जलसहित शोभा पाता है, वैसे ही यह आत्मा तप विनय शीलवान इन रत्नोंमें शीलसहित शोभा पाता है, क्योंकि जो शील सहित हुआ उसने अनुत्तर अर्थात् जिससे आगे और नहीं है ऐसे निर्वाणपद को प्राप्त किया।

भावार्थ:--जैसे समुद्र में रत्न बहुत हैं तो भी जल ही से 'समुद्र' नामको प्राप्त करता है, वैसे ही आत्मा अन्य गुणसहित हो तो भी शीलसे ही निर्वाणपद को प्राप्त करता है, ऐसा जानना।। २८।।

आगे जो शीलवान पुरुष हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं यह प्रसिद्ध करके दिखाते हैं:

सुणहाण गद्दहाण य गोवसुमहिलाण दीसदे मोक्खो।
जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं।। २९।।

तप-दान-शील-सुविनय-रत्नसमूह सह जलधि समो,
सोहंत जीव सशील पामे श्रेष्ठ शिवपदने अहो! २८।

देखाय छे शुं मोक्ष स्त्री-पशु-गाय-गर्दभ-श्वाननो?
जे तुर्यने साधे लहे छे मोक्ष; देखे सौ जनो। २९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुनां गर्दभानां च गोपशुमहिलानां दृश्यते मोक्षः।
ये शोधयंति चतुर्थं दृश्यतां जनैः सर्वैः।। २९।।

अर्थः––आचार्य कहते हैं कि––यह सब लोग देखो––श्वान, गर्दभ इनमें और गौ आदि पशु तथा स्त्री इनमें किसी का मोक्ष होना दिखता है? वह तो दिखता नहीं है। मोक्ष तो चौथा पुरुषार्थ है, इसलिये जो चतुर्थ परुषार्थ को शोधते हैं उन्ही के मोक्ष का होना देखा जाता है।

भावार्थः––धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चार पुरुष के ही प्रयोजन कहे हैं यह प्रसिद्ध है, इसी से इनका नाम पुरुषार्थ है ऐसा प्रसिद्ध है। इनमें चौथा पुरुषार्थ मोक्ष है, उसको पुरुष ही शोधते हैं और पुरुष ही उसको हेरते हैं–––उसकी सिद्ध करते हैं, अन्य अन्य श्वान गर्दभ बैल पशु स्त्री इनके मोक्ष का शोधना प्रसिद्ध नहीं है, जो हो तो मोक्ष का पुरुषार्थ ऐसा नाम क्यों हो? यहाँ आशय ऐसा है कि मोक्ष शील से होता है, और श्वान गर्दभ आदिक हैं वे तो अज्ञानी हैं कुशील हैं, उनका स्वभाव प्रकृति ही ऐसी है कि पलट कर मोक्ष होने योग्य तथा उसके शोधने योग्य नहीं हैं, इसलिये पुरुष को मोक्ष का साधन शील को जानकर अंगीकार करना, सम्यग्दर्शनादिक है वह तो शील ही के परिवार पहिले कहे ही हैं इसप्रकार जानना चाहिये।। २९।।

आगे कहते हैं कि शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है, इसका उदाहरण कहते हैं:––

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो।
तो सो सच्चइपुत्तो दसपुव्वीओविकिं गदो णरयं।। ३०।।

यदि विषयलोलैः ज्ञानिभिः भवेत् साधितः मोक्षः।
वर्हि सः सात्यकिपुत्रः दशपूर्विकः किं गतः नरकं।। ३०।।

अर्थः––जो विषयों में लोल अर्थात् लोलुपी – आसक्त और ज्ञानसहित ऐसे ज्ञानियों ने मोक्ष साधा हो तो दश पूर्वको जाननेवाला रुद्र नरक को क्यों गया?

भावार्थः–– शुष्क कोरे ज्ञान ही से मोक्ष किसीने साधा कहें तो दश पूर्वका पाठी रुद्र नरक क्यों गया? इसलिये शील के बिना केवल ज्ञान ही मोक्ष नहीं है रुद्र कुशील सेवन करनेवाला हुआ, मुनिपद से भ्रष्ट होकर कुशील सेवन किया इसलिये नरक में गया, यस कथा पुराणों में प्रसिद्ध है।। ३०।।

जो मोक्ष साधित होत विषयविलुब्ध ज्ञानधरो वडे,
दशपूर्वधर पण सात्यकिसुत केम पामत नरक ने? ३०।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि शील के बिना ज्ञान ही से भाव की शुद्धता नहीं होती है:---

जइ णाणेण विसोही सीलेण विणा बुहेहिं णिद्दिट्ठो।
दसपुव्वियरस भावो य ण किं पुणु णिम्मलो जादो।। ३१।।

यदि ज्ञानेन विशुद्धः शीलेन विना बुधैर्निर्दिष्टः।
दशपूर्विकस्य भावः च न किं पुनः निर्मलः जातः।। ३१।।

अर्थः--जो शील के बिना ज्ञान ही से विसोह अर्थात् विशुद्धभाव पंडितों ने कहा हो तो दश पूर्वको जानने वाला जो रुद्र उसका भाव निर्मल क्यों नहीं हुआ, इसलिये ज्ञात होता है कि भाव निर्मल शील से होते हैं।

भावार्थः--कोरा ज्ञान तो ज्ञेय को ही बताता है इसलिये वह मिथ्यात्व कषाय होने पर विपर्यय हो जाता है, अतः मिथ्यात्व कषाय का मिटना ही शील है, इसप्रकार शीलके बिना ज्ञान ही से मोक्ष की सिद्धि होती नहीं, शील के बिना मुनि भी हो जाय तो भ्रष्ट हो जाता है। इसलिये शील को प्रधान जानना।। ३१।।

आगे कहते हैं कि यदि नरक में भी शील हो जाय और विषयों से विरक्त हो जाय तो वहाँ से निकल कर तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है:---

जाए विसयविरत्तो सो गमयदि णरयवेयणा पउरा।
ता लेहदि अरुहपयं भणियंजिणवड्ढमाणेण।। ३२।।

यः विषयविरक्तः सः गमयति नरकवेदनाः प्रचुराः।
तत् लभते अर्हतादं भणितं जिनवर्द्धमानेव।। ३२।।

अर्थः--विषयों से विरक्त है सो जीव नरक की बहुत वेदना को भी गँचाता है--वहाँ भी अति दुःखी नहीं होता और वहाँ से निकल कर तीर्थंकर होता है ऐसा जिन वर्द्धमान भगवान् ने कहा है।

जो शील विण बस ज्ञानथी कही होय शुद्धि ज्ञानीओ,
दशपूर्वधरनो भाव केम थयो नहीं निर्मळ अरे? ३१।

विषये विरक्त करे सुसह अति-उग्र नारकवेदना,
ने पामता अर्हंतपद :- वीरे कह्युं जिनमार्गमां। ३२।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः––जिनसिद्धांत में ऐसे कहा है कि––तीसरी पृथ्वी से निकलकर तीर्थंकर होता है वह यह भी शील ही का महात्म्य है। वहाँ सम्यक्त्वसहित होकर विषयों से विरक्त हुआ भली भावना भावे तब नरक–वेदना भी अल्प हो जाती है और वहाँ से निकलकर अरहंतपद प्राप्त करके मोक्ष पाता है, ऐसा विषयों से विरक्तभाव वह शीलका ही महात्म्य जानो। सिद्धांत में इस प्रकार का कहा है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य की शक्ति नियम से होती है, वह वैराग्यशक्ति है वही शील का एकदेश है इसप्रकार जानना।। ३२।।

आगे इस कथन का संकोच करते हैं:–––

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाण दरसीहिं।
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं य लोयणाणेहिं।। ३३।।

एवं बहुप्रकारं जिनैः प्रत्यक्ष ज्ञानदर्शिभिः।
शीलेन च मोक्षपदं अक्षातीतं च लोकज्ञानैः।। ३३।।

अर्थः––एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार तथा अन्य प्रकार [–बहुत प्रकार] जिनके प्रत्यक्ष ज्ञान–दर्शन पाये जाते हैं और जिनके लोक–अलोक का ज्ञान है ऐसे जिनदेव ने कहा है कि शील से अक्षातीत–––जिनमें इन्द्रियरहित अतीन्द्रिय ज्ञान सुख है ऐसा मोक्षपद होता है।

भावार्थः–––सर्वज्ञदेवने इसप्रकार कहा है कि शीलसे अतीन्द्रिय ज्ञान सुखरूप मोक्षपद प्राप्त होता है वह भव्यजीव इस शीलको अंगीकार करो, ऐसा उपदेश का आशय सूचित होता है; बहुत कहाँ तक कहें इतना ही बहुत प्रकार से कहा जानो।।३३।।

आगे कहते हैं कि इस शील से निर्वाण होता है, उसका बहुत प्रकार से वर्णन है वह कैसे ?:–––

अत्यक्ष–शिवपद प्राप्ति आम घणा प्रकारे शीलथी
प्रत्यक्ष दर्शनज्ञानधर लोकज्ञ जिनदेवे कही। ३३।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्मत्तणाण दंसण तववीरयि पंचयारमप्पाणं।
जलणो वि पवण सहिदो डहंति पोरायणं कम्मं।। ३४।।

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनतपोवीर्यपंचाचाराः आत्मनाम्।
ज्वलनोऽपि पवनसहितः दहंति पुरातनं कर्म।। ३४।।

अर्थः––सम्यक्त्व–ज्ञान–दर्शन–वीर्य ये पँच आचार है वे आत्मा का आश्रय पाकर पुरातन कर्मोंको वैसे ही दग्ध करते हैं जैसे कि पवन सहित अग्नि पुराने सुखे ईंधन को दग्ध कर देती है।

भावार्थः––यहाँ सम्यक्त्व आदि पँच आचार तो अग्निस्थानीय हैं और आत्मा के त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को शील कहते हैं, यह आत्मा का स्वभाव पवनस्थानीय है, वह पँच आचाररूप अग्नि और शीलरूपी पवन की सहायता पाकर पुरातन कर्मबंध को दग्ध करके आत्मा को शुद्ध करता है, इसप्रकार शील ही प्रधान है। पाँच आचारों में चारित्र कहा है और यहाँ सम्यक्त्व कहने में चारित्र ही जानना, विरोध न जानना।। ३४।।

आगे कहते हैं कि ऐसे अष्ट कर्मोंको जिनने दग्ध किये वे सिद्ध हुए हैं:–––

णिद्दड्ढ अट्ठकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा।
तवविणयशीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्ता।। ३५।।

निर्दग्धाष्टकर्माणः विषयविरक्ता जितेंद्रिया धीराः।
तपोविनयशील सहिताः सिद्धाः सिद्धिं गतिं प्राप्ताः।। ३५।।

अर्थः––जिन पुरुषों ने इन्द्रियोंको जीत लिया है इसी से विषयों से विरक्त हो गये हैं, और धीर हैं, परिषहादि उपसर्ग आने पर चलायमान नहीं होते हैं, तप विनय शीलसहित हैं वे अष्ट कर्मों को दूर करके सिद्धगति जो मोक्ष उसको प्राप्त हो गये हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

सम्यक्त्व–दर्शन–ज्ञान–तप–वीर्याचरण आत्मा विषे,
पवने सहित पावक समान, दहे पुरातन कर्मने। ३४।

विजितेन्द्रि विषय विरक्त थई, धरीने विनय–तप–शीलने,
धीरा दही वसु कर्म, शीवगतिप्राप्त सिद्ध प्रभु बने। ३५।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः-––यहाँ भी जितेन्द्रिय और विषयविरक्तता ये विशेषण शील ही की प्रधानता दिखाते हैं।। ३५।।

आगे कहते हैं कि जो लावण्य और शील युक्त हैं वे मुनि प्रशंसा योग्य होते हैं:––

लावण्णसील कुसलो जम्ममहीरुहोजस्स सवणस्स।
सो सीलो स महप्पा भमिज्ज गुणवित्थरं भविए।। ३६।।

लावण्यशीलकुशलः जन्ममही रुहः यस्य श्रमणस्य।
सः शीलः स महात्मा भ्रमेत गुणविस्तारः भव्ये।। ३६।।

अर्थः––जिस मुनि का जन्मरूप वृक्ष लावण्य अर्थात् अन्य को प्रिय लगता है ऐसे सर्व अंग सुन्दर तथा मन वचन काय की चेष्टा सुन्दर और शील अर्थात् अंतरंग मिथ्यात्व विषय रहित परोपकारी स्वभाव, इन दोनों में प्रवीण निपुण हो वह शीलवान् है महात्मा है उसके गुणोंका विस्तार लोकमें भ्रमता है, फैलता है।

भावार्थः––ऐसे मुनि के गुण लोक में विस्तार को प्राप्त होते हैं, सर्व लोक के प्रशंसा योग्य होते हैं, यहाँ भी शील ही कि महिमा जानना और वृक्ष का स्वरूप कहा, जैसे वृक्ष के शाखा, पत्र, पुष्प, फल सुन्दर हों और छायादि करके रागद्वेष रहित सब लोकका समान उपकार करे उस वृक्ष की महिमा सब लोग करते हैं; ऐसे ही मुनि भी ऐसा हो तो सबके द्वारा महिमा करने योग्य होता है।। ३६।।

आगे कहते हैं कि जो ऐसा हो वह जिनमार्ग में रत्नत्रय की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त होता है:–––

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धीय [१]वीरयायत्तं।
सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं।। ३७।।

---

१ – मुद्रित सं० प्रतिमें 'वीरियावत्तं' ऐसा पाठ है जिकी छाया 'वीर्यत्व' है।

जे श्रमण केरुं जन्मतरु लावण्य–शील समृद्ध छे,
ते शीलधर छे, छे महात्मा लोकमां गुण विस्तरे। ३६।

जे श्रमण केरुं जन्मतरु लावण्य–शील समृद्ध छे,
ते शीलधर छे, छे महात्मा लोकमां गुण विस्तरे। ३६।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानं ध्यानं योगः दर्शन शुद्धिश्च वीर्यायत्ताः।
सम्यक्त्वदर्शनेन च लभन्ते जिनशासने बोधिं।। ३७।।

अर्थः––ज्ञान, ध्यान, योग, दर्शन की शुद्धता ये तो वीर्य के आधीन हैं और सम्यग्दर्शन से जिनशासन में बोधि को प्राप्त करते हैं, रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है।

भावार्थः––ज्ञान अर्थात् पदाथोंक को विशेषरूप से जानना, ध्यान अर्थात् 'स्वरूप में' एकाग्रचित्त होना, योग अर्थात् समाधि लगाना, सम्यग्दर्शन को निरतिचार शुद्ध करना ये तो अपने वीर्य [शक्ति] के आधीन है, जिना बने उतना हो परन्तु सम्यग्दर्शन से बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति होती है, इसके होने पर विशेष ध्यानादिक भी यथाशक्ति होते ही हैं और इससे शक्ति भी बढ़ती है। ऐसे कहने में भी शील ही का महात्म्य जानना, रत्नत्रय है वही आत्मा का स्वभाव है, उसको शील भी कहते हैं।।३७।।

आगे कहते हैं कि यह प्राप्ति जिनवचन से होती है:––

जिणवचणगहिदसारा विसयविरत्ता तावोधणा धीरा।
सील सलिलेण ण्हादा ते सिद्धालय सुहं जंति।। ३८।।

जिनवचनगृहीतसारा विषयविरक्ताः तपोधना धीराः।
शील सलिलेन स्नाताः ते सिद्धालय सुखं यांति।। ३८।।

अर्थः––जिनने जिनवचनों से सार को ग्रहण कर लिया और विषयों से विरक्त हो गये हैं, जिनके तप ही धन है तथा धीर हैं ऐसे होकर मुनि शीलरूप जलसे स्नानकर शुद्ध हुए हैं वे सिद्धालय जो सिद्धोंके रहने का स्थान है उसके सुखों को प्राप्त होते हैं।

भावार्थः––जो जिनवचन के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर उसका सार जो अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति उसका ग्रहण करते हैं वे इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तप अंगीकार करते हैं–––मुनि होते हैं, धीर वीर बन कर परिषह उपर्सग आने पर भी चलायमान नहीं होते है तब शील जो स्वरूप की प्राप्ति की पूर्णतारूप चौरासी लाख उत्तरगुण की पूर्णता वही हुआ निर्मल जल उससे स्नान करके सब कर्ममल को धोकर सिद्ध हुए, वह मोक्ष मंदिरमें रहकर वहाँ परमानन्द अविनाशी अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख को भोगते हैं, यह शीलका महात्म्य है। ऐसा शील जिनवचन

જિનવચનનો ગ્રહી સાર, વિષયવિરક્ત ધીર તપોધનો,
કરી સ્નાન શીલસલિલથી, સુખ સિદ્ધિનું પામે અહો! ૩૮।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से प्राप्त होता है, जिनागम का निरन्तर अभ्यास करना उत्तम है।। ३८।।

आगे अंतसमय में संल्लेखना कही है, उसमें दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चार आराधना का उपदेश है ये भी शील ही से प्रगट होते हैं, उसको प्रगट करके कहते हैं:--

सव्वगुण खीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा।
पप्फोडियकम्मरवा हवंति आराहणापयडा।। ३९।।

सर्वगुणक्षीणकर्माण: सुखदु:खविवर्जिता: मनोविशुद्धः।
प्रस्फोटितकर्मरजस: भवंति आराधनाप्रकटा:।। ३९।।

अर्थ:--सर्वगुण जो मूलगुण उत्तरगुणों से जिसमें कर्म क्षीण हो गये हैं, सुख-दु:ख से रहित हैं, जिनमें मन विशुद्ध है और जिसमें कर्मरूप रज को उड़ा दी है ऐसी अराधना प्रगट होती है।

भावार्थ:--पहिले तो सम्यग्दर्शन सहित मूलगुण उत्तरगुणों के द्वारा कर्मोंकी निर्जरा होने से कर्म की स्थिति अनुभाग क्षीण होती है, पीछे विषयों के द्वारा कुछ सुख-दु:ख होता था उससे रहित होता है, पीछे ध्यान में स्थित होकर श्रेणी चढ़े तब उपयोग विशुद्ध हो, कषायों का उदय अव्यक्त हो तब सुख-दु:ख की वेदना मिटे, पीछे मन विशुद्ध होकर क्षयोपशम ज्ञानके द्वारा कुछ ज्ञेय से ज्ञेयान्तर होनेका विकल्प होता है वह मिटकर एकत्ववितर्क अविचार नामका शुक्लध्यान बारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है यह मनका विकल्प मिटकर विशुद्ध होना है।

पीछे घातिकर्म का नाश होकर अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं वह कर्मरज का उड़ना है, इसप्रकार आराधना की सम्पूर्णता प्रगट होना है। जो चरम शरीरी हैं उनके तो इसप्रकार आराधना प्रगट होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है। अन्यके आराधना का एक देश होता है अंत में उसका आराधन करके स्वर्ग प्राप्त होता है, वहाँ सागरो पर्यन्त सुख भोग वहाँ से चय कर मनुष्य हो आराधन को संपूर्ण करके मोक्ष प्राप्त होता है, इसप्रकार जानना, यह जिनवचन का और शील का महात्म्य है।। ३९।।

आराधनापरिणत सरव गुणथी करे कृश कर्मने,
सुखदु:ख रहित मनशुद्ध ते क्षेपे करमरूप धूलने। ३९।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

आगे ग्रंथको पूर्ण करते हैं वहाँ ऐसे कहते हैं कि ज्ञान से सर्व सिद्धि है यह सर्वजन प्रसिद्ध है, वह ज्ञान तो ऐसा हो उसको कहते हैं:---

अरहन्ते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसयविरागो णाणं पुणकेरिसं भणियं।। ४०।।

अर्हति शुभभक्तिः सम्यक्त्वं दर्शनेन सुविशुद्धं।
शीलं विषयविरागः ज्ञानं पुनः कीदृशं भणितं।। ४०।।

अर्थः--अरहंतों में शुभ भक्ति का होना सम्यक्त्व है, वह कैसा है? सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है तत्त्वार्थों का निश्चय-व्यवहारस्वरूप श्रद्धान और बाह्य जिनमुद्रा नग्न दिगम्बररूप का धारण तथा उसका श्रद्धान ऐसा दर्शन से विशुद्ध अतीचार रहित निर्मल है ऐसा तो अरहंत भक्तिरूप सम्यक्त्व है, विषयों से विरक्त होना शील है और ज्ञान भी यही है तथा इससे भिन्न ज्ञान कैसा कहा है? सम्यक्त्व शील बिना तो ज्ञान मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान है।

भावार्थः--यह सब मतों में प्रसिद्ध है कि ज्ञान से सर्वसिद्धि है और ज्ञान शास्त्रों से होता है। आचार्य कहते हैं कि---हम तो ज्ञान उसको कहते हैं जो सम्यक्त्व और शील सहित हो, ऐसा जिन मार्ग में कहा है, इससे भिन्न ज्ञान कैसा है? इससे भिन्न ज्ञान को तो हम ज्ञान नहीं कहते हैं, इनके बिना तो वह अज्ञान ही है और सम्यक्त्व व शील हो वह जिनागम से होते हैं। वहाँ जिसके द्वारा सम्यक्त्व शील हुए और उसकी भक्ति न हो तो सम्यक्त्व कैसे कहा जावे, जिके वचन द्वारा यह प्राप्त किया जाता है उसकी भक्ति हो तब जाने कि इसके श्रद्धा हुई और जब सम्यक्त्व हो तब विषयों से विरक्त होय ही हो, यदि विरक्त न हो तो संसार और मोक्ष का स्वरूप क्या जाना? इसप्रकार सम्यक्त्व शील के संबंध से ज्ञान की तथा शास्त्र की महिमा है। ऐसे यह जिनागम है सो संसार में निवृत्ति करके मोक्ष प्राप्त कराने वाला है, वह जयवंत हो। यह सम्यक्त्व सहित ज्ञान की महिमा है वही अंतमंगल जानना।। ४०।।

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत शीलपाहुड ग्रंथ समाप्त हुआ।

अर्हंतमां शुभ भक्ति श्रद्धा शुद्धियुत सम्यक्त्व छे,
ने शील विषय विरागता छे; ज्ञान बीजुं कयुं हवे? ४०।

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसका संक्षेप तो कहते आये कि----शील नाम स्वभाव का है। आत्माका स्वभाव शुद्ध ज्ञान दर्शमयी चेतनास्वरूप है वह अनादि कर्म के संयोग से विभावरूप परिणमता है। इसके विशेष मिथ्यात्व, कषाय आदि अनेक हैं इनको रागद्वेष मोह भी कहते हैं, इनके भेद संक्षेप से चौरासी लाख किये हैं, विस्तार से असंख्यात अनंत होते हैं इनको कुशील कहते हैं। इनके अभावरूप संक्षेप से चौरासी लाख उत्तरगुण हैं, इन्हें शील कहते हैं, यह तो सामान्य परद्रव्य के संबंध की अपेक्षा शील-कुशील का अर्थ है और प्रसिद्ध व्यवहार की अपेक्षा स्त्री के संग की अपेक्षा कुशील के अठारह हजार भेद कहें हैं, इनका अभाव शील के अठारह हजार भेद हैं, इनको जिनागम से जानकर पालना। लोक में भी शील की महिमा प्रसिद्ध है, जो पालते हैं स्वर्ग-मोक्ष के सुख पाते हैं, उनको हमारा नमस्कार है वे हमारे भी शील की प्राप्ति करो, यह प्रार्थना है।

❋ छप्पय ❋

आन वस्तु के संग राचि जिनभाव भंग करि;
वरतै ताहि कुशीलभाव भाखे कुरंग धरि!
ताहि तजैं मुनिराय पाप निज शुद्धरूप जल;
धोय कर्मरज होय सिद्धि पावै सुख अविचल।।

यह निश्चय शील सुब्रह्ममय व्यवहारै तिय तज नमै।
जो पालै सबविधि तिनि नमूं पाउं जिन भव न जनम मैं।।

❋ दोहा ❋

नमूं पंचपद ब्रह्ममय मंगलरूप अनूप।
उत्तम शरण सदा लहूं फिरि न परूं भवकूप।। २।।

इति श्री कुन्दकुन्दाचार्यस्वामिप्रणीत शीलप्रभृत की जयपुर निवासी
पं० जयचन्द्रजी छाबड़ाकृत देशभाषामय वचनिका का

हिन्दी भाषानुवाद समाप्त।। ८।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वचनिकाकार की प्रशस्ति

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत गाथाबद्ध पाहुडग्रंथ है, इसमें ये पाहुड हैं, इनकी यह देशभाषावचनिका लिखी है। छह पाहुड की तो टीका टिप्पण है। इनमें टीका तो श्रुतसागर कृत है और टिप्पण पहिले किसी ओर ने किया है। इनमें कइ गाथा तथा अर्थ अन्य प्रकार हैं, मेरे विचार में आया उनका आश्रय भी लिया है और जैसा अर्थ मुझे प्रतिभाषित हुआ वैसा लिखा है। लिंगपाहुड और शीलपाहुड इन दोनों पाहुड की टीका टिप्पण मिली नहीं इसलिये गाथाका अर्थ जैसा प्रति भास में आया वैसा लिखा है।

श्री श्रुतसागरकृत टीका अष्टपाहुड की है, उसमें ग्रन्थान्तर की साक्षी आदि कथन बहुत है वह उस टीका की वचनिका नहीं है, गाथा का अर्थमात्र वचनिका कर भावार्थ में मेरी प्रतिभासमें आया उसके अनुसार अर्थ लिखा है। प्राकृत व्याकरण ादि का ज्ञान मेरे में विशेष नहीं है इसलिये कहीं व्याकरण से तथा आगम से शब्द और अर्थ अपभ्रंश हुआ होतो बुद्धिमान पंडित मूलग्रंथ विचार कर शुद्ध करके पढ़ना, मुझे अल्पबुद्धि जानकर हँसी मत करना, क्षमा करना, सत्पुरुषों का स्वभाव उत्तम होता है, दोष देखकर क्षमा ही करते हैं।

यहाँ कोई कहे———तुम्हारी बुद्धि अल्प है तो ऐसे महान ग्रन्थ की वचनिका क्यों की? उसको ऐसा कहना कि इसकाल में मेरे से भी मंस बुद्धि बहुत हैं, उनके समझने के लिये की है। इसमें सम्यग्दर्शन को दृढ़ करने का प्रधान रूप से वर्णन है, इसलिये अल्प बुद्धि भी वाँचे पढ़ें अर्थ का धारण करें तो उनके जिनमत का श्रद्धान दृढ़ हो। यह प्रयोजन जानकर जैसा अर्थ प्रतिभास में आया वैसा लिखा है ओर जो बड़े बुद्धिमान हैं वे मूल ग्रन्थ को पढ़ कर ही श्रद्धान दृढ़ करेंगे, मेरे कोई ख्याति लाभ पूजा का तो प्रयोजन है नहीं, धर्मानुराग से यह वचनिका लिखी है, इसलिये बुद्धिमानों के क्षमा ही करने योग्य है।

इस ग्रन्थ के गाथा की संख्या ऐसे है———प्रथम दर्शनपाहुड की गाथा ३६। सूत्रपाहुडकी गाथा २७। चारित्रपाहुड की गाथा ४५। बोधपाहुडकी गाथा ६१। भावपाहुडकी गाथा १६५। मोक्षपाहुडकी गाथा १०६। लिंगपाहुडकी गाथा २२। शीलपाहुडकी गाथा ४०। ऐसे पाहुड आठोंकी गाथाकी संख्या ४०२ हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

❋ छप्पन ❋

जिनदर्शन निर्ग्रंथरूप तत्त्वारथ धारन,
सूनरजिनके वचन सार चारित व्रत पारन।
बोधजैन का जांनि आनका सरन निवारन,
भाव आत्मा बुद्ध मांनि भावन शिव कारन।

फुनि मोक्ष कर्मका नाश है लिंग सुधारन तजि कुनय।
धरि शील स्वभाव संवारनां आठ पाहुडका फल सुजय।।

❋ दोहा ❋

भई वचनिका यह जहाँ सुनो तास संक्षेप।
भव्यजीव संगति भली मेटै कुकरमलेप।। २।।

जयपुर पुर सुवस वसै तहाँ राज जगतेश।
लाके न्याय प्रतापतैं सुखी ढुढ्ढाहर देश।। ३।।

जैनधर्म जयवंत जग किछु जयपुरमैं लेश।
तामधि जिनमंदिर घणे तिनको भलो निवेश।। ४।।

तिनिमैं तेरापंथको मंदिर सुन्दर एव।
धर्मध्यान तामैं सदा जैनी करै सुसेव।। ५।।

पंडित तिनिमैं बहुत हैं मैं भी इक जयचंद।
प्रेर्‌या सबकै मन कियो करन वचनिका मंद।। ६।।

कुन्दकुन्द मुनिराजकृत प्राकृत गाथासार।
पाहुड अष्ट उदार लखि करी वचनिका तार।। ७।।

इहाँ जिते पंडित हुते तिनिनैं सोधी येह।
अक्षर अर्थ सु वांचि पढ़ि नहिं राखयो संदेह।। ८।।

तौऊ कछू प्रमादतैं बुद्धि मंद परभाव।
हीनाधिक कछु अर्थ है सोधो बुध सतभाव।। ९।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 003: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मंगलरूप जिनेन्द्रकूं नमस्कार मम होहु।
विघ्न टलै शुभबंध है यह कारन है मोहु।। १०।।

संवत्सर दस आठ सत सतसठि विक्रमताय।
मास भाद्रपद शुक्ल तिथि तेरसि पूरन थाय।। ११।।

इति वचनिकाकार प्रशस्ति।
जयतु जिनशासनम्।
शुभमिति।

समाप्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com